

सत्राची

A Peer Reviewed Research Journal

अंक 46, नं. 1 अक्टूबर-दिसम्बर, 2025



श्री सच्चिदानंद सिन्हा (1928-2025)

Kriti Shrivastava

ISSN : 2348-8425

सत्राजिती

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की पूर्व समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष 13, अंक 46, नं. 1, अक्टूबर-दिसम्बर, 2025

[विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) द्वारा पूर्व अनुमोदित]

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

संपादक
आनन्द बिहारी

समीक्षा संपादक
आशुतोष पार्थश्वर, सुचिता वर्मा

सह-संपादक
प्रवीण कुमार यादव, जयप्रकाश सिंह, हुस्न आरा

सहायक संपादक
सुशांत कुमार

सलाहकार समिति व समीक्षा मंडल

अनीता राकेश, सेवानिवृत्त प्रोफेसर, हिंदी विभाग, जे.पी.विश्वविद्यालय, छपरा।

मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, प्रोफेसर, शांति निकेतन, प.बंगाल।

पुष्पलता कुमारी, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, म.म.कॉ., पटना।

नीरा चौधुरी, प्रोफेसर, संगीत, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

अरविन्द कुमार, प्रोफेसर, संगीत, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

ब्रज बिहारी पांडेय, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, ओरिएंटल कॉलेज, पटना सिटी।

राजू रंजन प्रसाद, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास, मुजफ्फरपुर।

नीतु चौहान, सहायक प्राध्यापक, शिक्षा विभाग, पटना वीमेन्स कॉलेज, पटना

□□□

SATRAACHEE

A Peer Reviewed Research Journal

मूल्य : ₹ 250/-

सदस्यता शुल्क :

पंचवार्षिक	: 5,000 रुपए (व्यक्तिगत)
	: 10,000 रुपए (संस्थागत)
आजीवन	: 12,000 रुपए (व्यक्तिगत)
	: 20,000 रुपए (संस्थागत)

बैंक खाते का विवरण :

SATRAACHEE FOUNDATION,
A/c No. 40034072172, IFSC : SBIN0006551,
State Bank of India, Boring Canal Rd.-Rajapool,
East Boring Canal Road, Patna, Bihar, Pin: 800001

Google Pay: 9661792414

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

प्रकाशक : सत्राची फाउंडेशन, पटना

आवरण चित्र : कृति भारद्वाज

संपादकीय संपर्क :

आनन्द बिहारी

कला कुंज, दूसरा तल्ला

बाजार समिति रोड, बहादुरपुर, पटना, पिन : 800016

Website : <http://satraachee.com>

E-mail : satraachee@gmail.com

Mob. : 9661792414, 9470738162 (A.Bihari.)

: 9415256226 (Kamlesh Verma.)



SATRAACHEE

इस अंक में...

संपादकीय

05 :: कविता और आलोचना

- कमलेश वर्मा

आलेख

07 :: कबीर-काव्य की संवेदना और पुरुषोत्तम अग्रवाल

- दिनेश राम

20 :: कृष्ण कल्पित का 'कविता-रहस्य'

- कमलेश वर्मा

29 :: तीसरे जेंडर की अनकही दास्तान : पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा

- मधु मंजरी

38 :: छायावादी कविता में 'श्रांत'

- सुचिता वर्मा

44 :: प्रतिरोधी चेतना के कवि : सूरदास

- सत्येन्द्र प्रताप सिंह

51 :: भूमंडलीकरण और स्त्री : स्त्री-मुक्ति का प्रश्न

- आशुतोष कुमार

56 :: एक श्रेष्ठ भारत के निर्माण में सरदार पटेल की भूमिका

- एस.एन. वर्मा

63 :: चित्रा मुदगल के कथा-साहित्य में सामाजिक विसंगतियाँ

- सुधा देवी दीक्षित

71 :: उषाकिरण खान के ऐतिहासिक उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

- चित्तरंजन कुमार

77 :: लोक की परिधि में कबीर काव्य

- अरविंद कुमार

84 :: मुकलोम भाषा की लोक कथाओं में स्त्री-जीवन की अभिव्यक्ति

- मिजुम कारबाक

88 :: काशी का यथार्थ

- अरविंद

कामसेन तांगजांग, मिन्जू लोम्बी

मुजफ्फरपुर प्रसंग

93 :: गुमनाम लेखक प्रो. कामेश्वर शर्मा और दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि

- वीरेन नंदा

पूर्वोत्तर की लाली

102 :: कहाँ छुपे हो, हे न्याय के देवता!

- अभिषेक कुमार यादव

(जनजातीय जीवन और जोराम यालाम की कहानियाँ)

शोधालेख

113 :: साहित्य, इतिहास और अस्मितामूलक विमर्श

- पीयूष राज

117 :: हिंदी रंगमंच और स्त्री

- पूजा कुमारी

125 :: भारत का राष्ट्रीय आंदोलन और 'विशाल भारत' : सामाजिक
व राजनीतिक सरोकार

- नेहा कुमारी

डॉ. कुलभूषण शर्मा

130 :: सुरेंद्र स्निग्ध के संस्मरणात्मक आलेख तथा
रचनात्मक संघर्ष और सांस्थानिक उपेक्षाओं के प्रश्न

- पंकज कुमार चौधरी

- रमेश कुमार गुप्ता

139 :: मोन्या भाषा की समृद्ध लोककथाओं का समाज-सांस्कृतिक अनुशीलन

- पेमा छोइकी लामा

144 :: अरुणाचल प्रदेश की तागिन जनजाति में वैश्वीकरण और सांस्कृतिक संक्रमण

- कंचन दुई

प्रो. आशन रिद्धि, अनु. डॉ. अरविंद

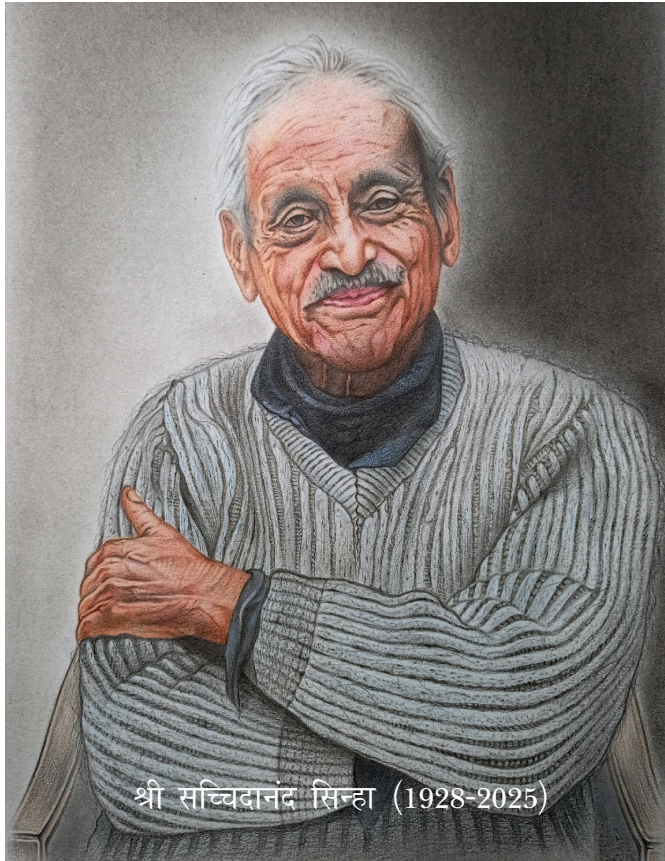
152 :: बुन्देलखण्ड की गीत-परंपरा में पर्यावरण

- पंकज मिश्रा

157 :: आर्य समाज और हिन्दी भाषा

- आकाश शंकर

आवरण चित्र



श्री सच्चिदानंद सिन्हा (1928-2025)

[सच्चिदा जी ने समाजवाद का जो संस्करण तैयार किया है उसमें विकेंद्रित लोकतंत्र, परिवेश के अनुकूल प्रौद्योगिकी, गैर-उपभोक्तावादी जीवन शैली, पर्यावरणीय टिकाऊपन और पूंजी के ऊपर श्रम बल की प्रधानता के लिए जगह है। - योनेंद्र यादव]

सच्चिदा बाबू समाजवादी चिंतक थे। उनके चिंतन में समाज को व्यवस्थित करने का सपना दिखाई पड़ता है। वे सदैव मानते रहे कि “समाज को एक निश्चित व्यवस्था देने के प्रयास में समाजवाद की उत्पत्ति हुई, जिसमें योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था स्थापित करने के प्रयास हुए।” वे यह भी मानते हैं कि समाज को व्यवस्थित रूप देने के जो प्रयास हुए, उसमें आपसी सहमति नहीं थी। इसके लिए अनेक रास्तों को अपनाया गया। फेबियनों ने एक रास्ता अपनाया तो दूसरा रास्ता मार्क्सवादियों का था। उसी तरह एक रास्ता भारतीयों के सामने भी था, जिसे गाँधीजी ने सुझाया था। पश्चिमी समाजवाद के सामने गाँधीजी ने एक बड़ी चुनौति उपस्थित कर दी। हिंसक बदलाव की जगह शांतिपूर्ण तरीके से आम जन के विचार में परिवर्तन लाते हुए सामाजिक संरचना में बदलाव लाना ही गाँधीवाद का लक्ष्य था। सच्चिदा बाबू गाँधी जी से इत्तेफाक रखते थे और भारतीय समाजवाद को उसी रास्ते पर ले जाना चाहते थे। उन्होंने गाँधीवाद को न केवल समर्थन दिया अपितु उसे अपने जीवन में भी उतारा। उन्होंने अपनी जरूरतें न्यूनतम रखीं और निरंतर चिंतन-मनन करते हुए एक के बाद एक पुस्तकें बनाते चले गए तथा पत्र-पत्रिकाओं में भी खूब लिखा। 18 वर्षों की बौद्धिक साधना के पश्चात सच्चिदा बाबू की दर्जनों पुस्तकें हिंदी और अंग्रेजी- दोनों भाषाओं में प्रकाशित हुईं। सच्चिदा बाबू के समस्त लेखन को संपादक अरविंद मोहन ने आठ खंडों में ‘सच्चिदानंद सिन्हा रचनावली’ नाम से संकलित व संपादित किया है, जिसका प्रथम संस्करण राजकमल प्रकाशन (2021) से प्रकाशित है।

कविता और आलोचना

हिन्दी कविता और आलोचना को लेकर इधर के वर्षों में कुछ चिंताएँ प्रकट की जा रही हैं। कविता के बारे में कहा जा रहा है कि अब कोई भी व्यक्ति कविता लिख लेता है। कविता की कोई कसौटी नहीं रह गयी है। कविता किसी भी तरह से लिखी जा सकती है। यह भी देखा जा रहा है कि बिना कोई कारण बताए कह दिया जा रहा है कि अमुक व्यक्ति कवि नहीं है। मैं उसे कवि नहीं मानता। ऐसे लोग भी हैं जो कभी-कभी कविता लिखते हैं। उनकी कविताएँ पत्रिकाओं में ज्यादा प्रकाशित भी नहीं होती हैं। लंबे अंतराल पर वे अपना संग्रह प्रकाशित करवाते हैं। हिन्दी में ऐसे लोग बहुत कम हैं जो अपना सर्वाधिक समय कविता की रचनाशीलता को देते हैं। एक साथ कई विधाओं में लिखनेवालों की पर्याप्त संख्या देखी जा रही है।

हिन्दी आलोचना के बारे में सामान्य मत यही है कि अब आलोचक बचे ही नहीं हैं। जब आलोचक ही नहीं हैं तो आलोचना कैसे लिखी जाएगी! आलोचना के नाम पर जो कुछ छप रहा है उसे ज्यादा ऊँचा दर्जा देने की जरूरत लोग नहीं समझ रहे हैं। रचनाकारों का मानना है कि पाठक हमारी कसौटी हैं। यदि हमारे पास पाठक हैं तो मान लेना चाहिए कि हमारा लिखा हुआ सार्थक है।

हिन्दी कथा साहित्य के बारे में कोई निराशा नहीं दिखती है। कहानी और उपन्यास खूब छप रहे हैं। पत्रिकाओं में कहानी को अच्छी खासी जगह मिलती है। यह भी नहीं कहा जाता है कि कोई भी व्यक्ति कथा साहित्य रच लेगा। यह भी सुनायी नहीं पड़ता कि मैं अमुक को कथाकार नहीं मानता!

कविता और आलोचना के पक्ष में कुछ बातें कहना चाहता हूँ। हिन्दी कविता के इतिहास को पढ़ते हुए हम इस बात से परिचित हैं कि द्विवेदी युग में इस बात पर जोर दिया गया कि हाथी से चींटी तक पर कविता लिखी जा सकती है। किसी भी विषय को कविता का विषय बनाया जा सकता है। उसी दौर में छंद को लेकर प्रयोग दिखने लगते हैं। बने-बनाए छंदों की जगह नये छंदों का निर्माण, दो-चार मात्रा घटाकर या बढ़ाकर छंद-रचना करना, छोटी और बड़ी पंक्तियों के बीच मात्रिक प्रवाह बनाकर अन्त्यानुप्रास का सहारा लेना आदि। ऐसा करते हुए मुक्त छंद की स्थिति मजबूत हुई। कवि को स्वतंत्रता मिली कि वह अपनी जरूरत के हिसाब से छंदों में प्रयोग कर सकता है। इन सबमें छंद का किसी न किसी रूप में अनुशासन बना हुआ था। इसके बाद स्थिति आयी छंदमुक्त होने की! कविता की पंक्तियों की बनावट किसी भी तरह से हो सकती थी। यही बनावट आज सर्वाधिक प्रचलित है।

ऊपर से देखने में लगता है कि कविता लिखना बहुत आसान काम है। अब बनावट पर किसी तरह की बहस नहीं हो सकती है। अब यह कोई नहीं कहेगा कि आपकी कविता की बनावट कविता की तरह नहीं है।

कवि का ध्यान अपने कथ्य और कथ्य को प्रस्तुत करने पर टिका रहता है। यही वह जगह है जहाँ समर्थ और असमर्थ कविता की पहचान होती है। समर्थ कविता अपने कथ्य को बेहतर ढंग से प्रस्तुत करती है। इसमें सक्रिय ढंग से काव्य-भाषा की भूमिका होती है। कविता की शैली इस भाषा की जान होती है। छंद के छूटने के बावजूद कविता लिखना एक चुनौतीपूर्ण काम है। कविता आज चाहे जितनी भी विचारात्मक और बौद्धिक मालूम पड़ती है, उसमें कविता बनने की क्षमता भाषा और शैली से आती है। नये विचार या बौद्धिकता के नये आयाम को अनेक कविताएँ प्रस्तुत करती हैं। मगर भाषा-शैली की काव्यात्मक बनावट के कारण ही वह रचना कविता बन पाती है। आस्वाद आज भी कविता की एक आवश्यक कसौटी है। इन बातों का ध्यान रखे बगैर अनेक कविताएँ लिखी जा रही हैं, इसलिए कविता के प्रति पाठकों की निराशा सामने आती है।

हिन्दी आलोचना काव्यशास्त्र से विकसित होती हुई विचारधारा, बौद्धिकता, विमर्श आदि से जुड़ती गयी। आज का आलोचक रचना की बनावट के आधार पर अपनी बातें कहने का प्रयास करता है। रचना के भीतर से कभी विचारधारा, कभी बौद्धिकता तो कभी विमर्श आदि की चुनौतियाँ आलोचक के सामने आती हैं। वह अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार इन पक्षों का चयन करता है और फिर विश्लेषण करता है। लोग चाहते हैं कि आज भी कोई एक आलोचक हो जो रामचंद्र शुक्ल या रामविलास शर्मा या नामवर सिंह की तरह सर्वमान्य हो! वह पूरे दौर की रचनाशीलता का मूल्यांकन करने की क्षमता रखता हो!

मुझे लगता है कि पूरे दौर की रचनाशीलता का मूल्यांकन किसी भी एक आलोचक के द्वारा न तो पहले संभव हुआ था और न आज ही संभव है। शुक्ल जी से भी कई रचनाकार और ऐतिहासिक पक्ष छूट गए थे। बाद के शोध उन पक्षों को लेकर आए। शुक्लजी हिन्दी क्षेत्र के किसी तरह के नवजागरण की चर्चा नहीं करते! उनके लेखन में 'जागरण' शब्द तो मिलता है मगर 'नवजागरण' शब्द नहीं मिलता है! रामविलास शर्मा अपने अंतिम दशकों की हिन्दी कविता पर कोई टिप्पणी नहीं करते थे। नामवर सिंह मूलतः हस्तक्षेपमूलक आलोचना के प्रणेता थे। उन्होंने व्यवस्थित ढंग से बहुत कम आलोचना लिखी। आलोचना इसी तरह से विकसित होती रही है। आलोचक को न्यायाधीश नहीं समझना चाहिए। उसके द्वारा किए गए मूल्यांकन हमेशा सही नहीं होते! महत्वपूर्ण आलोचकों को हम अपने समय की रचनाशीलता का न्यायाधीश समझने लगते हैं। यह एक अधूरी और अनैतिहासिक दृष्टि है। स्त्री और दलित रचनाशीलता के अनेक पक्ष उस दौर में भी सक्रिय थे जिनकी तरफ इन श्रेष्ठ आलोचकों का ध्यान नहीं गया। या कह सकते हैं कि इन्होंने उस तरह की रचनाशीलता को भविष्य के लिए महत्वपूर्ण नहीं माना! आलोचना पहले भी एक कोशिश की तरह लिखी जा रही थी और आज भी लिखी जा रही है। साहित्य के पक्षों में निरंतर विस्तार होता जा रहा है। उन सभी विस्तारों के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष को जानना किसी एक आलोचक के वश की बात नहीं है!

सादर

कमलेश वर्मा

कबीर-काव्य की संवेदना और पुरुषोत्तम अग्रवाल

दिनेश राम^{*}

अभी हाल ही में, प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने एक लंबी भूमिका के साथ बाबू श्यामसुंदर दास की 'कबीर ग्रन्थावली' का एक संशोधित और परिमार्जित पाठ निकाला है। इस में उन्होंने प्रामाणिक कबीर वाणी की खोज को लेकर एक महत्वपूर्ण बात लिखी है। उन्होंने लिखा है— “प्रामाणिकता निर्धारण के प्रतिमानों पर विस्तृत विवेचन का यह अवसर नहीं। इतना ही कहना काफी है कि कबीर-कृत कही गई रचनाओं की प्रामाणिकता विश्वसनीय ढंग से जाँचने की बुनियादी शर्त है— ऐतिहासिक विकास-क्रम, काव्य-संवेदना और भाषिक संरचना तीनों को ध्यान में रखते हुए तर्कसंगत विश्लेषण।”¹ बिल्कुल ठीक बात है। माना जाए कि उनकी इन शर्तों में एक शर्त विश्लेषणकर्ता की ईमानदारी स्वतः निहित है। तब, विश्लेषण के लिए तीन शर्तों में उनकी एक शर्त कबीर की काव्य संवेदना को लिया जाए। उन्होंने लिखा है— “हम कबीर के किसी सबद या साखी की भावना और उसमें निहित तर्क तक तो पहुँच सकते हैं, लेकिन उनके मुख से निकले शब्दों को ज्यों का त्यों (एजैक्टली) पाना हमारे लिए असम्भव है।”²

अब बात को आगे बढ़ाया जाए। जहाँ तक मुझे जानकारी है, प्रामाणिक रचनाओं की खोज में किसी विद्वान ने, 'कबीर के मुख से निकले हुए शब्दों को ज्यों का त्यों पाने की', शर्त नहीं रखी है। खासकर, हमारे समय में कबीर वाणी में प्रक्षिप्त रचनाओं की बात उठाने वाले दिवंगत डॉ. धर्मवीर ने तो बिल्कुल नहीं। आखिर, कोई विद्वान ऐसी बेसिर-पैर की बात कैसे सोच सकता है? बेसिर-पैर का काम हाथ में लिया जाएगा तो उसे करना असंभव ही होगा। सवाल, केवल कबीर की प्रामाणिक रचनाओं को ढूँढ़ने का है, न कि उनके मुख से निकले हुए शब्दों को ज्यों का त्यों पाने का। और, इसका एक सरल तरीका है— अगर कबीर की रचनाओं में से प्रक्षिप्त रचनाओं को ढूँढ़ कर बाहर निकाल दिया जाए तो प्रामाणिक रचनाएँ अपने आप मिल जाएँगी—और यह काम असंभव नहीं है।

ऐसे में, मूल बात कबीर के मुख से निकली हुई वाणियों के ज्यों का त्यों पाने का नहीं, बल्कि कबीर के काव्य की मूल संवेदना को पकड़ने का है। अगर यह पकड़ में आ गई तो भाषिक संरचना का मर्म और मंतव्य दोनों समझ में आ जाएगा। फिर, प्रामाणिक रचनाएँ क्या—उनका ऐतिहासिक विकास क्रम भी पकड़ में आ जाएगा। लेकिन यह बिना शर्तों के नहीं है। इसकी मुख्य दो शर्तें हैं। एक, यह कि कबीर के काव्य का एक

^{*} प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, मो. 7303922556

निश्चित 'रेफरेंस प्वाइंट' है, बिना इसको जाने उसकी संवेदना पकड़ में नहीं आनी है और दो, यह कि यह प्वाइंट ब्राह्मण धर्म की सामाजिक और दार्शनिक शब्दावली से बाहर है। कबीर की 'न हिन्दू न मुसलमान'³ होने की जो मूल संवेदना है, वह इन्हीं दो भाव-विचारों से बनी है। यह एक मेथेडोलोजी है जिसके तहत कबीर की प्रामाणिक रचनाओं को ढूँढ़ा जाना है।

II

अब, विषय पर आया जाए और देखा जाए कि कबीर के एक सबद के संशोधन, परिमार्जन और व्याख्या के क्रम में प्रो. अग्रवाल ने क्या किया है। सवाल है, क्या वे उसकी संवेदना को पकड़ पाए हैं? प्रो. अग्रवाल ने अपनी किताब में सद्गुरु कबीर के जिस सबद को लिया है, वह डा. माताप्रसाद गुप्त की 'कबीर ग्रन्थावली' में संकलित है। डा. गुप्त ने यह पद बाबू श्यामसुंदर दास की 'कबीर ग्रन्थावली' से लिया है और उसकी व्याख्या की है। प्रो. अग्रवाल ने संशोधन के लिए इस पद की कुछ पंक्तियाँ ली हैं जो इस प्रकार हैं :

और मरत का रोइए, जो आपां थिर न रहाइ।
जो उपज्या सो बिनसिहै, ताथैं दुख करि मरै बलाइ।
जहाँ उपज्या तहाँ ठिर रच्या रे, पीवत मरद न लाग।
कहै कबीर चित चेतिया, ताथैं राम सुमिरि बैराग।⁴

ये उद्धृत पद की कुछ चयनित पंक्तियाँ हैं, पूरा पद नहीं। इनके ऊपर तीन पंक्तियाँ और हैं जिन्हें आगे रखा जाएगा। यहाँ उद्धृत तीसरी पंक्ति की बाद वाली अर्द्धाली में आए 'मरद न' शब्द के बारे में प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने लिखा है—“लेकिन डा. गुप्त ने भी राग गौड़ी के पद 75 में सभा संस्करण की ही तरह मरद या मृद न को मरदन पढ़ कर अत्यन्त भ्रामक अर्थ किया है।”⁵ आगे, उदाहरण के रूप में उन्होंने उनके मरदन वाली अर्द्धाली—‘पीवत मरद न लाग’ के भ्रामक अर्थ को इस प्रकार रखा है— “जिस स्तन का मनुष्य पान करता है, उसी का मरदन करने लगता है।”⁶

फिर, पूरी पंक्ति—‘जहाँ उपज्या तहाँ फिर रच्या रे, पीवत मरद न लाग’ का सही अर्थ निकालते हुए उन्होंने लिखा है— “शब्द असल में है मर्द या मृद, जिसका आशय है मृत्यु। आगे-पीछे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कहा यह जा रहा है कि जिसका जन्म हुआ, उसका विनाश भी होना ही है, इसमें दुख क्या करना? लोग जन्म लेते हैं, मुक्ति के प्रयत्न करने की बजाए अपने कर्मों के कारण अपना पुनरागमन स्वयं रचते हैं, लेकिन जो राम-रस पी लेते हैं, उन्हें मृत्यु लगती नहीं है, वे आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।”⁷

अंत में, अपनी टिप्पणी में प्रो. अग्रवाल ने लिखा है—“गलत ढंग से पढ़े जाने का स्वाभाविक परिणाम है गलत व्याख्या—आवागमन से मुक्ति के स्थान पर स्तन-पान और कूच-मर्दन।”⁸ डा. अग्रवाल की बात बिल्कुल सही है। पद को सही ढंग से पढ़ा भी जाना है और उसका सही अर्थ भी किया जाना है। लेकिन क्या प्रो. अग्रवाल ने ऐसा किया है या उनसे हो पाया है? ‘पीवत मरद न लाग’ के पहले की अर्द्धाली, ‘जहाँ उपज्या तहाँ फिर रच्या रे’ है। प्रो. अग्रवाल ने इस पूरी पंक्ति का अपना अर्थ इस प्रकार किया है— “लोग जन्म लेते हैं, मुक्ति के प्रयत्न करने की बजाए अपने कर्मों के कारण अपना पुनरागमन स्वयं रचते हैं, लेकिन जो राम-रस पी लेते हैं, वे आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।”⁹

देखा जा सकता है, प्रो. अग्रवाल ने इस पंक्ति का जो अर्थ किया है वह कर्म, आवागमन और उससे मुक्ति से जुड़ा हुआ है। बताना है कि यह शब्दावली ‘पुनर्जन्म के दर्शन’ की है। इसमें ‘नित्य आत्मा’, ‘कर्मफल’, ‘पुनर्जन्म’, ‘वर्णव्यवस्था’, ‘छुआछूत’, ‘स्वर्ग-नरक’ और ‘मोक्ष’ आदि शब्द आते हैं। ‘पुनर्जन्म के दर्शन’ की

शब्दावली का यह पूरा पैकेज है। ये एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं। ‘पुनर्जन्म के दर्शन’ से जुड़ कर ही अपना अर्थ देते हैं। सवाल है, प्रो. अग्रवाल द्वारा किया गया अर्थ—तार्किक विश्लेषण और संवेदना की दृष्टि से कितना संगत है? इसके उत्तर पर आने से पहले देखा जाए कि डॉ. माताप्रसाद गुप्त सहित कुछ अन्य विद्वानों ने इसका क्या अर्थ किया है।

सबसे पहले, डा. माताप्रसाद गुप्त के पूरे पद को लिया जाए और देखा जाए कि उन्होंने इसका क्या अर्थ किया है। डॉ. गुप्त की ‘कबीर ग्रन्थावली’, जिसका संस्करण वर्ष 1969 और 2019 का है, में पूरा पद इस प्रकार आया है :

राम रस पाईया रे। ताथै बिसरि गये रस और॥ टेक॥
रे मन तेरा को नहीं, खैचि लेइ जिनि भार।
बिरखि बसेरा पंषि का, ‘ऐसा माया जाल’॥
और मरत का रोइए, जो आपां थिर न रहाइ।
जो उपज्या सो बिनसिहै, ताथै दुख करि मरै बलाइ॥
जहां उपज्या तहां फिरि रच्या रे, पीवत मरदन लाग।
कहै कबीर चित चेतिया, ताथै राम सुमिरि बैराग ॥ 75॥¹⁰

डा. माताप्रसाद गुप्त ने इस पद का अर्थ किया है— “मैंने राम-रस पाया (पिया) है, इससे अपर रस विस्मृत हो गए हैं। हे मन, तेरा कोई नहीं है, खींच कर (उनका) भार न ले। जिस प्रकार वृक्ष पर पक्षियों का बसेरा होता है, उसी प्रकार का यह माया जाल है। अपर (अन्य) के मरते हुए क्या रोया जाए, जबकि अपने आप को भी थिर नहीं रहना है? जो उत्पन्न हुआ है वह विनष्ट होगा ही, अतः उसके लिए दुःख कर (मेरी) बला मरो। जहां (जिस अंग) से मनुष्य उत्पन्न होता है, उसी पर पुनः वह राचता (आसक्त) होता है जिस (स्तन का) वह पान करता है, उसी का वह मर्दन करने लगता है। कबीर कहता है, तू चित्त में चेत गया है, इसलिए, हे विरागी, तू राम का स्मरण कर।”¹¹

देखा जा सकता है, इसमें प्रो. अग्रवाल ने कथित पंक्ति—‘जहाँ उपज्या तहाँ फिर रच्या रे, पीवत मरद न लाग’ का जो सही अर्थ ‘पुनर्जन्म के दर्शन’ से जोड़कर किया है, वह माताप्रसाद गुप्त के द्वारा किये गए अर्थ से मेल नहीं खाता। उन्होंने इसे कहीं से भी पुनर्जन्म के दर्शन से नहीं जोड़ा है। लेकिन हाँ, उन्होंने कई अर्द्धालियों का भ्रामक और असहज कर देने वाला अर्थ जरूर किया है। ठीक है, प्रो. अग्रवाल ने यहाँ अपने ढंग से इसका संशोधन और परिमार्जन कर दिया है। लेकिन क्या किसी अन्य विद्वान ने वह अर्थ निकाला है जो डॉ. अग्रवाल ने निकाला है, या कि उन्होंने डा. माताप्रसाद गुप्त के अर्थों को ही आगे बढ़ाया है।

III

इस समय मेरे पास अलग-अलग ‘कबीर ग्रन्थावली’ के तीन संग्रह हैं जिनमें पद के साथ उनका अर्थ और व्याख्या दी गई है। पहला, ‘कबीर समग्र’ जिसका संपादन युगेश्वर ने किया है और जिसका संस्करण सन् 2001 का है। दूसरा, ‘सटीक कबीर ग्रन्थावली’ है जिसका संपादन रामकिशोर शर्मा ने किया है और जिसका संस्करण वर्ष 2001 और 2023 का है। तीसरा ‘कबीर ग्रन्थावली’ जिसका संपादन कमलापति पांडेय ने किया है। इसका संस्करण वर्ष सन् 2021 का है।

पहले ‘कबीर समग्र’ में आए पद, उसके अर्थ और उसकी व्याख्या को लिया जाए। युगेश्वर ने ‘कबीर समग्र’ में पद इस प्रकार दिया है :

राम रस पाईया रे, ताथै बिसरि गये रस और।
 रे मन तेरा को नही, खैचि लेइ जिनि भार।
 बिरषि बसेरा पंषि का, ऐसा माया जाल॥
 और मरत का रोइए, जो आपा थिर न रहाइ।
 जो उपज्या सो बिनसिहै, ताथै दुख करि मरै बलाइ।
 जहां उपज्या तहाँ फिरि रच्या रे, पीवत मरदन लाग।
 कहै कबीर चित चेतिया, ताथैं राम सुमरि बैराग॥¹²

युगेश्वर ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है— “भक्त राम रस पाकर अन्य सांसारिक रस को भूल गया। ऐ मन, संसार में तुम्हारा कोई नहीं है। तुम अपने को सांसारिक बोझ से अलग रखो या जो तुम्हारा सांसारिक बोझ खींच सके ऐसा कोई नहीं है। यह संसार वृक्ष है। तुम इस पर बसने वाले पक्षी हो। माया जाल पक्षी को फंसाने के लिए है। दूसरे को मरते देख क्यों रोते हो? तुम्हें भी तो मरना होगा। जो पैदा हुआ है उसका नाश होना है। इसलिए रोना व्यर्थ है। जैसे ही पैदा हुए माता के स्तन को पीते हुए उसका मर्दन करते हैं। अब चेत जाओ राम का स्मरण करो। संसार से विराग ग्रहण करो।”¹³

देखा जा सकता है, इसमें भी प्रो. अग्रवाल के ‘पुनर्जन्म के दर्शन’ वाली व्याख्या से इसकी कोई संगति नहीं बैठती। इन्होंने डॉ. माताप्रसाद गुप्त के द्वारा किए गए अर्थों को ही आगे बढ़ाया है। युगेश्वर ने उद्धृत पद और अपनी व्याख्या में अनुस्वारों का प्रयोग नहीं किया है। शब्द के शब्द बिना अनुस्वार के चले गए हैं। हो सकता है, यह उस समय की छपाई की समस्या रही हो। जो भी हो, यह असावधानी है जो नहीं होनी चाहिए थी।

अब, रामकिशोर शर्मा द्वारा उद्धृत पद और उसके अर्थ को लिया जाए जिसे उन्होंने अपनी ‘कबीर ग्रन्थावली’ में इस प्रकार दिया है :

रौं रसु पीआ रे। तातैं बिसरि गए रस और॥
 रे मन तेरौ कोइ नहीं, खैचि लेइ जिनि भार॥
 बिरखि बसेरौ पंखि कौ, तैसौ यहु संसार॥
 और मुएँ का रोइए, जउ आपा थिरु न रहाइ।
 जो उपजा सो बिनसिहै, दुख करि रोवै बलाइ॥
 जहँ की उपजी तहँ रची, पीवत मरदन लाग॥
 कहै कबीर चित चेतिया, राम सुमिरि बैराग॥¹⁴

रामकिशोर शर्मा ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है— “मैंने राम रस का पान किया तो अन्य रसों को भूल गया। हे मन! इस संसार में तेरा कोई नहीं है, तू व्यर्थ ही ममता का भार वहन कर रहा है। जैसे वृक्ष पक्षियों के बसने का स्थान है उसी तरह यह संसार भी प्राणियों का रैन बसेरा है। दूसरे के मरने पर क्या रोना जब व्यक्ति स्वयं स्थिर नहीं है। जो उत्पन्न होता है वह विनष्ट होता है, दुखी होकर रोना व्यर्थ है (इस पर मेरी बलाय दुख करे) ज्यों ही जीव संसार में पैदा होता है त्यों ही उस पर अनुरजित हो जाता है और विषय रस का पान करते हुए मर्दित होता है। कबीर कहते हैं कि चित्त में चेतना आ गयी है इसलिए विरक्त होकर राम का सुमिरन करना है।”¹⁵

देखा जा सकता है, राम किशोर शर्मा ने भी इस पद के अर्थ को ‘कर्मफल’ और ‘पुनर्जन्म के दर्शन’

से नहीं जोड़ा है। इन्होंने भी डॉ. माताप्रसाद गुप्त द्वारा किए गए अर्थों को ही आगे बढ़ाया है।

अब, तीसरे विद्वान कमलापति पांडेय के पद और अर्थ को लिया जाए जिसे उन्होंने अपनी ग्रन्थावली में इस प्रकार रखा है :

राम रस पीआ रे, ताथैं बिसरि गये रस और।
रे मन तेरौ कोई नहीं, खींचि लेइ जिनि भार॥
बिरषि बसेरा पंषि का, ऐसो यह संसार॥
और मरत का रोइए, जो आपा थिर न रहाइ।
जो उपज्या सो बिनसिहै, दुख करि रोवै बलाइ॥
जहाँ उपजी तहाँ फिरि रची, पीवत मरदन लाग।
कहै कबीर चित चेतिया, ताथैं राम सुमरि बैराग॥¹⁶

कमलापति पांडेय ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है— “मैंने राम रस पी लिया जिसके कारण मैं और रसों को भूल गया। हे मन! तेरा कोई नहीं है, इसलिए स्वयं दौड़कर बलात् भार मत लो। (या कोई नहीं है जो तुम्हारा भार हल्का कर सके, अपने ऊपर ले ले, तुम्हीं को ढोना है) यह संसार तुम्हारे लिए वैसे ही थोड़े समय का बसेरा है जैसे पक्षियों के लिए वृक्ष। दूसरे के मरने पर क्या रोया जाए, जब अपना ही शरीर स्थिर नहीं है। जब स्वयं भी मरना है जो पैदा होगा वह नष्ट भी होगा। अतः दुखी होकर रोना व्यर्थ है या दुखी होकर मेरी बला रोए, मैं नहीं रोने वाला। (माया)—जिसमें उपजती है, उसी को अच्छी लगने लगती है और उसका स्वाद लेते ही पीने वाले को मसलने लगती है। कबीर कहते हैं कि चित्त! हे मन! चेत जा! राग रहित होकर राम का सुमिरन करा।”¹⁷

देखा जा सकता है, इसमें भी थोड़े बहुत वाक्य गठन के अंतर के साथ पिछली दोनों व्याख्याओं को ही आगे बढ़ाया गया है। कहने का मतलब है, उपरोक्त तीनों व्याख्याओं का प्रो. अग्रवाल की व्याख्याओं से कोई मेल नहीं है। इनमें केवल डॉ. माताप्रसाद गुप्त की व्याख्याओं को ही आगे बढ़ाया गया है। तब, सवाल है, इसमें विद्वान प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने संशोधन के नाम पर क्या कर दिया है!

IV

अब दोनों पदों के मूल स्रोत पर आया जाए जहाँ से उपरोक्त व्याख्याकारों ने इसे लिया है। उपरोक्त दोनों पदों के दो मूल स्रोत हैं। एक, बाबू श्यामसुंदर दास की ‘कबीर ग्रन्थावली’ जो सन् 1928 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा से छपी थी—और दो, डॉ. पारसनाथ तिवारी की ‘कबीर ग्रन्थावली’ जो सन् 1961 ई. में प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग से छपी थी। इन दोनों स्रोतों में यह पद कुछ अंतर के साथ आया है। यानि, इनमें कुछ शब्द और अर्द्धालियों में अंतर देखने को मिलता है। इनकी तुलना और विश्लेषण आगे किया जाएगा। अभी दोनों पदों को पाठकों के सामने रखा जाए।

डॉ. माताप्रसाद गुप्त और युगेश्वर ने यह पद बाबू श्यामसुंदर दास की ‘कबीर ग्रन्थावली’ से लिया है जो निम्न है :

राम रस पाईया रे, ताथैं बिसरि गये रस और॥ टेक॥
रे मन तेरा को नहीं, खींचि लेइ जिनि भार।
बिरषि बसेरा पंषि का, ऐसा माया जाल॥
और मरत का रोइए, जो आया थिर न रहाइ।

जो उपजा सो बिनसिहै, ताथैं दुख करि मरै बलाइ॥
जहाँ उपज्या तहाँ फिरि रच्य़ा रे, पीवत मरदन लाग।
कहै कबीर चित चेतिया ताथैं राम सुमिरि बैराग॥¹⁸

डा. माताप्रसाद गुप्त और युगेश्वर दोनों के द्वारा उद्धृत किया गया पद और बाबू श्यामसुंदर दास के मूल पद में एक शब्द का अंतर है। बाबू श्यामसुंदर दास के पद की चौथी पंक्ति की बाद वाली अर्द्धाली—‘जो आया थिर न रहाइ’ में ‘आया’ शब्द आया है। लेकिन डा. गुप्त के पद में ‘आपां’ और युगेश्वर के पद में ‘आपा’ शब्द आया है। यह त्रुटि के चलते हो गया है या इसमें संशोधन कर दिया गया है, पता नहीं। जैसा कि पहले बताया गया है कि युगेश्वर ने कई शब्दों में अनुस्वारों का प्रयोग नहीं किया है—जैसे ‘ताथैं’ की जगह पर ‘ताथै’ और ‘खैंचि’ की जगह पर ‘खैचि’ आदि। उन्होंने पद की जो व्याख्या की है उसमें भी कई जगहों पर शब्दों में अनुस्वारों का प्रयोग नहीं किया है।

इसी तरह, कमलापति पांडेय और रामकिशोर शर्मा ने अपने पद को डॉ. पारसनाथ तिवारी की ‘कबीर ग्रन्थावली’ से लिया है जो निम्न है :

राम रसु पीआ रे, तातैं बिसरि गए रस और॥ टेक॥
रे मन तेरौ कोइ नहीं, खैंचि लेइ जिनि भार।
बिरखि बसेरौ पंखि कौ, तैसौ यहु संसार॥
और मुएं का रोइअै, जउ आपा थिरु न रहाइ।
जो उपजा सो बिनसिहै, दुख करि रोवै बलाइ॥
जहं की उपजी तहं रची पीवत मरदन लाग।
कहै कबीर चित चेतिया राम सुमिरि बैराग॥¹⁹

राम किशोर शर्मा और कमलापति पांडेय ने जो पद उद्धृत किया है उनमें और डॉ. पारसनाथ तिवारी के पद में भी अंतर है। राम किशोर शर्मा के पद की चौथी पंक्ति की पहली अर्द्धाली में ‘फिरी’ शब्द आया है लेकिन डॉ. पारसनाथ तिवारी के पद में यह शब्द नहीं है। कमलापति पांडेय ने अपने पद को तो डॉ. पारसनाथ तिवारी की ग्रन्थावली से लिया है लेकिन वर्तनियों में हेर-फेर कर दिया है। ‘तातैं’ की जगह पर ‘ताथैं’, ‘थिरु’ की जगह पर ‘थिर’ ‘भारु’ की जगह पर ‘भार’, ‘तैसौ यहु संसारु’ की जगह पर ‘ऐसो यह संसार’ आदि कर दिया है।

कहना यह है कि इन व्याख्याकारों ने अर्थ को बैठाने या लिपियों के आधुनिक रूप को देने के क्रम में अपने मूल पदों के साथ थोड़ा-बहुत फेर-बदल किया है। बावजूद इसके, ये व्याख्याकार कबीर की मूल संवेदना को पकड़ने में चूक गए हैं। इसलिए, इनसे कथित पद की भाषिक संरचना अंतिम रूप से दुरुस्त नहीं हो पायी है। प्रक्षिप्त भाषिक संरचना से कबीर की मूल संवेदना तक नहीं पहुँचा जा सकता। लेकिन मूल संवेदना को पकड़ने से प्रक्षिप्त भाषिक संरचना तक पहुँचा जा सकता है।

VI

अब देखा जाए कि मूल स्रोत के पदों में भी कुछ शब्दों की वर्तनियों और अर्द्धालियों में अंतर है। अब, समझने के लिए मूल स्रोत के रूप में प्रयोग किए गए बाबू श्यामसुंदर दास और डॉ. पारसनाथ तिवारी के पदों को आमने-सामने रख कर देखा जाए। समझने के लिए बाबू श्यामसुंदर दास के पद को ‘क’ और डॉ. पारसनाथ तिवारी के पद को ‘ख’ मान लिया जाए।

(क)

(ख)

रांम रस पाईया रे = रांम रसु पीआ रे
ताथैं बिसरि गये रस और = तातैं बिसरि गए रस और
रे मन तेरा को नहीं = रे मन तेरौ कोइ नही
खैंचि लेइ जिनि भार = खैंचि लेइ जिनि भार
बिरषि बसेरा पंषि का = बिरखि बसेरौ पंखि का
ऐसा माया जाल = तैसौ यहु संसारु
और मरत का रोइए = और मुएं का रोइअै
जो आया थिर न रहाइ = जउ आपा थिरु न रहाइ
जो उपजा सो बिनसिहै = जो उपजा सो बिनसिहै
ताथैं दुख करि मरै बलाइ = दुख करि रोवै बलाइ
जहाँ उपज्या तहाँ फिरि रच्या रे = जहं की उपजी तहं रची
पीवत मरदन लाग = पीवत मरदन लाग
कहै कबीर चित चेतिया = कहै कबीर चित चेतिआ
ताथैं राम सुमरि बैराग = रांम सुमिरि बैराग

बाबू श्यामसुंदर दास ने जो पद दिया है उसकी पहली पंक्ति की पहली अर्द्धाली में 'पाईया' शब्द और वहीं डॉ. पारसनाथ तिवारी के पद में 'पीआ' शब्द आया है। यानि, पद 'क' में 'पाईया' और पद 'ख' में 'पीआ' शब्द आया है। पद 'क' की दूसरी पंक्ति की पहली अर्द्धाली में 'ताथैं' शब्द और उसी जगह पर पद 'ख' में 'तातैं' शब्द आया है और पद 'क' की आठवीं पंक्ति की पहली अर्द्धाली में 'आया' शब्द आया है तो उसी जगह पर पद 'ख' में 'आपा' शब्द आया है।

इसी तरह, इन पदों की तीन अर्द्धालियों में अंतर है। बाबू जी के पद की छठवीं पंक्ति में 'ऐसा माया जाल' की जगह पर डॉ. तिवारी के पद में 'तैसौ यहु संसारु', आया है। पद 'क' की दसवीं पंक्ति में 'ताथैं दुख करि मरै बलाइ' की जगह पर पद 'ख' में 'दुख करि रोवै बलाइ' आया है, पद 'क' की ग्यारहवीं पंक्ति में 'जहाँ उपज्या तहाँ फिरि रच्या रे' की जगह पर पद 'ख' में 'जहं की उपजी तहं रची' आया है। इसी तरह, पद 'क' की अंतिम पंक्ति की दूसरी अर्द्धाली में 'ताथैं राम सुमरि बैराग' आया है, तो पद ख में उसी जगह पर 'राम सुमिरि बैराग' आया है।

VII

देखा जा सकता है, इनमें वर्तनियों के अंतर को लेकर कोई बड़ी समस्या नहीं है—जैसे, बाबू श्यामसुंदर के पद में 'पाईया' और डॉ. पारसनाथ तिवारी के पद में 'पीआ' शब्द। इसे आसानी से समझा जा सकता है। यहाँ अर्थ निकालने की दृष्टि से कोई समस्या नहीं है। लेकिन 'पाईया' की जगह पर 'पीआ' शब्द ज्यादा सही बैठता है। रस तो पीआ ही जाता है। यहाँ रस के साथ पीने की संगति बैठती है। डॉ. पारसनाथ तिवारी ने अपने पद में संशोधित कर के 'पीआ' शब्द ही रखा है, लेकिन दादूपंथी और निरंजन पंथी शाखाओं के पदों में, जहाँ से उन्होंने इसे लिया है, उसमें 'पाईया'²⁰ शब्द ही आया है। इसी तरह, बाबू श्यामसुंदर दास के पद में 'आया' शब्द आया है और डॉ. पारसनाथ तिवारी के पद में 'आपा' शब्द आया है। इस शब्द के बारे में डॉ. पारसनाथ तिवारी ने अपनी ग्रन्थावली में अलग से कुछ नहीं बताया है। इस पंक्ति की पहली अर्द्धाली को देखते हुए यहाँ

‘आया’ की जगह पर ‘आपा’ या आपां शब्द सही बैठता है। इसकी पूरी पंक्ति है—‘और मुएं का रोइअै’, जउ आपा थिरु न रहाइ’, अर्थात् औरों के मरने पर क्या रोना जब खुद ही स्थिर नहीं हैं। पहली अर्द्धाली में ‘और’ के आ जाने से ‘आपा’ का अर्थ उसके अनुरूप बैठ जाता है। प्रो. अग्रवाल ने जो पद उद्धृत किया है उसमें ‘आपा’ की जगह पर ‘आपां’ शब्द आया है। डा. माताप्रसाद गुप्त की ‘कबीर ग्रन्थावली’ के पद में ‘आपां’ शब्द ही है। कबीर जिस क्षेत्र से आते हैं वह भोजपुरी का क्षेत्र है। भोजपुरी में ‘आप’ शब्द नहीं चलता। ‘आपा’ का एक अर्थ गर्व भी होता है। यहाँ अर्थ की स्पष्टता की दृष्टि से ‘आपा’ शब्द की तुलना में ‘आपां’ शब्द ज्यादा सही लगता है। अनुस्वार लगा कर ‘आप’ से ‘आपऊँ’ शब्द बनता ही है।

बाबू श्यामसुंदर दास ने अपने पद में ‘ऐसा माया जाल’ रखा है। पूरी पंक्ति इस प्रकार है— ‘बिरषि बसेरा पंषि का, ऐसा माया जाल’, वहीं डॉ. पारसनाथ तिवारी के पद में इसकी जगह पर ‘तैसौ यह संसारु’ आया है। उनकी पूरी पंक्ति है— ‘बिरखि बसेरौ पंखि का, तैसौ यह संसारु’। अगर बाबू श्यामसुंदर दास की पहली पंक्ति— ‘राम रस पाईया रे, ताथैं बिसरि गये रस और’ को टेक की पंक्ति मान लिया जाए तो उसके बाद कुल दो-दो लाइन की पंक्तियाँ बनती हैं। एक पंक्ति ‘बिरषि बसेरा पंषि का, ऐसा माया जाल’ की बनती है और दूसरी, ‘रे मन तेरा को नहीं, खैंचि लेइ जिनि भार’ की बनती है। क्रम में दूसरी वाली पंक्ति पहले आयी है और पहले वाली बाद में। ये इस प्रकार हैं—रे मन तेरा को नहीं, खैंचि लेइ जिनि भार। बिरषि बसेरा पंषि का, ऐसा माया जाल॥

देखा जा सकता है, पहली पंक्ति की दूसरी अर्द्धाली के अंत में ‘जिनि भार’ आया है और दूसरी पंक्ति की दूसरी अर्द्धाली के अंत में ‘माया जाल’ आया है। सामान्य तुक की दृष्टि से यह पंक्ति सही नहीं बैठती। अर्थ की दृष्टि से भी यह सही नहीं बैठती। इसमें कहा यह जा रहा है कि वृक्ष केवल पंक्षी का बसेरा भर होता है। उसका स्थायी निवास नहीं। एक दिन उसे उड़ जाना होता है। उसी तरह यह संसार है। यह संसार भी मनुष्यों का स्थायी निवास नहीं है, उन्हें भी एक दिन चले जाना है। इसमें माया और उसका जाल कहाँ से आ गया? घर-गृहस्थी में ‘जी का जंजाल’ शब्द चलता है ‘मायजाल’ का नहीं।

सवाल है, कबीर संसार को ‘माया-जाल’ कैसे कह सकते हैं, जब वह वैराग्य और विरक्ति से जुड़कर आया हो। वे गृहस्थ हैं। वे सांसारिक व्यक्ति हैं। उनके लिए “घर में जोग भोग घर ही में”²¹ है। वे इससे विरक्त कैसे हो सकते हैं? तब वे इसे माया भी कैसे कह सकते हैं? यह तो संन्यासियों की भाषा है, गृहस्थों की नहीं। गृहस्थों का संबंध राग और विराग से है। लोभ और मोह से है, ‘माया जाल’ के वैराग्य और विरक्ति से नहीं। कबीर ने कहा है, “लोभ मोह के खम्भा दोऊ, मन से रच्यो हिंडोल।”²² गृहस्थों का आदर्श राग और विराग से मुक्त जीवन जीने का है। उससे भागने का नहीं। ऐसा जीवन जीने वाले घरबारी को लोग वैरागी कहते हैं। अगर कबीर के लिए माया का कोई अर्थ है तो इतना ही कि लोभ और मोह की हर वह प्रवृत्ति जो सदाचारी जीवन जीने के आड़े आती है या विचलन पैदा करती है, वही माया है। हर गृहस्थ को इससे बच कर चलना है।

बौद्ध धर्म में इसे ही मार कहा गया है। बुद्ध को साधना से विचलित करने आयी मार कन्याओं से उन्होंने कहा— “तुम सब जाओ, यह सब प्रयत्न किसलिए करती हो! जो विरागी नहीं हैं, उन लोगों के सम्मुख यह सब करना चाहिए। तथागत का राग नष्ट हो गया है, द्वेष नष्ट हो गया है और मोह नष्ट हो गया है।”²³ शायद, बाबू श्यामसुंदर दास ने ‘माया’ शब्द की वजह से ‘मरद न’ को ‘मरदन’ समझ लिया है। लेकिन ‘जिनि भार और ‘माया जाल’ में तुकबन्दी नहीं बैठती। डॉ. पारसनाथ तिवारी ने अपने पद में ‘ऐसा माया जाल’ की जगह पर ‘तैसौ यह संसारु’ दिया है जो अर्थ और तुकबंदी दोनों की दृष्टि उपयुक्त है।

एक दूसरी पंक्ति है—‘जो उपजा सो बिनसिहै, ताथैं दुख करि मरै बलाइ।’ इस पंक्ति की पहली अर्द्धाली का अर्थ तो समझ में आता है कि जो उत्पन्न हुआ है वह मरेगा। लेकिन दूसरी अर्द्धाली का अर्थ स्पष्ट नहीं हो रहा। ‘ताथैं दुख करि मरै बलाइ’ का सीधा अर्थ निकलता है—उसका दुख करके ‘बलाइ’ मरे! इसी तरह, ‘दुख करि रोवै बलाइ’ का अर्थ निकलता है—दुख कर के ‘बलाइ’ रोए। तब ‘बलाइ’ क्या चीज है? बलाए और बलाइ का अर्थ दुख होता है, विपत्ति होती है। कबीर ने कहा— “मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तो निकसो भागि।”²⁴ तब इसका क्या अर्थ बैठता है—उसका दुख करके विपत्ति मरे? या बलाइ रोए। अर्थ कुछ बैठा नहीं। क्या बलाइ का अर्थ कुछ और भी होता है? मुझे नहीं पता। या, बलाइ की जगह कुछ और शब्द है।

अगर ‘बलाइ’ की जगह ‘बिलाइ’ कर दिया जाए तो क्या हो। मैं भोजपुरी क्षेत्र से आता हूँ। मेरी मातृभाषा भोजपुरी है। भोजपुरी में एक शब्द युग्म चलता है— मरै-बिलाइ। किसी स्त्री का पति या लड़का घर छोड़ कर कहीं कमाने परदेश चला जाता है और कई सालों तक अपनी खोज खबर नहीं देता तो पूछने पर वह कहती है, ‘पता नहीं कहाँ मरि बिलाय-गयल।’ कोई घर गृहस्थी से दुखी होकर बिना बताए घर छोड़ देता है और घरवालों को अपनी कोई खोज-खबर नहीं देता तो उसके बारे में भी लोग यही कहते हैं कि ‘पता नहीं कहाँ मरि-बिलाय गयल।’ बुद्ध ने घर-गृहस्थी को दुख बता कर ही उसे छोड़ा था। इस हिसाब से यहाँ ‘बलाइ’ की जगह पर ‘बिलाइ’ शब्द सही बैठता है। यानि, जो पैदा होगा वह तो मरेगा ही। इसका दुख करके क्यों मरना-बिलाना? अर्थात् लोग मरते-बिलाते हैं। घरबार छोड़ साधु संन्यासी बन जाते हैं।

इसके बाद जो सबसे अस्पष्ट अर्द्धाली है— “पीवत मरदन लाग।” इसमें प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने सही लिखा है— “मरद या मृद न को मरदन पढ़ कर अत्यंत भ्रामक अर्थ किया है, ‘जिस स्तन का मनुष्य पान करता है, उसी का मरदन करने लगता है।”²⁵ यहाँ अर्थ का अनर्थ कर दिया गया है। इसी तरह का अर्थ अन्य सभी विद्वानों ने निकाला है। मेरा मानना है, ‘मरद’ की जगह पर ‘मरत’ होना चाहिए। अगर प्रो. अग्रवाल ‘मरद’ का संबंध मृद या मृत्यु से मान रहे हैं तो वे सही पदबंध के करीब पहुँचने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन यह शब्द ‘मरत’ होना चाहिए। भोजपुरी में जीयत-मरत का युग्म चलता है। इसकी चौथी पंक्ति में ‘मरत’ का प्रयोग हुआ ही है। लेकिन ‘मरदन’ की जगह पर ‘मरद न’ या ‘मरत न’ कर देने से भी अर्थ नहीं बैठता।

अर्थ बैठाने की दृष्टि से इस पंक्ति के साथ कई दिक्कतें हैं। “जहाँ उपज्या तहाँ फिरि रच्या रे” का अर्थ है जहाँ उत्पन्न हुआ वहाँ फिर रच दिया। लेकिन दूसरी अर्द्धाली “पीवत मरद न लाग” का कोई अर्थ नहीं निकलता— और यह अर्थ तो बिल्कुल नहीं कि “जैसे ही पैदा हुए माता के स्तन को पीते हुए उसका मरदन करते हैं।”²⁶ असल में, यहाँ दो शब्दों को ले कर भ्रम फैल रहा है। एक ‘मरद’ है और दूसरा ‘पीवत’ है। मेरे हिसाब से ‘मरद’ की जगह पर ‘मरत’ और ‘पीवत’ की जगह पर ‘जीवत’ होना चाहिए। डॉ. पारसनाथ तिवारी की ‘कबीर ग्रन्थावली’ का एक अंग, ‘जीवत-मृत कौ अंग’ के नाम से संकलित है जिसका एक दोहा इस प्रकार है— “जीवत-मिरतक होइ रहै, तजै जगत की आस। तब हरि सेवा आपै करै कौ, मति दुख पावै दास”²⁷। तब, यह अर्द्धाली इस तरह बैठती है—‘जीवत मरत न लाग।’ अब इस पंक्ति को इस तरह पढ़ा जाए— “जहाँ उपज्या तहाँ फिरि रच्या रे, जीवत-मरत न लाग।”

असल में, सटीक अर्थ देने वाली अर्द्धाली डॉ. पारसनाथ तिवारी के पद की है। उनकी अर्द्धाली है— “जहं की उपजी तहं रची”। रामकिशोर शर्मा ने इस अर्द्धाली में ‘फिरी’ शब्द अपनी तरफ से जोड़ दिया है। इसकी आवश्यकता नहीं थी। बावजूद इसके, इसका संबंध पुनर्जन्म के दर्शन से नहीं जुड़ता। इसका अर्थ है जहाँ से जो चीज उपजी है वहीं से फिर रच दी गयी है। यानि, जिस स्रोत से आदमी पैदा हुआ है, उसी स्रोत से फिर पैदा हो रहा है। आदमी मरता है फिर पैदा होता है। जीने और मरने में समय नहीं लगता। यह नियति जड़ और

चेतन दोनों पर लागू है।

VIII

डॉ. पारसनाथ तिवारी ब्राह्मण समाज से आते हैं, दृष्टि की उनकी अपनी सीमाएँ हैं। लेकिन कबीर की प्रामाणिक रचनाओं के निर्धारण में उन्होंने जो काम किया है उसकी जितनी प्रशंसा की जाए कम है। इसलिए उन्हीं के पद को संशोधित कर रखा जाए।

राम रसु पीआ रे, तथै बिसरि गए रस और—टेक
रे मन तेरौ कोइ नहीं, खींचि लेइ जिनि भार।
बिरखि बसेरौ पंखि कौ, तैसौ यहु संसार॥
और मुएँ का रोइए, जउ आपां थिरु न रहाइ।
जो उपजा सो बिनसिहै, तथै दुख करि मरै—बिलाइ॥
जहँ की उपजी तहँ रची, जीवत—मरत न लाग।
कहै कबीर चित चेतिया, राम सुमिरि बैराग॥

अर्थ है—मैंने राम रस पी लिया है, इसलिए अन्य सारे रस भूल गया हूँ। ऐ मन, यहाँ तेरा कोई नहीं है जो तुम्हारे भार का वहन कर सके। जैसे वृक्ष पंक्षी का बसेरा होता है, वैसे ही मनुष्यों के लिए यह संसार है। दूसरे के मरने पर क्या रोना जब खुद ही स्थिर नहीं हैं। जो उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश होना ही है फिर उसके लिए क्यों मरना—बिलाना? जिस स्रोत से मनुष्य उत्पन्न हुआ है, उसी स्रोत से फिर उत्पन्न हो जाएगा। इसलिए जीवन और मरण से मोह मत रखो। कबीर चित से चेत कर कहते हैं, राग और विराग से मुक्त होने के लिए राम नाम का स्मरण करें। बताया जाए कि भक्ति का यही मार्ग 'नाम-जप' के रूप में सर्वसाधारण को उपलब्ध है।

इस पद में 'मृत्यु' को जीवन का एक कठोर और शाश्वत सच माना गया है। लोक का अंतिम सत्य यही 'राम नाम सत्य है' है। असल में, यह सात्वता देने का पद है। अपनों की मृत्यु से लोग दुखी होते हैं। लेकिन इससे बचने का उनके पास कोई रास्ता नहीं। ऐसे में, लोगों को ईश्वर के नाम का स्मरण करने की सलाह दी जाती है। मृत्यु ही नहीं घर-गृहस्थी की समस्याओं में भी लोग दुखी होते हैं। इससे बचने के लिए कुछ लोग घर-बार छोड़ साधु संन्यासी बन जाते हैं। आर्य समाजी विचारक सन्तराम बी.ए. ने लिखा है—“मैंने अनुभव किया कि जो लोग संसार से विरक्ति दिखलाते हुए बड़े उपदेशक बन कर बाहर धर्म पर व्याख्यान देते हैं, वे बहुधा ऐसे लोग होते हैं जिनकी अपनी गृहस्थी दुखी होती है।”²⁸

कई दृश्यों में एक दृश्य शव को देख कर बुद्ध दुखी हुए थे और संसार से उन्हें विरक्ति हुई थी। लिखा गया है— “पुनः एक दिन बोधिसत्व उसी प्रकार उद्यान जाते हुए देवताओं द्वारा निर्मित मृत-पुरुष को देख, पहले की भाँति पूछ, उदास हो, फिर प्रासाद में लौट आए।”²⁹ घर-गृहस्थी को बुरी बता कर ही उन्होंने संन्यास लिया था। उन्होंने कहा— “यह घर-गृहस्थी बहुत बड़ा जंजाल है, भयंकर दुखागार है, कष्टों से भरा पड़ा है। इसके विपरीत प्रव्रज्या खुले स्थान की तरह है। सुख से परिपूर्ण है।”³⁰ लेकिन कबीर क्या कहते हैं— “अवधू भूले को घर लावै। सो जन हम को भावै॥ घर में जोग भोग घर ही में, घर तज बन नहिं जावै...।”³¹ वे तो संन्यासियों को भूले और भटके हुए लोग मान कर उन्हें वापस घर बुला रहे हैं।

असल में, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, युगेश्वर, रामकिशोर शर्मा और कमलापति पांडेय ने इसे संन्यासियों के माया और वैराग की शब्दावली में समझना चाहा है जो गलत है। यह पद ऐसा करने के लिए उन्हें इजाजत नहीं देता। कबीर की समस्या जन्म और मरण की नहीं है। वे इसे किसी प्रकार से दुख मानने के लिए तैयार नहीं हैं। जीवन

और मरण नियति है। इससे कोई बच नहीं सकता। अगर उनके लिए दुख है भी तो इसका समाधान संन्यासी बनने में नहीं है। गृहस्थ रहते हुए राम का नाम स्मरण करने में है। ऐसे में, कबीर घरबार छोड़ संन्यासी क्यों बनेंगे? मोक्ष, कैवल्य और निर्वाण प्राप्त करने के लिए वन-वन क्यों फिरेंगे?

प्रो. अग्रवाल ने इस पद को ब्राह्मणों के 'पुनर्जन्म के दर्शन' की शब्दावली में समझना चाहा है। इसलिए उन्हें यह पद जहाँ ले जाना चाह रहा है, वहाँ वे नहीं पहुँच पाए हैं। उन्हें एक विशेष शब्दावली जहाँ ले जा रही हैं, वे वहाँ पहुँच रहे हैं। सवाल है, उनसे ऐसा अनभिज्ञता में हो रहा है, या कि वे कबीर को लेकर उधर ही जाना चाह रहे हैं। जो भी हो पता नहीं। लेकिन डॉ. धर्मवीर ने प्रो. अग्रवाल के बारे में लिखा है— “जब इनसे दार्शनिक कबीर की खोज नहीं हो पा रही है तो ये कवि कबीर की खोज क्या करेंगे? कविता के नाम पर ये पुनर्जन्म की संवेदना में उलझ कर रह जाएँगे।”³² लगता है उनके साथ यही हुआ है।

IX

प्रो. अग्रवाल जे.एन.यू. में मेरे शिक्षक रहे हैं। जे.एन.यू. हमें तार्किक, विवेकसम्मत और सकारात्मक ढंग से सोचने-समझने का विश्वास देता है। मैं यह मान कर नहीं चल रहा कि कथित पद की जो व्याख्या उन्होंने की है, वह जानबूझ कर की है। या, किसी सांस्कृतिक वर्चस्व की दार्शनिकता को बनाए रखने के इरादे से की है। शायद, उनसे 'पुनर्जन्म' और 'पुनर्जन्म के दर्शन' के भेद को समझने में चूक हो रही है। 'पुनर्जन्म' और 'पुनर्जन्म का दर्शन'—ये दो अलग-अलग अर्थ देने वाले शब्द हैं। पहले का अर्थ अभिधात्मक है तो दूसरे का पारिभाषिक। मसलन, कोई व्यक्ति यह कहे कि मरने के बाद वह मनुष्ययोनियों में पैदा होगा, ऐसा उसका विश्वास है। इसमें वह किसी तर्क-वितर्क को नहीं मानता। तब इसमें कोई क्या कर सकता है? सिर्फ यह मानने के कि इसके साथ भविष्य में उसके होने की एक आशा जुड़ी हुई है जिसे वह नहीं छोड़ना चाहता। इसमें वह कहाँ गलत है? ऐसा सोचने में न तो वह किसी की संवेदना को आहत करता है न ही किसी की स्वतंत्रता का अतिक्रमण। इसके विपरीत, कोई कह सकता है कि यह कोरा अंधविश्वास है। यह तर्क और विवेक की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। मरने के बाद आदमी हमेशा के लिए खत्म हो जाता है। इसलिए वह इसमें विश्वास नहीं करता। ऐसे में, पुनर्जन्म को मानने या न मानने वाले लोग एक दूसरे की संवेदनाओं को आहत नहीं करते।

दूसरी स्थिति में, अगर कोई व्यक्ति यह कहे कि उसका पुनर्जन्म होगा और मनुष्य योनि में होगा और ब्राह्मण वर्ण में होगा। आगे, किसी अन्य के बारे में भी वह कहे कि अमुक-अमुक व्यक्ति का जन्म मनुष्य योनि में होगा और शूद्र और अछूत कुल में होगा। यानि, निम्न और नीच कुल में होगा। तब, कहा जाएगा कि वह व्यक्ति 'पुनर्जन्म के दर्शन' की शब्दावली में बोल रहा है और एक बहुत बड़े समाज की संवेदनाओं को आहत कर रहा है। मनुस्मृति में लिखा है— “जो नीच वर्ण ब्राह्मण आदि उत्कृष्ट वर्ण के साथ आसन पर बैठना चाहे, राजा उसकी कमर दगवाकर देश से निकाल दे अथवा उसके चूतर का मांस कतरवा देवे।”³³ बताया जाए कि इस सजा के पीछे सिर्फ और सिर्फ 'पुनर्जन्म का दर्शन' है। क्या 'पुनर्जन्म के दर्शन' को मानने वाले वैष्णव खुद को इससे अलग कर पाएँगे? लेकिन कबीर इन दोनों से परे हैं जब कहा है— “बहुरि नहिं आवना यह देस।”³⁴

सवाल है, प्रो. अग्रवाल अपराध और दंड की इस व्यवस्था के बारे में क्या कहेंगे? साथ बैठ जाने के अपराध की ऐसी सजा? क्या इससे कथित निम्न और नीच वर्णों की संवेदनाएँ आहत नहीं होतीं? प्रो. अग्रवाल पुरुषोत्तम के रूप में स्वयं अपनी संवेदनाओं के बारे में बताएँ! क्या ऐसी लिखतों से उनकी संवेदनाएँ आहत नहीं होतीं? या कि वे इससे यह कह कर बच निकलेंगे कि मनुस्मृति एक नार्मेटिव टेक्स्ट³⁵ है, दैनंदिनी में ऐसा होता नहीं। दैनंदिनी की बहस में पड़े बिना, क्या यह मान लिया जाए कि मन और वचन से किसी की संवेदनाएँ आहत

नहीं होती? हो सकता है, एक संस्कारित द्विज होने के नाते प्रो. अग्रवाल की संवेदनाएँ आहत न हों, लेकिन कबीर और उनके समाज के लोगों की संवेदनाएँ आहत होती हैं। कहना यह है कि 'पुनर्जन्म के दर्शन' से कबीर के समाज की संवेदनाएँ जुड़ी हुई हैं। ऐसे में, कबीर और उनका समाज 'पुनर्जन्म के दर्शन' की शब्दावली में कैसे बोल सकता है?

सन्दर्भ :

1. कबीर ग्रन्थावली (परिमार्जित पाठ), सम्पादक, श्यामसुन्दर दास, भूमिका एवं परिमार्जन, पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण, 2023, पृ. 17
2. वही, पृ. 15
3. 'हिन्दू कहो तो हौं नहीं, मुसलमान भी नहीं', कबीर एक खोज, (जन्म और माता-पिता) सद्गुरु कबीर संस्थान (गुरुद्वारा), फोर्ट रीवा रोड, मध्य प्रदेश-486001, संस्करण-2020, पृ. 45
4. वही, पृ. 15
5. वही, पृ. 14-5
6. वही, पृ. 15
7. वही, पृ. 15
8. वही, पृ. 15
9. वही, पृ. 15
10. कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक : माताप्रसाद गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001, षष्ठ संस्करण : 2019, पृ. 189
11. वही, पृ. 189
12. कबीर समग्र, युगेश्वर, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसी-221010, पंचम संस्करण : 2001, पृ. 554
13. वही, पृ. 554
14. सटीक कबीर ग्रन्थावली, (सं.) रामकिशोर शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, प्रयागराज-211001, तेरहवाँ संस्करण : 2023, पृ. 354
15. वही, पृ. 354
16. कबीर ग्रन्थावली, (प्रबोधिनी व्याख्या सहित) कमलापति पांडेय, शुभदा प्रकाशन, 1/11052-ए, शुभाष पार्क, शाहदरा, दिल्ली-32, सं.-2021, पृ. 442
17. वही, पृ. 442
18. कबीर-ग्रन्थावली (नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला-33), संपादक : श्यामसुन्दर दास, बी. ए., इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, ज्येष्ठ कृष्ण 13, 1985, पृ. 111, पद 75
19. कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक : डॉ. पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग, प्रथम संस्करण-1961, पृ. 31-2
20. वही, पृ. 31-2
21. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण : 2017, पृ. 326
22. महाबीजक, (कबीर साहब की सम्पूर्ण वाणियों का संग्रह), सम्पादक : आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री, कबीर

- वाणी, प्रकाशन केन्द्र, सी-23/5, कबीर चौरा मठ, वाराणसी-1, संस्करण : 1998, पृ. 89
23. जातक प्रथम भाग, आधार अनुवाद, भदन्त आनंद कौसल्यायन, संशोधन संपादन डॉ. शिवशंकर त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण, 2006, पृ. 123
 24. कबीर काव्य कोश, डॉ. वासुदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, विलासाक्षी भवन, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण : 1987, पृ. 208
 25. कबीर ग्रन्थावली (परिमार्जित पाठ), सम्पादक : श्यामसुंदर दास, भूमिका एवं परिमार्जन, पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण-2023, पृ. 14-5
 26. वही, पृ. 189
 27. कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक : डॉ. पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग, प्रथम संस्करण-1961, पृ. 207
 28. मेरे जीवन के अनुभव, सन्तराम बी.ए., सम्यक प्रकाशन, 32/3, पश्चिमपुरी, नई दिल्ली-110063, प्रथम संस्करण-2014, पृ. 51
 29. जातक प्रथम भाग, आधार अनुवाद भदन्त आनंद कौसल्यायन, संशोधन संपादन डॉ. शिवशंकर त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण, 2006, पृ. 96-7
 30. सुतपिटक मज्झिमनिकाय पालि, हिन्दी-अनुवाद सहित, प्रधान सम्पादक एवं अनुवादक, द्वारकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, पंचशील, 10/6ए-2ए, मकबूल आलम रोड, जिला जेल के सामने, वाराणसी-221002, संस्करण-2006, पृ. 330
 31. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण : 2017, पृ. 326
 32. सूत न कपास, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, संस्करण : 2012, पृ. 198
 33. सहासनमभिप्रेप्सुरुतकृष्टस्यापकृष्टतजः। कट्यां कृतांको निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत्॥ मनुस्मृति (भाषा टीका सहित) टीकाकार, पं. जनार्दन झा, सिद्धार्थ बुक्स, 'चन्दन सदन', सी-263ए, गली नं.-9, हरदेवपुरी, शाहदरा, दिल्ली-110093, संस्करण-2011, पृ. 173
 34. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण : 2017, पृ. 259
 35. कबीर : खसम खुशी क्यों होय ?, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, संस्करण : 2017, पृ. 99



कृष्ण कल्पित का 'कविता-रहस्य'

○ कमलेश वर्मा*

[कृष्ण कल्पित (जन्म - 1957) की पुस्तक 'कविता-रहस्य' का प्रकाशन 2015 में हुआ था। वे हमारे समय के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। उनका पहला संग्रह 'भीड़ से गुजरते हुए' 1980 में आया था। 1990 के बाद की कविता पर विचार करने के लिए कृष्ण कल्पित के काव्यलोक से गुजरना जरूरी है। इस दौर की कविता-संबंधी चिंता को 'कविता-रहस्य' किताब के माध्यम से देखा-समझा जा सकता है।]

'कविता-रहस्य' में सात अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में 30-30 सूत्र/मंत्र/श्लोक हैं। कुल मिलाकर 210. 2014 के जुलाई-दिसंबर तक छह महीने में इस किताब की रचना की गयी। राजशेखर की पुस्तक 'काव्य-मीमांसा' से यह किताब प्रेरित है।

प्रयास है कि अपने समय की हिंदी कविता के लिए कुछ बातें कह दी जाएँ। एक कवि के रूप में कृष्ण कल्पित ने कविता के बारे में जो सोचा-विचारा-समझा है और कवि होने के नाते जो अच्छा-बुरा अनुभव किया है उन सब को सूत्रात्मक रूप से कह देने की इच्छा-शक्ति का परिणाम यह किताब है। इस किताब की बनावट में अध्यायीकरण का कोई स्पष्ट आधार दिखायी नहीं पड़ता है। एक क्रम से भी बात कहने की कोई प्रवृत्ति नहीं दिखी। रोचक ढंग से बातें जरूर रखी गयी हैं। सिद्धांतों को रखते हुए आचार्य बनने का कोई उद्देश्य कवि का है भी नहीं। भूमिका में उसने यह बात कह दी है कि शास्त्र मानने में कोई परेशानी महसूस हो तो आप इसे एक 'सुदीर्घ कविता' मान सकते हैं।

कविता में सांगोपांग डूबा हुआ एक कवि कविता, कवि और काव्यशास्त्र के इर्द-गिर्द बने परिवेश से वाकिफ होता है। वह दिन-रात सुनता-गुनता रहता है कि कविता कैसे बनती है, क्यों बनती है? कविता की भूमिका क्या है? वह जूझता रहता है निंदाओं-प्रशंसाओं से! निंदा और प्रशंसा के झूठ-सच को पकड़ना आसान काम नहीं होता है। एक कवि के काम आती है कविता के प्रति उसकी गहरी आस्था! इस आस्था को अंत तक कोई तोड़ नहीं पाता! उसे विश्वास होता है कि वह जो रच रहा है वह बहुत जरूरी है। वह भाषा से उलझता है और शैली की तलाश करता है। काव्य-वस्तु की कमी एक सक्षम कवि के पास शायद नहीं होती है।

हिंदी में काव्यशास्त्र की जगह आलोचना ने ली और कई तरह के साहित्यिक, साहित्येतर सिद्धांतों के आधार

☆ प्राध्यापक, हिंदी, पं. दीनदयाल उपाध्याय राजकीय महिला महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी।

पर कविता के बारे में सोचा-विचारा-कहा-लिखा जाता रहा। आलोचकों-समीक्षकों-पाठकों-साहित्यिकों ने तो इस संदर्भ में हस्तक्षेप किया ही, कवियों ने भी अपनी बात कही। काव्यशास्त्र न होने के बावजूद सैद्धांतिक बहसों के तीखे रूप सामने आते रहे। कुछ टिके, कुछ बदले, कुछ ढहे! ऐसी ही बहसों को सूत्रात्मक रूप देकर यह किताब तैयार की गयी है।

कृष्ण कल्पित पारिभाषिक शब्दावली के बजाय काव्यात्मक पदों के सहारे इन सूत्रों का निर्माण करते हैं। उनकी इस किताब में काव्य-सिद्धांतों की अनेक बातें आपको नहीं मिलेंगी जो पहले से चली आ रही हैं। जिन पक्षों पर बात करना उन्हें प्रासंगिक और जरूरी लगा है उन्हीं को विषय बनाकर ये सूत्र निर्मित हुए हैं। कृष्ण कल्पित की गहरी आस्था काव्योक्तियों के प्रति है। सिद्धांतों के समर्थन के लिए वे संस्कृत, फारसी, उर्दू, हिंदी और अंग्रेजी की कविताओं तक जाते हैं। काव्यशास्त्र और आलोचना के ग्रंथों से भी कहीं-कहीं कुछ पंक्तियाँ लेते हैं मगर उनका ज्यादा विश्वास काव्य-पंक्तियों पर है। यह नये ढंग का लक्षण-लक्ष्य-ग्रंथ भी है। इस ग्रंथ में लक्षण और लक्ष्य अपने भी लिए गए हैं और दूसरों के भी। मगर इसे रीतिग्रंथ नहीं कहा जा सकता है। इसमें एक स्वतंत्रचेता मानस की साहित्यिक आकुलता आद्योपांत छापी हुई है। सैद्धांतिक बहस की संक्षिप्त और रोचक किताब का ऐसा उदाहरण कहीं दूसरी जगह शायद ही मिले!

कल्पित के इन सूत्रों को आज के साहित्यिक संघर्षों की पृष्ठभूमि में देखें तो समझने में सुविधा होगी। आज की हिंदी कविता और कवि के सामने जो चुनौतियाँ हैं उन्हें समझने और उनका मुकाबला करने में ये सूत्र मदद कर सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि पहले की हिंदी कविताओं को समझने में ये सूत्र अक्षम हैं। मैं फिर कहना चाहूँगा कि इस किताब का अपना एक देशकाल और उद्देश्य है। इसे काव्यशास्त्र की परंपरागत पुस्तक की तरह न पढ़ा जाए। कृष्ण कल्पित के दावों के पीछे मंशा कुछ और है। वे आवरण पर लिख जरूर रहे हैं कि यह किताब 'NEW CRITICISM' उर्फ 'नया काव्यशास्त्र' है। यह 'कृष्ण कल्पित विरचित' है। यह 'हिंदी का प्रथम काव्यशास्त्र' है। इन घोषणाओं के पीछे कल्पित का रोचक और सृजनात्मक दिमाग है। भूमिका में भी कुछ रोचक दावे करते हुए वे अंत में लिखते हैं कि इसे 'सुदीर्घ कविता' की तरह पढ़ा जा सकता है। पंत, निराला, मुक्तिबोध आदि ने कवि-आलोचक का जो दर्जा पाया था, कल्पित को उस क्रम में नहीं पढ़ना होगा। वे अपने गंभीर खिलंदड़ेपन के साथ कवित्व को आचार्यत्व की भाषा प्रदान करके नये आस्वाद से एक साहित्यिक/सामाजिक/रसिक/भावक को तृप्त करने की सामग्री प्रदान कर गये हैं।

(1)

किताब की शुरुआत होती है राजशेखर के एक छंद से। चार पंक्तियों का यह छंद कल्पित को बहुत पसंद है। वे 'बाग-ए-बेदिल' की भूमिका में भी इस छंद को याद करते हैं। तमाम आवारगी के बाद धर्मनगरी वाराणसी में बसने की इच्छा इसमें प्रकट की गयी है। आवारगी की शैली में अपनी बात कहने का हुनर तराशते हुए उस मुकाम तक पहुँचना जहाँ गंभीरता को सहजतम की तरह पेश किया जा सके। आवारगी की यह शैली कल्पित को स्वतंत्र ढंग से सोचने-रचने की राह सुझाती है। किताब ऐसे शुरू करते हैं मानो किसी पवित्र ग्रन्थ के मन्त्र रच रहे हों। 'मन्त्र' के साथ जो 'नम्बरिंग' की गयी है वह भी वैदिक ग्रंथों की शैली में, नागरी अंकों के साथ! खड़ी पाई भी इस तरह से लगायी गयी है मानो पवित्रता की मुहर लगानी हो! प्रत्येक अध्याय के अंत में अध्याय के पूर्ण होने की सूचना उन्हीं आप्त ग्रंथों की शैली में है और अंततः 'इति यायावरीय' लिखकर मानो मुद्रांकित कर दिया गया हो!

किताब का पहला सूत्र/मंत्र/श्लोक देखिए,

“जो आलोचना से आहत न हो
उसे प्रशंसा से मार दो! ॥१:१॥

कृष्ण कल्पित विरचित ‘कविता-रहस्य’ को सबसे पहले यह बता देना जरूरी लगा कि हे कवियों! प्रशंसा से बचो! आलोचना से मत घबराओ! आलोचना करनेवाला तुम्हें पढ़ेगा जरूर, मगर प्रशंसा तो बिना पढ़े भी की जा सकती है! आज की कविता के आगे एक बड़ा खतरा है कि उसे गंभीरतापूर्वक पढ़ने वाले घटते जा रहे हैं। जब लोग पढ़ेंगे ही नहीं तो आलोचना कैसे करेंगे! यदि जरूरत पड़ी तो निरर्थक प्रशंसा की ही जा सकती है। प्रशंसा का आलम यह है कि लोग कवि को बड़ी आसानी से ‘कालजयी’ (॥२:१॥) कह देते हैं। यह अलग बात है कि वह अपने जीवनकाल में ही ‘धरा-शायी’ हो जाता है। इसलिए ‘आचार्य’ कल्पित कहते हैं कि हे कवियों! प्रशंसा से बचो!

फिर एक रहस्य की तरफ इशारा करते हैं कि ऐसी आलोचना से बचो जिसके स्रोत तुम्हारी रचना के भीतर मौजूद न हों! तुम कवि हो लेकिन रचना के मूल्यांकन से वाकिफ हो! गुण-दोष-विवेचन में अपनी रुचि का परिष्कार करते रहो! कविता को शब्द-जाल बनने से बचाओ, उसमें चमक पैदा करो! यह चमक आती है भाषा के अथाह समुद्र में डूब-डूब जाने से! (॥६:१॥)। भाषा को ऐसे बरतो कि बे-तुकापन कहीं से आने न पाए! भाषा, छंद, तुक, अलंकार केवल उपकरण नहीं हैं। इन्हें सजीव और चमकदार बनाना पड़ता है। एक चुका हुआ कवि इन उपकरणों को ‘मैला’ वैला बताने लगता है।

कविता की कसौटी सरलता को नहीं बनाना चाहिए। भाषा की गूढ़ता और रहस्यमयता से एक कवि को लगातार जूझना चाहिए। भाषा में निहित सत्य और झूठ के तथ्यों की पड़ताल लगातार करनी चाहिए और यह जानना चाहिए कि कविता और गद्य का विभाजन उतना वास्तविक नहीं है जितना प्रत्यक्षतः बता दिया जाता है। इन दोनों के मेल से ही कविता लिखी जाती है और गद्य भी इसी तरह से सृजा जाता है। (॥१२:१॥) कृष्ण कल्पित की यह किताब किसी व्यवस्थित क्रम में विषय को नहीं उठाती है। इसकी बनावट में लालित्य की प्रधानता है। एक बात कहते हुए वे किसी दूसरी दिशा में भी जा सकते हैं और आगे चलकर फिर उसी विषय पर कुछ कहने की स्थिति बनती है तब वे फिर कुछ कह पड़ते हैं। पाठक के द्वारा प्रयास करके विषय की भी तलाश की जा सकती है और एक साथ रखकर टीका-टिप्पणी भी की जा सकती है। यह भी जाना जा सकता है कि उस विषय पर कृष्ण कल्पित ने किस-किस तरह से विचार किया है।

अभी जिस बात का जिक्र किया गया है कि कविता और गद्य का परस्पर सर्जनात्मक संबंध होता है। उस बात को दूसरे ढंग से भी किताब में दूसरी जगहों पर कहा गया है। दूसरे अध्याय के २७वें सूत्र में कहा गया है- ‘गद्य कवियों की कसौटी है/कविता की नहीं!’ गद्य और कविता के पारस्परिक मेल को तो वे स्वीकार करते हैं और यह भी मानते हैं कि कविता को गद्य से समृद्धि मिलती है। मगर वे गद्य को कविता की कसौटी मानने से इंकार करते हैं। शायद वे आज के कवियों को सावधान करना चाहते हैं कि कविता लिखते हो तो ध्यान रहे कि गद्य नहीं लिख रहे हो! चाहे लाख प्रयोगशील बनो मगर कविता की अपनी पहचान की रक्षा तो करनी ही होगी! इसी जगह पर पाँचवें अध्याय के २१वें सूत्र की चर्चा करना प्रासंगिक होगा। अप्रैल, २०२५ में जो कथ्य-शिल्प की बहस चली, उस पर यह दोहा देखने लायक है,

“अंदर बाहर एक है
एक कथ्य इक रूप
दोनों में जब हो मिलन
कविता बने अनूप!”

गद्य और कविता की तरह कथ्य और शिल्प के सह-मेल पर कवि को ध्यान देना चाहिए। छठे अध्याय के 23वें सूत्र पर भी लगे हाथ ध्यान जाता है,

“कविता भी इक वाक्य है
सघन और परिपाक
दुनिया भर में घूमती
बिना पते की डाक!”

सब जानते हैं कि वाक्य की सहज गति गद्य में होती है। यह गद्य जब कविता का वाक्य बन जाए तो क्या कहने! शर्त यही है कि उस वाक्य का घनत्व कमतर नहीं होना चाहिए और उसे शब्द-पाक की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए! फिर देखिए कमाल, वह वाक्य न जाने दुनिया-भर में कहाँ-कहाँ पढ़ा-कहा-सुना-गुना जाए!

(2)

विचार, विचारधारा, बौद्धिकता आदि का कविता से कैसा संबंध होना चाहिए? कविता की दुनिया में प्रवेश करनेवाला, रहनेवाला और आनन्द उठानेवाला इस बात को लेकर कई बार उलझन में पड़ता है। कविता का एक रूप ऐसा भी दिखता है जिसमें लगभग विचारहीनता होती है या विचार का सतही/भावुक रूप होता है। लोकप्रिय/मंचीय ढंग की कविताओं में इसकी मात्रा ज्यादा होती है। कविता का एक रूप वह भी है जिसमें विचारधारा की अनिवार्य प्रतिबद्धता होती है। कवि सावधान न रहे तो विचारधारा की प्रधानता वाली कविता अपनी सहजता खो देती है। वह ठीक से कविता का आकार या प्राण ग्रहण ही नहीं कर पाती है। दोनों तरफ से नये कवि को भटकते हुए देखा गया है। इधर अस्मितामूलक विमर्शों से प्रेरित कविताओं में इस तरह के दोष खूब देखे गए हैं। उनमें विचार-तत्त्व की प्रधानता हो जाती है। विचारधारा के अनुपालन की कोशिश में कवि की सहज गति बन नहीं पाती है। कृष्ण कल्पित की यह किताब कविता की इस दुनिया या समस्या पर भी विचार करती है। पहले भी यह कहा जा चुका है कि कल्पित ने अपने समय की सृजन-समस्या को ध्यान में रखकर यह किताब लिखी है। रीतिकाल में ऐसी कई किताबें लिखी गयी थीं जिनका उद्देश्य होता था कवियों को कविता लिखने का प्रशिक्षण देना। इधर के दिनों में कविता-कहानी लिखने के वर्कशॉप भी चलाए जा रहे हैं। इग्नू आदि के कोर्स में क्रिएटिव राइटिंग के भी कोर्स हैं। शेर-ओ-शायरी दुरुस्त करने के लिए उस्ताद के पास जाने की परंपरा भी रही है। ‘कविता-रहस्य’ किताब इस काम को विधिवत् नहीं करती है। वह केवल हस्तक्षेप करती है और अपना पक्ष रखती है। उसके पक्ष से आपको दृष्टि मिल सकती है और यह भी हो सकता है कि आपको उसका पक्ष उचित न जान पड़े। कल्पित को कविता की समृद्धि और सार्थकता के लिए जिस पक्ष पर खड़ा रहना उचित लगा है वे वहीं खड़े हुए हैं।

(॥१३:१॥) संख्या पर सूत्र है -

“आगे कवि की कल्पना
पीछे चलें विचार
काल-बद्ध भी मुक्त भी
कविता का संसार ॥”

कल्पना को आगे चलना चाहिए। कवि की कल्पना-शक्ति सृजन की प्रमुख शक्ति है। विचारों के कारण कविता अपने समय की सार्थकता से जुड़ी है। कल्पना-शक्ति काल की सीमाओं में रुद्ध हो जाने से कविता को बचाती है। कल्पना और विचार के प्रयोग को कृष्ण कल्पित एक स्टैंड के साथ अत्यंत संक्षेप में व्यक्त कर देते हैं। 'कविता-रहस्य' की बहुत बड़ी विशेषता है इसकी संक्षिप्तता। संक्षिप्तता तभी सार्थक होती है जब उसमें सटीकता हो, अन्यथा वह अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष का शिकार हो जाती है।

कृष्ण कल्पित विचार वाली बात को दूसरे प्रकरणों में विस्तार भी देते हैं। विचारधारा-हीनता के समर्थक उत्तरवादियों के प्रति वे अपनी पूर्ण असहमति व्यक्त करते हैं। 1990 के बाद से लगातार उत्तरविमर्शवादियों के प्रहार झेलते हुए विचारधारा की धारा मुरझा चुकी है, मगर इसके वास्तविक सच को कल्पित पूरी आस्था से प्रकट करते हैं और एक तरह से कवियों को आगाह करते हैं कि 'विचारधारा' को ध्यान में रखो! दार्शनिकता का यह रूप तुम्हारी निगाह को राह दिखाएगा,

“विचार-धाराओं के सूखे हुए वट-वृक्ष में अब भी शायद कोई बीज बचा है!” (॥१७:१॥)

इसी बात को कल्पित धनुष-बाण के रूपक बनाकर कहते हैं कि शास्त्र और लोक से काव्य के संबंध को सिद्धांत और व्यवहार के संबंध की तरह देखना चाहिए। काव्य के लिए ये दोनों जरूरी हैं। विचार-धारा के बगैर कविता दिग्भ्रमित रहेगी और लोक के बगैर निष्प्राण,

“एक काव्य का शास्त्र है
एक काव्य का लोक
एक धनुष इक बाण है
रोक सके तो रोक!” (॥२४:३॥)

विचारधारा के महत्त्व पर एक कवि को क्या सोचना चाहिए? उत्तरवादी विचारकों ने तो विचारधारा के अंत की बात की। उनका आशय प्रायः उन विचारधाराओं के अंत से था जो मार्क्सवादी मिजाज की थीं। वे कहना चाहते थे कि अब दुनिया में विचारधाराओं के बीच संघर्ष समाप्त हो चुके हैं। अब यह विषय समाप्त हो चुका है। अब यह दुनिया कार्य-प्रणाली से चलेगी। काम करो, खूब काम करो, कमाओ, न्याय-अन्याय की बात छोड़ दो, व्यवस्था और सत्ता के बारे में सोचना बंद कर दो! अब इन चीजों को चलानेवाले कुछ ही लोग होंगे और तुम्हारा काम होगा कि तुम उनकी कार्य-प्रणाली के अनुसार खूब काम करो और खाओ-पीओ मस्त रहो! ऐसा करने के लिए विचार-धारा की क्या जरूरत है?

ऐसी स्थिति में एक कवि के आगे कौन-सी राह खुलती है? सोचे और महसूस किए बगैर क्या वह जी सकता है? विचार-प्रणाली के बगैर कोई भी संवेदनशील मनुष्य मशीन की तरह केवल कार्य-प्रणाली में जी नहीं सकता है! विचार-धाराओं के बगैर विकसित होती हुई यह दुनिया तेजी से कार्य-संस्कृति को आगे करके दौड़ती चली जा रही है। कल्पित याद दिलाते हैं मुक्तिबोध, सार्त्र और गोर्की की! एक ने कहा था कि 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?' दूसरे ने कहा था कि 'Writing is already a definite political position.' और तीसरे ने तो सचेत किया था कि 'तय करो, तुम किस ओर हो'। इन तीनों ने यह सब केवल लेखकों के लिए नहीं कहा था, बल्कि आम जन को समझाया था कि अपना पक्ष तय करो! और तुम्हारा पक्ष हर हालत में मनुष्यता के पक्ष में होना चाहिए। मनुष्यता की बुनियाद है इंसाफ-पसंदगी! जो इंसाफ-पसंद नहीं है वह भला मनुष्यता का पक्षधर कैसे हो सकता है? अन्याय, शोषण, उत्पीड़न, भेद-भाव, असहिष्णुता के विरुद्ध जो नहीं सोच-बोल सकता वह भला कैसा मनुष्य होगा? एक कवि इस रास्ते को छोड़ देगा तो वह भटक जाएगा।

महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि विजयी कौन है? महत्त्वपूर्ण यह है कि मनुष्यता के पक्ष में कौन है। कल्पित

बहुत बारीकी से समझा रहे हैं कि

“आज कविता की तरह मार्क्सवाद पराजय का दस्तावेज है ...
लाओत्से ने कहा था कि विजय एक दाह-संस्कार का नाम है
पराजय के दस्तावेज ही भविष्य के दस्तावेज हैं!
कविता और मार्क्सवाद अब भी मनुष्यता की आशा हैं”

मतलब यह कि एक सच्चे कवि को राह दिखानेवाली बातें आज भी इन्हीं विचारकों के पास हैं। बड़े विचारकों के बीच पूर्ण सहमति तो होती नहीं है! इन सब के बीच भी नहीं है। मगर शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष की शक्ति ऐसे ही स्रोतों से मिल पाती है। आज के कवि को पराजित होते हुए भी मनुष्यता के पक्ष में खड़े रहने की ताकत इन्हीं विचारों से मिल पाएगी।

(3)

कृष्ण कल्पित सुकवि और कुकवि की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए बताना चाहते हैं कि एक अच्छे कवि के सामने किस तरह की परिस्थितियाँ आ सकती हैं। एक ‘अच्छा कवि’ बनने की इच्छा रखनेवाले को किस तरह की सावधानियाँ रखनी चाहिए! वे पहली सलाह यह देते हैं कि अपार संख्या में मौजूद रहनेवाले ‘कु-कवियों’ से नये कवि को बचना चाहिए! पुरस्कार न मिलने पर घबराना नहीं चाहिए। देखा गया है कि ‘पुरस्कृत कवियों’ से कविता दूर चली जाती है! यह भी देखा गया है कि जिसका तिरस्कार किया गया वह भविष्य में श्रेष्ठ कवि माना गया। इसलिए पुरस्कार और तिरस्कार का प्रभाव कवि के सन्दर्भ में उल्टा भी पड़ता है।

कविता को पेशेवर रूप नहीं दिया जा सकता है, “अब तक बन पाया नहीं/कविता का बाजार!” पेशेवर बनने की कोशिश आपको कु-कवि बना देगी! एक सु-कवि बनने की इच्छा रखनेवाले को “शास्त्रों का अवगाहन, लोक का अवलोकन और अपने पूर्ववर्ती कवियों की कविताओं का पारायण सूक्ष्म रीति से करना चाहिए”। इस रास्ते पर चलने से ‘दिव्य-अंतर-दृष्टि’ प्राप्त होती है। यह दृष्टि एक सु-कवि के मार्ग को प्रशस्त करती है। यह दृष्टि उसे बताती है कि कविता एक ‘सनातन वि-पक्ष है’। एक सु-कवि को ताकतवर लोगों के वि-पक्ष से बोलना चाहिए। ताकतवर लोग चाहते हैं कि कविता ‘मनोरंजक-कला’ में बदल जाए! मगर यह आज तक नहीं हो सका है। हालाँकि कु-कवियों की भारी संख्या इस काम को लगातार करती रही है और असफल होती रही है!

‘आत्म-संघर्ष, वाग्मिता और अपार-करुणा के रसायन’ से एक सु-कवि को ‘आत्म-प्रकाश’ मिलता है। ये तीनों पक्ष पेशेवर कवि को प्राप्त नहीं हो पाते हैं। श्रेष्ठ कवियों के संपर्क में नये कवियों को जरूर रहना चाहिए। ‘आत्म-प्रकाश’ और श्रेष्ठ कवियों के सत्संग को वरदान की तरह समझना चाहिए और प्रेरित कवि-कर्म में लग जाना चाहिए। हो सकता है कि एक सु-कवि की प्रतिभा रखनेवाले को पर्याप्त तिरस्कार और कुसंग मिला हो! अभिशप्त जीवन व्यतीत करनेवाला भी ‘आत्म-प्रकाश’ की प्रेरणा से सु-कवि हो सकता है। उसे हताशा मार नहीं सकती है। एक सु-कवि का सबसे बड़ा दुश्मन है ‘गरब-गुमान’। कु-कवि की एक पहचान यह भी होती है कि वह अपनी आलोचना सुनना नहीं चाहता है। चूँकि एक सु-कवि की कविता ‘सनातन वि-पक्ष’ है इसलिए वह कवि अपनी आलोचना सुनने का धैर्य और साहस रखता है।

सुकवियों के नष्ट हो जाने की कामना कुकवि हमेशा करते हैं। स्वयं के लिए पुरस्कार की व्यवस्था और

सुकवि के लिए तिरस्कार का षड्यंत्र करके वे समझने लगते हैं कि फतह हमारी है! मगर यह उनका भ्रम है। एक सु-कवि मरणोत्तर आयु जीता है और एक कु-कवि अंगवस्त्रों से सज्जित अपनी लाश ढोता रहता है! कल्पित का व्यंग्य देखिए,

“बीहड़-बन में गुम गया
कवि था कल्पित कृष्ण
खुश हो जाओ कुकवियो
खूब मनाओ जश्न!” (॥३०:५॥)

कल्पित आह्वान करते हैं कु-कवियों का कि वे ‘कविता-रहस्य’ को जरूर पढ़ें। इसे पढ़कर हो सकता है कि उनमें कुछ सुधार हो जाए। वे आचार्य वामन का हवाला देते हैं कि उन्होंने कुकवित्व को ‘अकीर्ति’ से जोड़ा था और कहा था कि यह ‘अंधकारमय नरक की दूती’ होती है। इसलिए प्रत्येक कवि को चाहिए कि वह ‘अकीर्ति’ से बचने का प्रयास करे! सु-कवि तो इससे बच जाता है मगर कु-कवि इसकी चपेट में आ जाता है। इसलिए जरूरी है कि ‘कविता-रहस्य’ को पढ़ा जाए,

“सुकवि पढ़ें या ना पढ़ें
कुकवि पढ़ें जरूर
नए काव्य का शास्त्र है
समय बहुत ही क्रूर!” (॥६:६॥)

कल्पित जी ने शुरू में ही घोषणा कर दी है कि यह किताब नए काव्य का शास्त्र है। अब देखना चाहिए कि नए काव्य का शास्त्र कौन-सी नयी बात कहता है?

कल्पित की स्पष्ट धारणा है कि काव्यशास्त्र और काव्य परस्पर पूरक हैं – ‘काव्यशास्त्र ही काव्य है/और काव्य ही शास्त्र’। काव्य रचते समय शास्त्र से सीख ली जा सकती है और शास्त्र लिखते समय काव्य के विस्तार का ख्याल किया जाना चाहिए। काव्यशास्त्र को किसी रूढ़ विषय की तरह नहीं समझा जाना चाहिए। काव्यशास्त्र को अनेक बार इस तरह से पढ़ा-पढ़ाया जाता है मानो वह कोई जड़ पुस्तक हो! मगर सच्चाई यह है कि विभिन्न काव्यशास्त्रियों के बीच कई तरह के भिन्न विचार एक ही विषय पर मिलते हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि बदलती हुई कविता के अनुसार शास्त्र को भी नया रूप धारण करना पड़ता है। काव्य के बगैर शास्त्र की रचना हो भी नहीं सकती है – ‘बिना काव्य के शास्त्र ज्यों/बिना बीज के खेत’। कल्पित ‘NEW CRITICISM उर्फ नया काव्यशास्त्र’ लिखने का दावा कर रहे हैं क्योंकि कविता में बहुत कुछ नया घटित होता जा रहा है।

शास्त्र लिखने के अपने खतरे हैं। शास्त्रों में प्रायः उन वर्गों (शूद्र, स्त्री आदि) की निंदा की गयी है जिनकी निंदा आज नहीं की जा सकती है। यह बदलती हुई सभ्यता का परिणाम है। फिर शास्त्र रचा कैसे जाय! यदि निंदा नहीं की गयी तो शास्त्र कैसा? ऐसी स्थिति में तो शास्त्र अधूरा रह जाएगा! अधूरी विद्या साधक को या तो पागल कर देती है मार देती है!

“कोई भी शास्त्र शूद्रों, स्त्रियों, असुरों और मूर्खों की निंदा के बिना पूर्ण नहीं होता
जबकि नये जमाने में इनकी निंदा आलोचना करना जान का जोखिम है
और अधूरा शास्त्र अपने रचयिता को नष्ट कर देता है
मरना निश्चित है
खुदा खैर करे! (॥१४:४॥)

कल्पित के इशारे पर गौर करना चाहिए। वे एक ही साथ दो बातें बता जाते हैं। पहली बात यह कि शास्त्रों के रचयिता अपने जमाने की वर्गीय चेतना या समझ के अनुसार समाज और शास्त्र के संबंध पर जाने-अनजाने कुछ टिप्पणियाँ सुरक्षित कर दे रहे थे। वे उन वर्गों की तरफ इशारे सुरक्षित कर दे रहे थे जिनकी चिंता की परिधि में उस दौर के उपेक्षित-अपमानित वर्ग (शूद्र, स्त्री आदि) समा नहीं पाते थे। कल्पित दूसरी बात यह बताते हैं कि आज का कोई भी शास्त्र इन उपेक्षित-अपमानित वर्गों की सकारात्मक चिंता किए बगैर रचा ही नहीं जा सकता है। अब शास्त्र को अपने ढाँचे में और अपनी मान्यता में परिवर्तन करना होगा! जहाँ तक 'मूर्खों' का मामला है, ये जाति-जेंडर-क्षेत्र के अनंत रूपों तक फैले होते हैं। मूर्खता का विस्तार भी देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करता है। इन पर बात करने से शास्त्र में थोड़ी तलखी आ जाती है। लेकिन इन पर बात किए बगैर शास्त्र तो छोड़िए एक सु-कवि का काव्य भी पूरा हो भी नहीं पाएगा!

शास्त्र या आलोचना के बिना कविता जीवित नहीं रह सकती। कु-कवि अपनी कविता की आलोचना से घबराते हैं लेकिन सु-कवि उसका सामना करते हैं और उससे प्रेरित होते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड की पंक्ति 'कविता जीवन की आलोचना है' को याद करते हुए अपने शास्त्र में कल्पित अंकित करते हैं कि

“कविता जीवन की आलोचना है या नहीं
कुछ कहा नहीं जा सकता
लेकिन यह पत्थर की लकीर है कि
आलोचना कविता का जीवन है! (॥१८:५॥)

कविता की आलोचना करने के कुछ सूत्र 'कविता-रहस्य' में रखे गए हैं। कल्पित थकते जाते हैं इस किताब को लिखते-लिखते! छोटी-सी किताब मगर खूब थकाती है कल्पित जी को! काव्य लिखना होता तो वे नहीं थकते, मगर यह तो शास्त्र है! कविता लिखना घर में रहने-जैसा है और शास्त्र लिखना वन में रहने-जैसा!

“कविता तो घर-वास है
काव्यशास्त्र वन-वास
खाने को है कन्द-फल
सोने को है घास! (॥३०:६॥)

(4)

'कविता-रहस्य' को एक कवि की उस बेचैनी के रूप में पढ़ना चाहिए जो उसके कवि होने की जिम्मेदारी से जुड़ी है। कविता पढ़ते-लिखते-विचारते हुए प्रत्येक गंभीर कवि को यह लगता है कि कविता का स्वरूप इस तरह का या उस तरह का होना चाहिए। अपने समय के कवियों को रचते-बढ़ते या डूबते हुए देखकर उसका मन स्वाभाविक रूप से सोचता है कविता की दशा-दुर्दशा पर अपनी निगाह से कहा-सुना जाय! एक कवि को आलोचक की भी प्रतीक्षा होती है। पाठक या श्रोता अपनी आवेशित टिप्पणी या प्रतिक्रिया दे सकता है, मगर व्यवस्थित विश्लेषण की गुंजाइश आलोचना के द्वारा ही संभव होती है। कवि अपनी रचनाशीलता को जिस ढंग से समझता है उसी ढंग से आलोचक भी समझे, यह जरूरी नहीं! कई बार आलोचना कविता के विश्लेषण को उस मुकाम तक पहुँचा देती है जहाँ तक की उम्मीद कवि ने स्वयं नहीं की होती है। ऐसी आलोचना पढ़ने के बाद कवि को एहसास होता है कि उसने नायाब रचा है। यह भी संभव है कि ऐसी आलोचना खुशामद में लिख दी गयी हो! एक सच्चा कवि झूठी प्रशंसा को खूब पहचानता है। तकलीफ तब ज्यादा होती है जब कवि को

समझने वाले आलोचक नहीं मिलते हैं। कवि चाहता है कि उसे समझा जाय! ऐसी परिस्थिति में कवियों ने खुद आलोचना लिखी है। छायावादियों को ऐसा करना पड़ा था। निराला ने दूसरे कवियों पर भी तीखी आलोचना लिखी थी। कविता के अपने मानक के अनुसार उन्होंने गालिब, इकबाल, टैगोर और बिहारी आदि पर बात की थी। पन्त पर तीखे आक्रमण भी किये थे।

कवि की लिखी हुई आलोचना हिन्दी में कोई नयी बात नहीं है। ‘कविता-रहस्य’ को ‘एक साहित्यिक की डायरी’ भी मान सकते हैं। कृष्ण कल्पित अपनी काव्य-दृष्टि और अपनी कविताओं को ध्यान में रखकर इस किताब के सूत्र रचते हैं। यह देखना रोचक होगा कि ‘कविता-रहस्य’ के सूत्र ‘बाग-ए-बेदिल’, ‘हिंदनामा’, ‘रेखे के बीज...’ आदि (कृष्ण कल्पित की पुस्तकें) की कविताओं पर कहाँ तक ठीक जँचते हैं! कवि की अपनी कसौटी पर उसकी अपनी कविता का परीक्षण, काव्यशास्त्र-विनोद की तरह प्रियकर लगेगा! यह काम एक दूसरे लेख में संभव हो जाएगा!

‘कविता-रहस्य’ के साथ ‘कवि-रहस्य’ (महामहोपाध्याय गंगानाथ झा, 1872-1941) की चर्चा दिखायी पड़ जाती है। महामहोपाध्याय गंगानाथ झा ने ‘हिन्दुस्तानी एकेडमी’ के आमंत्रण पर कुछ व्याख्यान दिये थे। उन व्याख्यानों का संकलन है यह किताब। इस किताब को तैयार करने में झा जी को दो काव्यशास्त्रियों की किताबों से मदद मिली थी। एक राजशेखर की ‘काव्यमीमांसा’ और दूसरी किताब थी क्षेमेन्द्र की ‘कविकंठाभरण’। कृष्ण कल्पित ने भी ‘काव्यमीमांसा’ से प्रेरित होने का उल्लेख किया है। हालाँकि उनकी किताब में संस्कृत की दूसरी कई किताबों से सन्दर्भ लिए गए हैं। ‘कविता-रहस्य’ के प्रकाशित होने पर यह बात उठी कि यह किताब ‘कवि-रहस्य’ की अनुकृति है। कुछ कड़ी बातें भी कही गयीं।

मगर दोनों किताबों में बहुत फर्क है। ‘कवि-रहस्य’ तथ्यों का सुंदर-सोद्देश्य संकलन है। संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य के उद्धरणों की सहायता से महामहोपाध्याय ने पारिभाषिक शब्दों को समझाने का प्रयास किया है। जबकि ‘कविता-रहस्य’ काव्य और काव्यशास्त्र पर काव्यात्मक टिप्पणी है। ये टिप्पणियाँ कविता भी हैं और आलोचना भी! कृष्ण कल्पित कविता में आलोचना लिखते हैं और उनका गद्य भी कविता है। महामहोपाध्याय का विषय हिन्दी कविता नहीं है। वे शास्त्रीय ढंग से अपनी बातें कहते हैं। जबकि कृष्ण कल्पित के ध्यान में हमेशा हिन्दी कविता है!



तीसरे जेंडर की अनकही दास्तान : पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा

○ मधु मंजरी*

हिन्दी की वरिष्ठ कथाकार चित्रा मुद्गल का कुछ समय पहले आया उपन्यास पोस्ट बॉक्स नं 203 नाला सोपारा का प्रतिपाद्य किन्नरों (तृतीय लिंग) के जीवन संघर्ष पर आधारित है। आज जब दलित, स्त्री, आदिवासी और अल्पसंख्यक अकादमिक दुनिया और सत्ता प्रतिष्ठानों में जगह बना चुके हैं, ऐसी स्थिति में किन्नरों की इयत्ता सिरे से नदारद है। हालाँकि भारतीय संसद और सर्वोच्च न्यायालय ने संवेदनशीलता दिखाते हुए विगत वर्षों में उन्हें कुछ सम्मान जनक सुविधाएं प्रदान की हैं, बावजूद इसके भारतीय समाज इनको लेकर सहज नहीं हो पा रहा है। आज भी ये हाशिये पर हैं और तिरस्कृत जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं।

“मानवीय सभ्यता के भीतर उद्भूत विभिन्न धर्मों और समाजों ने भी उन्हें मनुष्यता की श्रेणी में नहीं रखा। कैसी विडंबना है कि धरती को स्वर्ग बनाने का दावा करने वाले विभिन्न धर्म की समानता, न्याय और बंधुत्व के सिद्धांत स्थापित करने वाली राजनीतिक क्रांति भी हिजड़ों के साथ मनुष्यता का व्यवहार नहीं कर सकी”

किन्नर, हिजड़ा, छक्का, लौंडा न जाने कितने नामों से अभिहित करते हुए इस समुदाय को किसी एक संज्ञा से वंचित कर दिया गया। किन्नरों के जन्म को प्रकृति का क्रूर उपहास कहें या जैविक असंतुलन, मगर हैं तो वे इसी प्रकृति का अंश जो बिना किसी दोष के दंडित होने को बाध्य हैं। “विज्ञान, प्रौद्योगिकी, तार्किकता और उत्तर आधुनिकता से घिरे समय में मनुष्य होने की पहचान से बड़ी पहचान रंग, जाति, धर्म और नस्ल की हो तब यह कहना उचित होगा कि मानव चेतना अभी भी जड़ता की शिकार है, और मनुष्य की उदात्त चेतन सत्ता और समाज व्यवस्था के स्वार्थी विचारों से संचालित है। लैंगिक दोष के कारण पारिवारिक, सामाजिक बहिष्कार अत्यंत क्रूर स्थिति है। यह लज्जाजनक है कि मानव जगत अपनी सामाजिक सांस्कृतिक मान्यताओं, जड़ परंपराओं तथा रूढ़ दृष्टिकोण के कारण जैविक या लैंगिक विकारग्रस्त तृतीय लिंग समूह को उनके मानव अधिकारों से वंचित रखे, किन्तु यह सत्य वर्तमान में मौजूद है, हमारे निकट नगर, कस्बे, मोहल्ले में। कानूनी और राजनीतिक अधिकारों के कारण हुए किंचित परिवर्तनों के बावजूद परिवार और समाज की सहज स्वीकार्यता से तृतीय लिंग समुदाय वंचित है छ रूढ़ मान्यताओं में जीता यह जड़ समाज इनके प्रति अत्यंत असहिष्णु है।

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, हिन्दी विभाग, ए.एन. कॉलेज, पटना।

हिजड़ा शब्द के प्रति वितृष्णा, घृणा और भय को जीत यह समाज इनके प्रति किसी प्रकार की सघन संवेदना, मानवीय दृष्टिकोण और उदारता से शून्य है।”²

चिकित्सा शास्त्र के अनुसार xy या xx न हो कर xo हो जाना एक जैविक दोष है। गर्भ में xo शिशु का पालन xx या xy की तरह ही होता है किन्तु गर्भ से बाहर आते ही उस शिशु की स्थिति असहज और अस्वाभाविक हो जाती है। जैसे-जैसे शिशु परिपक्व होता है, उसका शारीरिक दोष सामाजिक दोष बन जाता है। अब उन्हें तृतीय लिंग कहें या ट्रांसजेंडर, समाज उसे वह हक या बराबरी नहीं दे पाता जिसकी उन्हें जरूरत है। दूसरी तरफ उन्हें संबोधित करने के लिए, किन्नर, हिजड़ा, क्लीव, छक्का, जनखा इत्यादि जो भी नाम प्रयुक्त किए जाते हैं गाली का पर्याय ही प्रतीत होते हैं। “सुनने में किन्नर शब्द भले ही गाली न लगे, अपने निहितार्थ में उतना ही क्रूर और मर्मांतक है जितना हिजड़ा हिजड़ा, हिजड़ा, हिजड़ा ! गालियों की गाली किन्नर कह देने भर से नासूर छटक जाएंगे देह से ?”³ ज्योतिषशास्त्र कहता है कि वीर्य की अधिकता हो तो पुत्र, रक्त की अधिकता हो तो पुत्री। यदि रक्त और वीर्य बराबर हो जाए तो किन्नर संतान पैदा होती है। जीवविज्ञान कहता है कि xy क्रोमोसोम मिले तो लड़का xx क्रोमोसोम मिले तो लड़की और xo मिले तो किन्नर। कुल मिला कर स्थिति यह है कि स्त्रीत्व या पुरुषत्व से वंचित रह जाने के कारण इस समुदाय की देह को तो बहुत पढ़ा गया किन्तु मन को पढ़ पाने में समाज का तथाकथित पढ़ा लिखा संवेदनशील वर्ग अभी भी असमर्थ है। प्रकृति और समाज द्वारा किए गए अन्याय से जूझता किन्नर अपने को क्या समझे यह एक विडंबना है। किन्नरों के जन्म को लेकर समाज में स्वीकार्यता की जो स्थिति है वह सर्वविदित है। त्रासदी यह है कि इन्हें स्वीकार करते समय समाज सबसे पीछे और इस्तेमाल करते समय समाज सबसे आगे रहता है। विशेष रूप से राजनीतिज्ञ इनके साथ राजनीति करने से पीछे नहीं हटते और अपनी प्रगति के लिए इनकी दुर्गति करने से बाज नहीं आते।

उपन्यास अपनी संरचना व शिल्प के मामले में विशिष्ट है। बेटे द्वारा माँ को लिखे गए पत्रों में उपन्यास आकार लेता है। पत्र रूपी सेतु के एक छोर पर विनोद है तो दूसरी छोर पर माँ। इस निर्मोही दुनिया में सबसे अधिक प्यार करने वाली माँ के अतिरिक्त निस्स्वार्थ प्रेम के माध्यम से उसके निकट कोई है तो वह पूनम जोशी है। बा से अलग हो कर उसने खिली धूप सी अतिशय अनुराग करने वाली पूनम जोशी को ही जाना था। पूनम जोशी ने भी विनोद को अपना मन सौंप कर स्वयं को विनोद की प्रेमिका माना था। मन ही मन विनोद पूनम जोशी के सकारात्मक स्वभाव का मुरीद था। उसकी स्त्रियोचित तुनक, और स्वयं को बेहतर बनाने की कोशिश विनोद को चमत्कृत करती थी। “त्रिशंकु अवस्था में जीने से इनकार कर उसने स्वयं अपना लिंग अपनी मर्जी से निर्धारित कर लिया है। वह भूल रही है और शायद पूरी तरह भूल जाना चाहती है कि वह एक किन्नर है। ईश्वर ने उसे बालिका भ्रूण के रूप में ही उसकी माँ की कोख में स्थापित किया होगा। बस चूक हो गई होगी उससे; उसकी योनि गढ़ने में।”⁴ उपन्यास में किन्नरों के जीवन के कई पहलुओं से रूबरू कराते हुए चित्रा मुद्गल उनके इस पक्ष की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट करती हैं कि समाज ने जिन किन्नरों को बहिष्कृत कर दिया, उसमें भी छल प्रपंच की प्रचुरता है। मुंबई की चम्पा बाई ने विनोद को दिल्ली के किन्नरों के सरदार तितली बाई को बेच दिया। असामाजिक तत्वों के हाथों की कठपुतली इस सरदार की बागडोर विधायक के हाथों में थी। विनोद कहता है, “सरदार की प्रजा में इजाफा तो आए दिन होता रहता है, लेकिन मुक्ति के दरवाजे कभी किसी के लिए नहीं खुलते बा।”⁵ यदि इस सरदार ने हिंसा और शक्ति के बल पर विनोद को बंधक नहीं बनाया बल्कि उसकी मुक्ति के द्वार खोले तो इसके पीछे भी आज की एक राजनीतिक विडंबना ही है कि विधायक ने विनोद को एक सशक्त हथियार के रूप में पहचान लिया है।

सामान्य जनता के बीच सामान्य मानव की बात करते विधायक जी अपने क्षेत्र के एक मंजे हुए खिलाड़ी हैं। जितना वे देंगे उससे अधिक वसूलना राजनीति का धर्म है। विधायक जी विनोद को सोची समझी राजनीति

के तहत स्वीकारते हैं, और उसे सुविधाएँ प्रदान करते हैं, जिसका उपयोग वे अनुकूल समय पर करना चाहते थे। पर उनके विदेश से लौटे भतीजे के कुकृत्य ने उन्हें ये अवसर जल्द सुलभ करा दिया। जबकि विनोद को चंडीगढ़ ले जाते हुए उनकी ऐसी मंशा स्पष्ट नहीं होती। बिना सूचित किए वापस दिल्ली लौटना उनकी विवशता थी और विनोद को घटनास्थल से दूर रखना उनकी समझदारी। बड़ी गंभीरता से विनोद को व्याख्यान के लिए प्रेरित किया जाता है। एक सोची समझी योजना के तहत चंडीगढ़ के स्थानीय नेताओं के माध्यम से विनोद को सभा सम्बोधन के लिए प्रस्तुत किया जाता है, या यूँ कहें कि राजनीतिक हथकंडे अपना कर विनोद को बलि चढ़ाए जाने की तैयारी शुरू कर दी जाती है। “देखो यह मुद्दा हमारे लिए शोशा भर नहीं है। साथ देंगे किन्नर हमारा तो हम उनके आरक्षण की मुहिम चलाएंगे। जोड़ेंगे उन्हें विकास के समान अवसरों से शिक्षा, रोजगार, संपत्ति, ऋण, बूढ़ों की पेंशन, बेरोजगार युवाओं को भत्ता। लेकिन ताली एक हाथ से नहीं बजती। संगठित होना पड़ेगा। जेल भरने होंगे, धरने देने होंगे, जनजीवन ठप्प कर देना होगा।”⁶

विनोद राजनीतिक दाव पेंचों से अनभिज्ञ है, वह भाषण देता है, अपने तर्कों से किन्नर समाज को शिक्षा के प्रकाश की ओर प्रेरित करता है, आत्मसम्मान की बात करता है। वह बात करता है किन्नरों के स्वाभिमान की, घर वापसी की, उनके इस्तेमाल किए जाने की। “नहीं जानते कौन लोग करते हैं आपका इस्तेमाल ? वो जो आपको इंसान नहीं समझते। आपके जीने मरने से उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। अंधेरे के बावजूद वो आपकी मैयत को कंधा देने नहीं पहुंचते, आँसू नहीं बहाते। रूढ़ि नियति की है। जीवित रहते धिक्कार की चपलों से वो आपको पीटेंगे। मरणोपरांत आपको अपनी ही बिरादरी से पिटवाएंगे। जिनके नवजात शिशुओं का ढूँढ़ ढाँढ़ नाच गाने, आशीषने पहुंचते हैं आप, उन्हीं घर दूसरे रोज पहुँचने पर देखिए। घर का दरवाजा आपके मुँह पर भेड़ दिया जाएगा।”⁷ विनोद का यह भाषण आरक्षण से बिल्कुल भिन्न आत्म चेतना को रेखांकित करता था। वह भाषण किन्नर समुदाय में अवमानना से इनकार की जागरूकता का बीजारोपण था। बिरादरी को त्यागने और जकड़बंद परंपराओं की अस्वीकृति की अपील थी। परिश्रम से प्राप्त निवाले की संतुष्टि का परामर्श था।

“बरजिए बिरादरी को। शपथ लीजिए, यहाँ से लौटकर आप किसी लिंग दोषी नवजात बच्चे-बच्ची को, किशोर-किशोरी को, युवक-युवती को जबरन उसके माता-पिता से अलग करने का पाप नहीं करेंगे उससे उसका घर नहीं छीनेंगे। उपहासों के लात घूसों से उसे जलील होने की विवशता नहीं सौंपेंगे। जलालत का नरक भोग कर कुछ नहीं सीखे आप।..... इस अवमानना को झेलने से इनकार कीजिए। कुली बनिए। मिस्त्री बनिए, ईंट गारा ढोइए, जो चाहे सो कीजिए, पाएंगे मेहनत के कौर की तृप्ति।”⁸ विनोद एक तरह से समाज में किन्नरों की वापसी के मार्ग को प्रशस्त करने के साथ-साथ यह भी स्थापित करता है कि स्वयं अपना क्रम किए बगैर स्वविवेक की जागृति के बिना यह स्थिति संभव नहीं होगी। वह अपने समाज के लिए आरक्षण को उनकी दशा में सुधार के लिए आवश्यक नहीं मानता, यही बात उसके लिए काल बन जाती है, क्योंकि उसने वोट बैंक के समीकरण को पूर्णतः उलट दिया था। उसने किन्नरों को उकसाने या उत्तेजित करने के बजाय भावुक कर दिया था। वह आरक्षण को निदान नहीं वरन आत्मचेतना के अधिकारों की मांग का पहला पायदान मानता था। वस्तुतः आरक्षण संरक्षण न हो कर राजनीतियों के लिए एक मुद्दा है, और किन्नरों की घर वापसी एक दिमागी फितूरा। मुद्दों की राजनीति, पीड़ा की पहचान और उसका निदान कभी नहीं कर पाती। मुद्दों से मांग की जा सकती है, माल कमाया जा सकता है पर मुद्दों से मुक्ति के रास्ते नहीं तलाशे जा सकते। विनोद के भाषण के उपरांत सभा में व्याप्त खामोशी की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया देखने को मिलती है। एक तरफ पंकज शर्मा विनोद को शाबासी देते हैं, “छा गए आप विनोद जी, प्रेस वाले आप पर फिदा हो गए। वाणी में गजब की करुणा है सो. रुला दिया आपने उनको जिनकी आँखों में बैठा सूअर का बाल उन्हें पसीजने नहीं देता।”⁹ दूसरी तरफ, “पार्टी का मुख्य मुद्दा रेखांकित होने से छूट गया। प्रो. अखिलेश वर्मा जी असन्तुष्ट नजर आए।”¹⁰ तीसरी तरफ तिवारी

जी की बौखलाहट थी, “क्यों विनोद सीने पर समाज सुधारक होने का तमगा लटकाने का शौक चर्चा आया..... राजा राम मोहन राय बनना चाहते हो..... वाह ! तुम तो छूँटे हुए रणनीतिकार निकले। सरकार को सलाह देने लगे। पासा पलटने में माहिर..... सभा में तुम्हें आरक्षण की बात उठानी थी और पाठ पढ़ाने लगे किन्नरों को स्वाभिमान का, लगे समाज को चेताने। समाज से उनके अधिकारों की मांग करने लगे।”¹¹ तिवारी जी के व्यंग्य वाणों से छलनी होता विनोद इन बातों से अनभिज्ञ था कि उसे सभा में मुद्दे उठाने थे, गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ने थे। उलट उसने किन्नर बिरादरी को उकसाने, उत्तेजित करने के बजाए कीर्तन कर उन्हें भावुक कर दिया था। “इतना भावुक कि वो हिचकियां भर टसुए बहाने लगे।”¹²

तिवारी जी द्वारा गलती दोहराई न जाने की हिदायत के बावजूद, ‘रणनीति का पहला पन्ना’, ‘अच्छी बाइट्स’, ‘ब्रेकिंग न्यूज’, ‘समाचारों की सुर्खियाँ’, ‘चुप नहीं रहेंगे किन्नर’ के तहत विधायक जी द्वारा विनोद माफ कर दिया जाता है। “सीख पढ़ जाएगा, ईमानदार है। आज शाम की कम से कम यह उपलब्धि छोटी नहीं, रणनीति का पहला पन्ना लिखा गया। भाषा रणनीतिज्ञों वाली नहीं है तुम्हारी विनोद मगर दिल को छूने बांधने की क्षमता भरपूर है तुममें।”¹³

विनोद किन्नर होने के नाते उनके अनकहे दर्द तक पहुंचना चाहता है। वह खुद को मसीहा समझा जाना नहीं चाहता, पर किन्नरों की पीड़ा मुद्दा मात्र हो कर रह जाए यह तो वह बिल्कुल नहीं चाहता। राजनीतिज्ञों को किन्नरों की वेदना से कुछ सरोकार नहीं होते। वे इनके दर्द को दूर करने के बजाए इनके दोष को सीढ़ी बनाकर आगे बढ़ना चाहते हैं। अन्यथा किन्नरों का एकजुट होना उन्हें भयभीत कर जाता है। “इससे स्पष्ट है कि आरक्षण मुद्दे को जिस रूप में विधायक जी और उनकी पार्टी गरमाना चाहती थी, उस रूप में विनोद उसे नहीं उठाना चाहता था, इस मतभेद के माध्यम से लेखिका ने राजनीतिक पार्टियों की असली मंशा और उनके छद्म रूप का पर्दाफाश भी कर दिया है। वास्तव में राजनीतिक पार्टियों को किसी सामाजिक समस्या से कोई सरोकार नहीं होता, वे ऐसे मुद्दों को उछालकर मात्र अपने वोट बैंक बढ़ाना चाहते हैं।”¹⁴ पैसा फूँक कर एक दिन के लिए किन्नर बिरादरी को सभा में जुटा लेना और बात है मगर आंदोलन के लिए किन्नरों को एकजुट विनोद की भावुक भाषा ही कर सकती है। “सरकार द्वारा किन्नरों की हित चिंता किन्नरों को अपना हक लगनी चाहिए, भीख नहीं। उन्हें गहराई से महसूस किए जाने की जरूरत है। विनोद समझता है कि एकदम से गोली नहीं दागी जा सकती। सरकार लाख लौलीपॉप पकड़ाए, जब तक बेहतरी के प्रति सकारात्मक नहीं होंगे, बदलाव नहीं आनेवाला। बेहतरी की आकांक्षा उन के मन में जन्मनी चाहिए। विद्रोह भाव भी। विद्रोह भाव उनमें नहीं पैदा होगा तो कोई क्रांति संभव नहीं उनको लेकर।”¹⁵

विनोद किन्नरों की अपना लिंग चुनने की स्वतंत्रता का पक्षधर, उसे इस मुद्दे पर विमर्श किए जाने की जरूरत प्रतीत होती है। वह मानता है कि किन्नर बिरादरी का संघर्ष उन्हें मनुष्य माने जाने का संघर्ष है। “लिंग दोषी सभी लिंग से स्त्री-पुरुष नहीं हैं तो क्या मनुष्य नहीं हैं ? पेशाब भी करते हैं, पाखाने भी जाते हैं। हाँ उन सब की तरह वीर्य नहीं उगल सकते। मैथुन नहीं कर सकते। इसका मतलब यह नहीं है कि वह मनुष्य नहीं हैं..... फिर इन्हें 0 अदर्स में क्यों ढकेला जा रहा है ? 0 अदर्स को खत्म कर देना चाहिए सरकार को।”¹⁶ विनोद ने प्रेस कॉन्फ्रेंस में किन्नरों को मनुष्य माने जाने की वकालत की है। अनुसूचित जाति, पिछड़ा वर्ग, विकलांग वर्ग और बहुत से वर्ग अगर मनुष्य हैं तो किन्नर क्यों नहीं ? “उन्हें अलग से इस वर्ग में चिह्नित करना घोर अमानवीय कृत्य है। किन्नर चाहे जिस वर्ग की संतान हों, चाहे जिस जाति, बिरादरी, समुदाय से संबंधित हों, उसी जाति वर्ग के अनुसार उन्हें अपना सामान्य जीवन जीने की सुविधा मिलनी चाहिए।”¹⁷ चित्रा मुदगल अपने उपन्यास के माध्यम से यह प्रश्न करती हैं कि क्यों किन्नर समाज के लिए सामान्य जीवन जीने की कामना दूर की कौड़ी हो गई है ? “इसीलिए वह समझता है कि किन्नरों के लिए सांस लेने जितनी जरूरी है शिक्षा-

‘पढ़ाई ही हमारी मुक्ति का रास्ता है।’ दूसरी जरूरी चीज है आत्मदया, आत्महीनता और अज्ञान से लिथड़े किन्नर समाज में आत्मसम्मान और आत्मविश्वास की लौ पैदा करना। वह उन्हें समाज, संस्कृति के वर्चस्ववादी षड्यंत्रों से आगाह कर देना चाहता है कि जननांग विकलांगता का अर्थ प्रजनन क्षमता का अभाव हो सकता है मनुष्य न बन पाने की मजबूरी नहीं।”¹⁸

विडंबना यह है कि इस उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत तथ्य भट से सवालियों को जन्म देते हैं। पर हमारा समाज इन प्रश्नों से कतरा कर निकल जाना चाहता है। किन्नर बिरादरी से उठते सवालियों का धुआँ समाज की आँखों में जलन तो उत्पन्न करता है किन्तु उन्हें मुख्य धारा में शामिल करने के लिए ठोस कदम उठाने का साहस नहीं दे पाता। शेष सभी चीजों की समानता के बावजूद केवल जननांग विकलांगता बदनामी का कारण कैसे बन सकती है। इन रूढ़ और खोखली मान्यताओं के विरुद्ध विनोद उर्फ बिन्नी उर्फ बिमली का प्रश्न एक नए विमर्श की शुरुआत करता है कि उसके साथ यह अनर्थ क्यों हो जाने दिया जिसके लिए वह दोषी ही नहीं है। विनोद के जीवन में उत्पन्न विकट परिस्थितियों के लिए उसके परिवार के अतिरिक्त किन्नरों की मानसिकता भी एक कारण है जो समाज की मुख्य धारा से अपने को अलग काटकर एक संगठित शक्ति बनाए रखना चाहते हैं। विनोद यह भी मानता है कि असामाजिक तत्वों के हाथ की कठपुतली बनने में जितनी भूमिका किन्नरों के सामाजिक बहिष्कार, तिरस्कार की रही है, उससे कम उनके पथभ्रष्ट, निरंकुश सरदारों और गुरुओं की नहीं है। इन गुरुओं का परम पुनीत कर्तव्य नए किन्नरों की खोज और उन्हें अपनी गुरु परंपरा में शामिल करना रह गया है। विनोद जननांग विकलांगता को बहुत बड़ा दोष मानता है लेकिन इतना बड़ा भी नहीं कि यह मान लिया जाय कि वे मस्तिष्क, हाथ, पैर, रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श के अनुभव से रहित हैं। वह अपनी किन्नर बिरादरी को हिदायत देता हुआ कहता है, “अपने श्रम पर ज़िओ, मनोरंजन की दक्षिणा पर नहीं, हिकारत की दक्षिणा जहर है जहर। तुम्हें मारने का जहर, तुम्हें समाज से बाहर करने का जहर।”¹⁹

उपन्यास में विनोद दो बार मरता है। एक बार उसकी भावनात्मक मृत्यु होती है, दूसरी बार भौतिक मृत्यु। पहली बार किन्नर बिरादरी को जबर्न विनोद उर्फ बिन्नी को सौंपे जाने के पश्चात अपने परिवार को समाज की उठती उंगलियों से बचाने के लिए विनोद के पिता एक झूठ रचते हैं। जीप दुर्घटना में विनोद की मृत्यु की झूठी खबर फैला दी जाती है। दूसरी बार उससे सहानुभूति का छद्म रचा जाता है, उसकी माँ से उसे मिलाए जाने का छद्म। और फिर, मीठी नदी से बरामद एक किन्नर की फूली लाश विनोद के भौतिक अस्तित्व की समाप्ति की मौन घोषणा करती है। अपने बचपन के साथी से फोन पर प्राप्त हुई स्वयं की मृत्यु की झूठी खबर उसे तब तोड़कर रख देती है जब उसे यह पता चलता है कि उसके पिता के षड्यंत्र में उसकी माँ भी शामिल थी। अपने पिता के झूठ को सच करने की इच्छा उसके अंदर सिर उठाती है और वह रात भर अपनी तथाकथित मौत पर रोता है। उसे दुख है कि उसके मौत से पहले मौत की घोषणा को उसकी बा क्यो न रुकवा सकी। वह जानता है कि उसकी बा में हिम्मत की कमी नहीं है, कमी है तो हिम्मत के इस्तेमाल की, “औरतें अपनी हिम्मत का इस्तेमाल नहीं करतीं। उनकी अपनी आँखें नहीं होतीं। वे अपनी आँखों को आँखों के कोटरों से स्वयं अपने हाथों से निकाल अपने पति और बच्चों की जेबों में सरका देतीं हैं।”²⁰ पहली बार विनोद द्वारा आत्महत्या के निश्चय को पूनम जोशी ने डिगा दिया। लेकिन जब पूनम के लिए कुछ करने की बारी आई तो उसकी इच्छा मन में ही रह गई; और, मन में ही रह गई घर लौटकर बीमार बा से मिलने की इच्छा। उसकी इच्छाओं का अंत उसके जीवन के अंत साथ हो जाता है।

किन्नर बिरादरी को सौंप दिए जाने के पश्चात सबने विनोद से मुंह मोड़ा पर पर उसके सपनों ने उससे मुंह नहीं फेरा था, वह बा को पत्र लिखता है कि उसके सपने बे रोक टोक उसके पास चले आते हैं, और उनके संग चली आती है ज्योत्सना, बड़ा हो कर ज्योत्सना से ब्याह रचाने की कल्पना मात्र कल्पना ही रह जाती

है। बचपन में ज्योत्सना के लिए हृदय में अंखुआए कोमल तन्तु मृत्यु की झूठी खबर के साथ मृतप्राय हो जाते हैं, “ज्योत्सना मेरे लिए जिंदा है मैं ज्योत्सना के लिए नहीं, उस सच पर उसने भी तो विश्वास कर लिया होगा जिस सच को पप्पा ने लोगों को विश्वास दिलाने के परोसा है।”²¹ उसके किन्नर जीवन यात्रा का सच है पूनम जोशी के साथ उसके कोमल सम्बन्ध उपन्यास की अन्यान्य घटनाओं के बीच एक ऐसी नृशंस घटना का उल्लेख चित्रा मुद्गल जी करती हैं जो इस कहानी की पात्र किन्नर पूनम जोशी से जुड़ा है। किन्नर देह के प्रति उठती जिज्ञासा किस तरह क्रूरता में परिणत हो जाती है और विडंबना यह है कि जिन्हें लिंग के नाम पर समाज में पहचान दी जाती है वे लिंग दोषियों के लिए पशुवत हो जाते हैं। जिन्हें मनुष्य तक माने जाने से परहेज किया जा रहा है, उनके लिंग के साथ-साथ उनके जन्म और जीवन को सवालिया निशान के घेरे में लिया जा रहा है, उनकी दैहिक संरचना के प्रति जिज्ञासा को शांत करना काम पिपासा को शांत करने का पर्याय बन रहा है, यह विडंबना नहीं तो और क्या है? पौराणिक कथाओं में उल्लेख मिलता है कि किन्नर महलों में राजा के हरम में रानियों की सुरक्षा के लिए तैनात किए जाते थे, आज वे स्वयं ही सुरक्षा के मोहताज हैं। “इतिहास के पन्नों में किन्नर केवल पुरुषों की विलासिता के निमित्त रखी गई स्त्रियों की सुरक्षा में नियत थे, ताकि कोई दूसरा पुरुष किसी के भी हरम में प्रवेश न कर सके, इसीलिए सुरक्षाकर्मी के रूप में किन्नर ही रखे जाते थे।”²²

उपन्यास में घटित इस क्रूर घटना की शिकार किन्नर पूनम जोशी को फार्म हाउस पर नृत्य के लिए बुलाया जाता है। वहीं विधायक के भतीजे सहित कुछ लड़के बर्बरतापूर्वक उसके साथ बलात्कार करते हैं। कपड़े बदलने गई पूनम जोशी के कमरे में विधायक के भतीजे सहित चार दोस्त जबरन घुस आते हैं, “भई हम भी देखें असली नकली औरत का फर्क।”²³ छटपटाती, लात-घुंसाओं से परे धकेलती पूनम जोशी जी को वहशियों ने बेरहमी से फर्श पर चित्त पटक दिया और अपनी-अपनी जिज्ञासा शांत करते हुए प्लेट में रखे छुरी कांटे से गुप्तांग की शल्य चिकित्सा कर डाली। “पाशविकता का नृशंस नाच चरम पर पहुँच कर बारी-बारी स्खलित हो गया।”²⁴ यह लोमहर्षक घटना यह सोचने पर विवश कर देती है कि हमारा समाज वहशीपन की सीमा को किस हद तक पार कर सकता है। विधायक जी के भतीजे का अपने दोस्तों के साथ मिलकर पूनम जोशी के साथ किया गया व्यवहार अमानवीय श्रेणी में आता है, साथ ही यह भी स्पष्ट करता है कि थर्ड जेंडर की शारीरिक संरचना के प्रति सामान्य व्यक्ति उत्सुकता, उसे देखने का भाव उसके मनुष्य होने का अधिकार ही छीन लेगा। यहाँ राजनीतिक नेताओं के दोहरे चेहरे को भी चित्रा मुद्गल बेनकाब करती हैं। “किन्नर समुदाय का मुंह बंद रखने के लिए विधायक एक तरफ पूनम जोशी का इलाज करवाते हैं, दूसरी तरफ अपने भतीजे को दंडित करवाने के स्थान पर उसे बचाने की कोशिश करते हैं।”²⁵

यह घटना पूनम जोशी जी को तो मरणासन्न करती ही है; विनोद के लिए भी जानलेवा सिद्ध होती है। विधायक जी को भली भाँति ज्ञात था कि पूनम जोशी और विनोद के मध्य एक कोमल संबंध है। यदि विनोद पूनम की दुर्दशा को आधार बना कर किन्नर बिरादरी को एकजुट कर ले तो उनका राजनीतिक कैरियर चौपट हो जाएगा इसलिए सच को जानने से पूर्व ही विनोद रूपी भयंकर बाधा को मार्ग से हटा देना ही एक मात्र सुरक्षित उपाय था। ऐसे में बा की तबीयत खराब होने की सूचना मिलना एक बहुत बड़े षड्यन्त्र का संकेत देता है। इस षड्यन्त्र से अनजान विनोद कौन, कहाँ, कैसे, किसने और क्यों इन सभी अनुत्तरित प्रश्नों के साथ सम्पूर्ण पाठकीय संवेदना को अपने पक्ष में लिए चला जाता है और पाठक के समक्ष एक प्रश्नचिह्न छोड़ जाता है कि क्या राजनीति में जनता मात्र एक वोट बैंक है?

उपन्यास के आरंभ से कथा नायक विनोद की मेधा शक्ति स्पष्ट होती चलती है। बचपन में माँ का लाड़ला बिन्नी एक मेधावी छात्र रहा है, परिवार से निष्कासित हो जब वह विमली बनता है तो किन्नरों की जीवन गाथा के माध्यम से तथाकथित सभ्य समाज की घिनौनी दुर्गंध मारती परतों को अनावृत करता है। माँ को लिखे गए

पत्र महज गलदश्रु भावुकता का दस्तावेज नहीं हैं, बल्कि उन लोगों के असली चेहरे हैं जो महानगरों में रहकर खुद को शिक्षित और सभ्य समझते हैं। वह समाज के दोहरे मानदंडों पर आघात करता हुआ प्रश्न करता है कि जीवन की एक अक्षमता सम्पूर्ण जीवन की अक्षमता कैसे बन सकती है? शारीरिक स्तर पर रिश्ता न बना पाने की असमर्थता हृदय के बने रिश्ते से कैसे वंचित कर सकती है? क्यों तथाकथित आधुनिक समाज, किन्नरों के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैया अपना कर, उनके आत्मसम्मान को चकनाचूर कर, उन्हें घुटने टेकने पर विवश कर देता है, और वे तिरस्कृत तीसरी पांत में आ खड़े होते हैं। विनोद के लिए तीसरी पांत का दोहरा मानदंड ना काबिले बर्दाश्त है। वह हाशिये को अपनी दुनिया मान बैठे किन्नरों से स्वयं को पृथक् सिद्ध करता है। परिवर्तन कामी विनोद उन कारणों के खिलाफ खड़ा होता है जिसके चलते किन्नर हाशिये का जीवन जीने को अभिशप्त हैं, वह उन कारणों के खिलाफ सोचता है, लड़ता है। “उसकी लड़ाई एक स्तर पर न हो कर कई स्तरों पर चलती है, वह घर, परिवार, समाज, व्यवस्था, राजनीतिक सत्ता और अपने अतीत से जुड़े मोह के बंधनों से साथ ही किन्नरों के अपने समाज से, जहाँ नियति ने उसे लाकर पटक दिया है, से एक साथ लड़ता है।”²⁶ अपने भीतर से उत्पन्न बदलाव की प्रेरणा को महसूस करता विनोद हाशिये की दुनिया में दुर्दशापूर्ण जीवन जीते किन्नरों से अलग दिखाई देता है।

पारंपरिक नायक नायिकाओं से रहित इस उपन्यास का एक और पक्ष आकर्षित करता है, जिसे समाज का दोहरा मानदंड छू तक नहीं जाता है। गैर पारंपरिक नायक, नायिका विनोद और पूनम जोशी का सहजता के साथ प्रेम, ईर्ष्या, समर्पण जैसे मानवीय गुण, दोषों का एक साथ साक्षात्कार होता है। “यह कहन शैली की सफलता ही है कि उनका प्रेम किसी अन्य प्रेम कथा के प्रेमियों सा ही बहुत उदात्त रूप में हमारे सामने आता है। यहाँ प्रेम जो जननांगों से परे है, उसकी भी अपनी एक अलग ही केमिस्ट्री है।”²⁷ विनोद के किशोर मन में प्रेम के अंकुर प्रस्फुटित होने का उल्लेख भी लेखिका करती हैं। अपनी सहपाठी ज्योत्सना को वह घर से निष्कासित हो कर याद करता है और दूसरी तरफ पूनम जोशी के लिए भी निस्स्वार्थ प्रेम का कोमल कोना हृदय में सुरक्षित है। पूनम जोशी के हृदय में भी विनोद के लिए जो भाव हैं उसे प्रेम से भी आगे बढ़कर एकाधिकार का नाम देना असंगत न होगा। विनोद को खो देने का डर पूनम जोशी को भयभीत करता है। बीमार बा के पास विनोद को जोर डालकर मुंबई भेजती हुई वह अस्फुट स्वरों में कहती है, “सुनो पहली वाली के पास मत चले जाना। उसे तो कोई भी मिल जाएगा। मुझे तुम्हारे अलावा कौन मिलेगा।”²⁸ जबकि विनोद के लिए एक तरफ माँ थी तो दूसरी तरफ पूनम जोशी थी। बा के बाद किसी से अपनापन मिला था तो वह पूनम जोशी थी। विनोद अपने जीवन में दोनों के प्रति ईमानदार रहना चाहता था। पहली बार जिस ज्योत्सना के लिए प्रेम का अंकुर फूटा था, किस्मत ने उससे दूर कर दिया। वह अब उसके लिए एक स्वप्न थी और खिले घाम सी पूनम जोशी उसकी हकीकत जबसे पूनम जोशी की अलहड़ उपस्थिति के गुणगुनेपन की आदत हुई वह ज्योत्सना को याद नहीं करता, यह ईमानदारी उसके अंदर है। वह किन्नर समुदाय के प्रति ईमानदार हो कर मानवता को शर्मशार होने से बचाना चाहता था वह पूनम जोशी को हारते हुए नहीं देखना चाहता था। वह अपनी बा को खुद की जन्मदात्री होने की शर्मिंदगी नहीं झेलने देना चाहता था, परंतु वह ईमानदारी का दंड झेलते हुए दोहरी छलना का शिकार हो जाता है। एक बार प्रकृति ने उसे छला दूसरी बार उसके भाग्य ने। उसने अपनी बा को आश्वस्त किया था कि जो जिंदगी उसने चुनी है वह उससे कस कर लिपटा रहेगा। “इस कदर कि कभी उससे अलग न हो सके।”²⁹ पर सामाजिक और राजनीतिक विडंबनाएं उसकी अतीत की नींव पर भंवर का निर्माण कर देती हैं जिससे निकल पाने में असमर्थ वह जिंदगी से कभी लिपट नहीं पाता। अपनी बा के सपने को कभी अस्त नहीं होने देने की सोच रखने वाला विनोद उर्फ बिन्नी उर्फ बिमली राजनीतिज्ञों का मोहरा बन स्वयं अस्त हो जाता है।

उपन्यास का अंत विनोद के जीवन के अंत और बा के माफीनामे से होता है, जो बहुत सी क्षोभ, पीड़ा,

चिंता और सवाल को अनुत्तरित छोड़ देता है, “वस्तुतः संवेदन शून्य समाज की जड़ता बड़ी ताकतों द्वारा किन्नरों का हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाना और क्रूर सत्ता के हाथों उसे इस दशा तक पहुंचाना कितनी बड़ी राजनीति है।”³⁰ निस्संदेह चित्रा मुद्गल का यह उपन्यास पोस्ट बॉक्स नं 203 नाला सोपारा हिन्दी उपन्यास की एक उपलब्धि है। आज तीसरे जेंडर के अस्तित्व की समस्या पूरे विश्व की समस्या बन गई है। समाज के लिए यह इसलिए अवांछित है कि सृष्टि की निरन्तरता में उनका कोई योगदान नहीं। संभवतः इसी कारण से समाज ने उसे मनोरंजन का माध्यम बनाकर नारकीय जीवन को उनकी नियति बना दिया है। उपन्यासकार चित्रा मुद्गल तीसरे जेंडर के अस्तित्व को मानवता के अस्तित्व से जोड़ कर देखती हैं। चित्रा मुद्गल कहती हैं, “मैं शायद बिल्कुल अलग ढंग की लेखिका हूँ। मेरा रुझान शुरू से ही सोशल ऐक्टिविज़्म की तरफ अधिक रहा है। एक विषमता जो घर से निकलते ही दिखाई पड़ती थी उसका गहरा असर मुझ पर पड़ा। मैं सोचती थी यह विषमता समाज का स्वाभाविक अंग नहीं है। इसके लिए जिम्मेवार वह व्यवस्था है जो ईमानदार नहीं है।”³¹

विनोद सामान्य मनुष्यों के बीच में सामान्य मनुष्य की पहचान प्राप्त कर जीना चाहता था। उसे यह भी पता था कि निर्मम समाज उसके सपने को कभी पूरा नहीं होने देगा। इस उपन्यास से यह ज्वलंत प्रश्न उत्पन्न होता है कि माता-पिता अपनी लिंग दोषी संतान को घर से निकाल देने के लिए विवश क्यों हो जाते हैं ? इस प्रश्न का सार्थक और ठोस उत्तर ढूंढ पाना मुश्किल है। वस्तुतः यह उपन्यास इस सवाल से अनवरत संघर्ष करने का ही परिणाम है। उपन्यास का उपसंहार पाठक के मर्म को छू लेता है। चित्रा मुद्गल अपने पाठक से यह अपेक्षा रखती है कि इस उपन्यास को पढ़कर यदि चंद माता-पिता भी घर से निकाल दिए गए अपने लिंग दोषी संतान को वापस घर बुला लेंगे तो यही इस उपन्यास की सच्चे अर्थों में सार्थकता होगी। रमेश दवे के अनुसार, “जो कथाएं संवेदना के बीज से जन्म लेती हैं, वे मानवीय करुणा और और जीवन मर्म की कारुणिक कथा बन जाती हैं। चित्रा मुद्गल ने किन्नर यानी हिजड़ों को इस बार अपने उपन्यास की केंद्रभूमि बना कर एक ऐसे विषय का संस्पर्श किया है जिस पर लेखनी उठाना चुनौती और साहस की मांग करता है और जो स्त्री पुरुष के लिंग की पहचान से पृथक निर्लिंग मनुष्य की यातना, बेबसी, परित्याग और अपमान जन्य उपेक्षित जिंदगी की कथा का मानवीय पक्ष प्रत्यक्ष करने की जिज्ञासा रचता है।”³²

विदित है कि किन्नरों के जीवन, समस्या और पीड़ा पर सभा-संगोष्ठी, बहस मुबाहिसे करते करते बहुत देर की जा चुकी है, पर इनके जीवन में कुछ दुरुस्त कब हो पाएगा, यह कौन बतलाएगा?

संदर्भ:

1. भागवत प्रसाद, मनुष्य माने जाने का संघर्ष, पक्षधर, जुलाई-दिसम्बर 2017
2. पुनीता जैन, एक वंचित समुदाय पर विवाद, लहक, जून 2017
3. चित्रा मुद्गल, पोस्ट बॉक्स नं 203 नाला सोपारा, पृ. 42
4. वही, पृ. 104
5. वही, पृ. 86
6. वही, पृ. 153
7. वही, पृ. 186-187
8. वही, पृ. 187
9. वही, पृ. 189

10. वही, पृ. 189
11. वही, पृ. 189
12. वही, पृ. 190
13. वही, पृ. 190
14. सतीश पाण्डेय, सामाजिक क्रूरता के विरुद्ध मानवीय पहचान पाने की संघर्ष कथा, किन्नर विमर्श, पोस्ट बॉक्स नं 203 नाला सोपारा, संपादक : करुणा शंकर उपाध्याय, सामयिक प्रकाशन, 2024
15. चित्रा मुदगल, पोस्ट बॉक्स नं 203 नाला सोपारा, पृ. 193
16. वही, पृ. 195
17. वही, पृ. 195-196
18. रोहिणी अग्रवाल, गाली नहीं मनुष्य हूँ मैं, हंस, अक्टूबर 2018
19. चित्रा मुदगल, पोस्ट नं 203 नाला सोपारा, पृ. 50
20. वही, पृ. 33
21. वही, पृ. 31
22. प्रियंका नारायण, किन्नर : सेक्स और सामाजिक स्वीकार्यता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2023, पृ. 40
23. चित्रा मुदगल, पोस्ट बॉक्स नं 203 नाला सोपारा, पृ. 205
24. वही, पृ. 205
25. वही, पृ. 151
26. विवेक मिश्र, परकटे परिंदों का पता, पाखी, फरवरी 2017
27. वही।
28. चित्रा मुदगल, पोस्ट बॉक्स नं 203 नाला सोपारा, पृ. 219
29. वही, पृ. 43
30. सुधा उपाध्याय, मानवीय संरचना के खंडित मूल्य, नया ज्ञानोदय, अगस्त 2018
31. चित्रा मुदगल, सामयिक सरस्वती, 2015
32. रमेश दवे, समकालीन भारतीय साहित्य, नवंबर 2016



छायावादी कविता में 'श्रांत'

○ सुचिता वर्मा*

'श्रांत' का अर्थ होता है थका हुआ, श्रांत, सौम्य आदि। यह शब्द विभिन्न अर्थ-छवियों में छायावादियों के द्वारा प्रयुक्त हुआ है। 'श्रम्' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगने से यह शब्द बना है। इसका शाब्दिक अर्थ स्वाभाविक रूप से यही होगा कि श्रम करने से थका हुआ कोई व्यक्ति या कोई और! छायावादियों के कविता-संसार में कोई भी थक सकता है। हो सकता है कि वह कोई व्यक्ति हो, हो सकता है कि वह कोई गतिशील चीज हो, हो सकता है कि वह कोई भावना हो! छायावादियों ने मानवीकरण को व्यापकता दी थी। उन्होंने न जाने किन-किन मानवेतर सन्दर्भों को मानवोचित गरिमा प्रदान की थी। इसलिए 'श्रांत' कोई भी हो सकता था। उसका मनुष्य होना जरूरी नहीं था।

पहले हम देखते हैं 'श्रांत' के शाब्दिक अर्थ में हुए प्रयोग को। मनु और श्रद्धा का पुत्र मानव चलते-चलते थक गया है,

'श्रद्धा रुकी कुमार श्रान्त था मिलता है विश्राम यहीं' : प्र.ग्रं.-2/219, निर्वेद/कामायनी

पन्त की कविता में भी जीव-जंतु शाम में थक कर लौट रहे हैं। मगर एक बात जोड़ दी गयी है कि 'चराचर' लौटे हैं। तब अर्थ लेना पड़ता है कि चर-अचर से बनी सम्पूर्ण प्रकृति थककर अपने विश्राम-स्थान पर लौट आयी है ताकि आराम कर सके!

'लौटे गृह सब श्रान्त चराचर' : पं.ग्रं.-1/291, एक/ज्योत्स्ना

एक और सरल प्रयोग यह कि धीर समीर के स्पर्श से मनु का थका हुआ शरीर पुलकित होने लगा। अभी तक मनु प्रलय की चोट और उसकी स्मृति से थके-हारे थे। 'चिंता' के बाद 'आशा' सर्ग तक पहुँचती हुई कथा मनु के जीवन में आशा का संचार करने लगी थी,

'धीर समीर परस से पुलकित/विकल हो चला श्रांत शरीर;' : प्र.ग्रं. - 2/77, आशा/कामायनी

'गुंजन' और 'युगपथ' की निम्नलिखित पंक्तियों में 'हवा' थक गयी है। एक में 'सन्ध्या-वात' है दूसरी पंक्ति में 'वायु'। दोनों 'श्रांत' हो रही हैं। मनुष्य और जीव-जंतु के जिक्र से आगे बढ़ते हुए 'हवा' के 'श्रांत'

* एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, के.प्र.मि. राजकीय महिला महाविद्यालय, औराई, भदोही, उत्तर प्रदेश।

हो जाने की चिंता छायावाद के संवेदनात्मक विस्तार को व्यक्त करती है,

‘श्रान्त, सोती जब सन्ध्या-वात, /विश्व-पादप निश्चल, निष्प्राण, /- जगाता तू पुलकित कर पात/जगत-जीवन का शतमुख-गान।’ : पं.ग्रं.-1/267, विहग के प्रति/गुंजन

‘अब सूनी दिशि औ’ श्रान्त वायु’ : पं.ग्रं.-2/20, शुक्र/युगपथ

पन्त की प्रसिद्ध कविता ‘नौका-विहार’ में गर्मी की गंगा दुबली-पतली हो गयी हैं, वह थककर लेट गयी हैं। ‘हवा’ के बाद अब ‘गंगा’ का श्रांत होना देखिए,

‘सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म-विरल, लेटी हैं श्रान्त, क्लान्त, निश्चल!’ : पं.ग्रं.-1/274, नौका-विहार/गुंजन

ऊपर के उदाहरणों में ‘श्रांत’ शब्द के शाब्दिक और अभिधात्मक अर्थ तक की प्रयुक्तियाँ मिलती हैं। अब कुछ ऐसे उदाहरणों को देखना चाहिए जहाँ अर्थ का विस्तार कुछ दूसरी दिशाओं की ओर उन्मुख होता है। मनु श्रद्धा से नाराज होकर चल पड़ते हैं। श्रद्धा गर्भवती है। वह मनु को रुकने के लिए पुकारती है। उसकी पुकार में पीड़ा है, बेचैनी है और गर्भावस्था के कारण शिथिलता है। इसलिए यहाँ ‘श्रांत’ का अर्थ सामान्य थकान से आगे बढ़कर शारीरिक शिथिलता और मानसिक अवसाद से जुड़ा है,

‘रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही!’ वह कहती रही अधीर श्रांत!’ : प्र.ग्रं.-2/168, ईर्ष्या/कामायनी

महादेवी ‘श्रांत’ शब्द का प्रयोग कम करती हैं। संभवतः केवल यही एक प्रयोग ‘दीप-शिखा’ की इस पंक्ति में मिलता है। महादेवी का अज्ञात प्रियतम प्रलय के रथ पर आया है मगर थका हुआ है,

‘रश्मि विद्युत् ले प्रलय-रथ पर भले तुम श्रांत आए’ : म.सा.-1/337 धूप-सा तन दीप-सी मैं!/दीप-शिखा

‘सांध्य गीत’ में एक जगह ‘श्रांतिमय क्षण’ का प्रयोग मिलता है। महादेवी की कविताएँ ‘श्रांत’, ‘अश्रांत’, ‘विश्रांत’ आदि से दूरी रखती हैं। ‘श्रांतिमय क्षण’ का प्रयोग किसी दूसरे छायावादी कवि ने नहीं किया है। यहाँ भी अर्थ की वक्रता देखिए कि महादेवी कहती हैं कि मुझे वरदान में मिला प्रत्येक क्षण मानो थकान से भरा था,

‘श्रांतिमय कण/श्रांतिमय क्षण/थे मुझे वरदान, जो तुम/माँग ममता शेष लेते!’ : म.सा.-1/260 मेरा सजल मुख देख लेते!/सांध्य गीत

‘श्रांत’ शब्द के प्रयोग को अर्थ की गंभीरता प्राप्त करते हुए कुछ दूसरे रूपों में भी देखना चाहिए। ‘आशा’ सर्ग में मनु ने प्रलय के बाद के विश्व को एकदम खामोश पाया। कोई आवाज नहीं। आवाज करनेवाले जीव-जंतु नष्ट हो चुके थे और हिमालय का वह एकांत सन्नाटे से भरा था। मगर मनु की स्मृति में देवलोक की मधुर ध्वनियाँ, प्रलय का हाहाकार आदि न जाने कितने स्वर उठा-पटक मचा रहे थे। उन्हें अब लग रहा था कि हिमालय की बर्फीली जड़ता में कोलाहल थक कर सो गया हो,

‘देखा मनु ने वह अतिरंजित विजन विश्व का नव एकांत, / जैसे कोलाहल सोया हो हिम-शीतल-जड़ता-सा श्रांत’ : प्र.ग्रं.-2/68, आशा/कामायनी

दिनभर के परिश्रम से थककर आलोक-रश्मियाँ रात्रि के आकाश की नीलिमा में छिप गयी हैं,

‘दिवा-श्रांत आलोक-रश्मियाँ नील निलय में छिपी कहीं’ : प्र.ग्रं.-2/189, स्वप्न/कामायनी

मनु को चेतावनी देती हुई अभिशाप की ध्वनि ‘इड़ा’ सर्ग में उभरती है और धिक्कारती है कि वह बुद्धिवादी

धारणा अपनी बुद्धि के वैभव के कारण भ्रमित रहेगी। वह थकी रहेगी और चलते रहने को बेबस रहेगी। 'श्रांत' रहना और चलते रहने को अभिशप्त रहना,

‘निज बुद्धि विभव से रहे भ्रांत/वह चलता रहे सदैव श्रांत!’ : प्र.प्रं.-2/177, इडा/कामायनी

‘रहस्य’ सर्ग की पंक्तियाँ अभिधात्मकता तक सीमित नहीं हैं। इन पंक्तियों में रहस्यानुभूति की प्रधानता है। तमाम संघर्षों से थककर-ऊबकर मनु के जीवन में यह चरण आता है जहाँ वे आत्मावलोकन करते हैं और सृष्टि के रहस्यों की तरफ उन्मुख होते हैं। श्रद्धा कहती है मनु से कि हम-तुम पक्षी के जोड़े की तरह रहें। आँखें बंद कर लें और पंखों को शांत कर लें। ‘श्रांत’ का आशय इस जगह पर थककर शांत हो जाने के अर्थ में लिया जाना चाहिए,

‘श्रांत पक्ष, कर नेत्र बंद बस विहग युगल से आज हम रहें’ : प्र.प्रं.-2/254, रहस्य/कामायनी

निराला के तीन प्रयोगों को यहाँ रखा जा रहा है। ‘राम की शक्ति-पूजा’ में यह पंक्ति आती है,

‘जो नहीं हुआ आज तक हृदय रिपु-दम्य-श्रान्त,’ : नि.र.-1/330, राम की शक्ति-पूजा

राम का हृदय दुश्मनों का दमन करने से कभी न थका था। वे निरंतर विजयी हुए थे और आत्मविश्वासपूर्वक युद्ध में सम्मिलित होते रहे थे। मगर इस बार रावण ने उन्हें थका दिया था, बेबस कर दिया था। निराला ने इस परिस्थिति को व्यक्त करने के लिए ‘श्रांत’ शब्द का प्रयोग राम की अजेयता की याद में किया है।

निराला की प्रसिद्ध कविता है ‘तुम और मैं’। इसमें ‘तुम’ और ‘मैं’ के बीच बनने वाले संबंध को कई तरह से देखा गया है। एक अर्थ में यह जीव और ब्रह्म का द्वैतवादी संबंध भी है और दूसरे अर्थ में अद्वैतवादी भी! ‘तुम तुंग-हिमालय-शृंग’ हो ‘और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।’ दोनों का अपना अस्तित्व है इसलिए इसे द्वैतवाद मानना पड़ेगा। उसी हिमालय से सुर सरिता निकली है इसलिए अद्वैत भी है! एक अर्थ गहन प्रेम-संबंध से जुड़ा हुआ है। ये सारी बातें गहन प्रेम की भूमि पर सार्थकता प्राप्त कर लेती हैं, भले ही थोड़ी रहस्यमयता के साथ! रामचंद्र शुक्ल इस तरह की प्रवृत्ति को ‘भावात्मक रहस्यवाद’ कहते हैं और इसे ठीक मानते हैं। ‘मलिक मुहम्मद जायसी’ पुस्तक में वे लिखते हैं,

“अद्वैतवाद मूल में एक दार्शनिक सिद्धान्त है, कविकल्पना या भावना नहीं है। वह मनुष्य के बुद्धिप्रयास या तत्त्वचिंतन का फल है। वह ज्ञानक्षेत्र की वस्तु है। जब उसका आधार लेकर कल्पना या भावना उठ खड़ी होती है अर्थात् जब उसका संचार भावक्षेत्र में होता है तब उच्च कोटि के भावात्मक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है।” (रामचंद्र शुक्ल रचनावली - सं. - नामवर सिंह, आशीष त्रिपाठी; राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2016 खंड - 2, पृ. सं. - 444)

निराला उस प्रेमास्पद को दूर का पथिक बताते हैं और स्वयं को ‘बाट जोहती आशा’। प्रेमिका पूरी आशा के साथ राह देख रही है। पथिक यात्रा की थकान से भरा है और उसे भी आशा है कि वह उसकी राह देख रही होगी। प्रेम की गहरी और विकल अनुभूति से बनी हुई यह भाषा ‘श्रांत’ शब्द से सज्जित है। छायावादी काव्य-भाषा की व्यंजना-पद्धति, शब्द के अर्थ को, विस्मय-विमुग्धता की ऊँचाई तक पहुँचाने में सफल रही है।

‘तुम पथिक दूर के श्रान्त और मैं बाट जोहती आशा,’ : नि.र.-1/50, तुम और मैं/परिमल

इस बात पर आलोचकों का ध्यान कम गया है कि निराला ने 1924 के आस-पास की कई कविताओं में अपनी प्रिया को याद किया है। पत्नी मनोहरा देवी की मृत्यु के बाद का यही दौर है। इन कविताओं में उन्होंने पत्नी का जिक्र सीधे-सीधे नहीं किया है। प्रेमिका और पत्नी का मिलाजुला भावप्रवण रूप इन कविताओं के

कथ्य में घुलमिल गया है। 'प्रिया से' एक ऐसी ही कविता है। इसमें कल्पना है कि प्रिया राह चलकर थक गयी है। वह सोये हुए पति के मन में घुमड़ती स्मृतियों में प्रवेश कर जाती है और साथ-साथ सो जाती है। वियोग की व्याकुलता का अद्भुत रोमानी अंदाज है यह! इस राहत को क्या कहा जाए? राहत दिलाने में 'श्रांत' शब्द की भूमिका देखिए! प्रिया 'श्रांत' है इसलिए सो गयी और भाव-विन्यास सार्थक हुआ। वह अगर न थकती तो सोती भी नहीं और भाव बिखर जाता। कान्त जाग जाता और सामने सूनापन के सिवा कुछ न होता,

'अलक-सुगंध मंद मलयानिल धीरे-धीरे ढोती, /पथ श्रान्त तू सुप्त कान्त की स्मृति में चलकर सोती' : नि.र.-1/98, प्रिया से/अनामिका

'श्रांत' से शब्द बना 'श्रांता'। अर्थ हुआ थकी हुई स्त्री या कोई स्त्रीलिंग रूप। केवल पन्त को यह रूप सूझा। 1920 की एक कविता 'छाया' में इसका दो बार प्रयोग किया। एक में वनगमन के समय रास्ते में चलकर थकी हुई द्रौपदी को 'छाया' का उपमान बनाने के लिए,

'तुम पथ श्रान्ता द्रुपद सुता-सी' : पं.ग्रं.-1/204, छाया/पल्लव

और दूसरे प्रयोग में रति-कर्म के कारण थकी हुई गोपी की तरह 'छाया' को बताने के लिए,

'रति श्रान्ता ब्रज वनिता-सी' : पं.ग्रं.-1/203, छाया/पल्लव

'थकी हुई स्त्री' के अर्थ में एक प्रयोग 'वीणा' की एक कविता में मिलता है,

'केवल श्रान्ता के साथी हैं' : पं.ग्रं.-1/91, उस सीधे जीवन का श्रम/वीणा

संभवतः पन्त ने इसका प्रयोग किसी अन्य कविता में नहीं किया है। शेष छायावादियों में 'श्रांता' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। अंतर के बावजूद शब्द-चयन में चारों कवि विशिष्ट हैं। निरंतर शब्दों की तलाश और तराश की इच्छा-शक्ति इन्होंने नहीं छोड़ी। शब्दों के सौंदर्य को समझा-बूझा और अपनाया। जब लगा कि बस हो गया इसका काम, तो उस शब्द को छोड़ भी दिया। शब्दों के अनुसंधान, प्रयोग और पूर्णाहुति की प्रक्रिया से छायावादी काव्य-भाषा भरी पड़ी है।

'श्रांत' से बना हुआ शब्द है 'श्रांति'। इसका अर्थ है थकावट, क्लान्ति, परिश्रान्ति आदि। 'श्रांत' और 'श्रांति' में मात्रा की दृष्टि से कोई फर्क नहीं है। दोनों में तीन-तीन मात्राएँ हैं। एक विशेषण है और दूसरा भाववाचक संज्ञा। प्रसंग के अनुसार हेर-फेर से विशेषण और भाववाचक संज्ञा का प्रयोग प्रायः समान भाव उत्पन्न करता है। 'श्रांत' शब्द के प्रयोग तो चारों कवि करते हैं, मगर 'श्रांति' शब्द का प्रयोग महादेवी को छोड़कर शेष तीनों करते हैं। प्रसाद मानते हैं कि उन्नति की ओर बढ़ते हुए थकान महसूस नहीं होती है,

'उन्नति का आरोहण, महिमा शैल-शृंग सी श्रांति नहीं' : प्र.ग्रं.-2/189, स्वप्न/कामायनी

पन्त का यह भाव एक दार्शनिक निष्कर्ष है कि ज्ञान वस्तुतः वह बिंदु है जहाँ हमारी इन्द्रियाँ थक जाती हैं। यदि इन्द्रियाँ न थकें तो ज्ञान की पिपासा और आगे बढ़ सकती है। ज्ञान को इन्द्रियों की 'श्रांति' कहकर पन्त ने कहना चाहा है कि ज्ञान तो अनंत होता है। जिन्हें लगता है कि उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया है वह वस्तुतः उनकी इन्द्रियों के थक जाने की परिणति है,

'ज्ञान? यह तो इन्द्रियों की श्रान्ति है' : पं.ग्रं.-1/138, ग्रन्थि

एक और प्रयोग देखिए,

'श्रान्ति, अलस औ' श्रम अतिशय' : पं.ग्रं.-1/91, उस सीधे जीवन का श्रम/वीणा

निराला का आत्मसंघर्ष 'श्रान्ति और प्रतीति' के घर्षण में व्यक्त हो रहा है। थकान या निराशा भी थी और

विश्वास की प्रतीति भी बनी हुई थी। लग रहा था कि कुछ अच्छा भी हो रहा है,

‘श्रान्ति और प्रतीति की/चल रही थी तूलिका/विश्व पर विश्वास छाया था नया।/कल्प-तरु के नये कोपल थे उगे।’ : नि.र.-1/139, नारायण मिलें हँस अन्त में

‘श्रांत’ और उससे बने शब्दों के इन प्रयोगों के बाद तीन शब्दों को देखना बाकी रह गया है - अश्रांत, विश्रांत और विश्रांति.

‘विश्रांति’ शब्द छायावादी काव्य-भाषा में है ही नहीं। इसका प्रयोग चारों कवियों में से किसी ने नहीं किया है।

‘अश्रांत’ और ‘विश्रांत’ के प्रयोग केवल जयशंकर प्रसाद की कविताओं में मिलते हैं। ‘अश्रांत’ का अर्थ है अथक, निरंतर, लगातार आदि। ‘विश्रांत’ का अर्थ है सौम्य, शांत, स्वस्थ आदि।

‘अश्रांत’ शब्द के प्रयोग ‘झरना’, ‘लहर’ और ‘कामायनी’ की इन पंक्तियों में देखे जा सकते हैं। कई ढंग की अर्थ-छायाओं में प्रसाद इस शब्द के प्रयोग कर रहे हैं,

‘उषा के चंचल में अश्रान्त’ : प्र.ग्र.-1/231 किरण/झरना

‘दीनता लाती थी अश्रान्त’ : प्र.ग्र.-1/258 आशालता/झरना

‘चन्द्रमा नभ में हँसता था, बज रही थी वीणा अश्रान्त’ : प्र.ग्र.-1/266 झील में/झरना

‘झील, झाई, नभ, शशि, तारा, विटप इंगित करते अश्रान्त’ : प्र.ग्र.-1/266 झील में/झरना

‘बरसने ज्यों मदिरा अश्रांत’ : प्र.ग्र.-1/305 आह रे, वह अधीर यौवन/लहर

‘एक लघु ज्वालामुखी अचेत/माधवी रजनी में अश्रांत’ : प्र.ग्र.-2/84, श्रद्धा/कामायनी

‘चल पड़े कब से हृदय दो, पथिक-से अश्रांत’ : प्र.ग्र.-2/111, वासना/कामायनी

‘राशि-राशि नखत-कुसुम की अर्चना अश्रांत’ : प्र.ग्र.-2/117, वासना/कामायनी

इसी तरह हम ‘विश्रांत’ शब्द के प्रयोग को ‘झरना’ और ‘कामायनी’ में देख सकते हैं। मूल अर्थ वही रखते हुए अर्थ की अनेक छायाएँ उत्पन्न कर देना छायावादी कवियों की विशेषता रही है। इन पंक्तियों के प्रसंगों में प्रवेश करने पर पूरा भाव-विन्यास खुलता है। तब हम पाते हैं कि ये शब्द इन प्रयोगों के कारण कितनी दूर तक अर्थ के विस्तार ले जा रहे हैं। इन शब्दों की ऐसी शक्ति इन प्रयोगों के कारण खुलकर सामने आती है,

‘करुणा का विश्रान्त चरण है’ : प्र.ग्र.-1/234, विषाद/झरना

‘शक्ति रही हाँ शक्ति, प्रकृति थी/पद-तल में विनम्र विश्रांत;’ : प्र.ग्र.-2/56, चिंता/कामायनी

‘मधुर विश्रांत और एकांत- / जगत का सुलझा हुआ रहस्य,’ : प्र.ग्र.-2/83, श्रद्धा/कामायनी

‘सो रही थी शिशिर-कण की सेज पर विश्रांत’ : प्र.ग्र.-2/116, वासना/कामायनी

‘दिवाकर दिन या परिश्रम का विकल विश्रांत’ : प्र.ग्र.-2/118, वासना/कामायनी

‘श्रांत’, ‘श्रांता’, ‘श्रांति’, ‘अश्रांत’, और ‘विश्रांत’ के इन प्रयोगों को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि छायावादी काव्य-भाषा शब्दों पर किस बारीकी से सोचती-विचारती और प्रयोग करती है। इन चारों कवियों के बीच काव्य-भाषा की पर्याप्त भिन्नता के बावजूद ‘कहियत भिन्न न भिन्न’ की एकता भी मिलती है।



संदर्भ :

नोट : सभी संदर्भ निम्नलिखित ग्रंथावलियों से लिए गए हैं,

- प्र.ग्रं. - जयशंकर प्रसाद ग्रन्थावली (कुल 7 खंड), संपादक : ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, दरियागंज, नयी दिल्ली, 2014 (इस कोश में खंड संख्या 1 एवं 2 का उपयोग किया गया है)
- नि.र. - निराला रचनावली (कुल 8 खंड), सम्पादक : नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, 1998 (इस लेख में खंड संख्या 1 का उपयोग किया गया है)
- पं.ग्रं. - सुमित्रानंदन पंत ग्रन्थावली (कुल 7 खंड), राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, 2011 (इस कोश में खंड संख्या 1 एवं 2 का उपयोग किया गया है)
- म.सा. - महादेवी साहित्य (कुल 4 खंड), सम्पादक : निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007 (इस लेख में खंड संख्या 1 का उपयोग किया गया है)



प्रतिरोधी चेतना के कवि : सूरदास

○ सत्येन्द्र प्रताप सिंह*

हिन्दी साहित्य में मध्यकाल समय के सापेक्ष अपनी प्रासंगिकता को निरंतर बनाए हुए है, जहाँ पाश्चात्य साहित्य में मध्यकाल अंधकार का काल माना गया। वही हमारे यहाँ ये एक ऐसा प्रकाश का काल माना गया जिसकी कान्ति की आभा अभी भी अपनी चमक को बिखेर रही है। मध्यकाल जिससे मुख्य अभिप्राय प्रायः भक्तिकाल से अभिहित किया जाता है, जिसकी आभा की निरंतर चमक के पीछे इस काल के कवियों के भीतर विद्यमान वैविध्यता है। ये कवि भक्त जरूर थे लेकिन ये सजग व चेतना से युक्त भी थे। इनके यहाँ तत्कालीन समस्याओं के विरुद्ध एक प्रतिरोध देखने को मिलता है; जैसे, कबीर के यहाँ सामाजिक स्तर पर, तुलसी के यहाँ धार्मिक स्तर पर तो वहीं सूरदास के यहाँ लोक के स्तर पर व्यापक प्रतिरोधी चेतना देखने को मिलती है। सूरदास के अलावा अन्य कवियों की प्रतिरोधी चेतना पर विस्तार से चर्चा मिलती है, लेकिन सूरदास के प्रतिरोधी चेतना पर अपेक्षाकृत कम चर्चा मिलती है। सूरदास को मूलतः भक्त कवि माना जाता है, इसीलिए उनके काव्य में वर्णित लोक के स्वरूप को भक्तिमय मान लिया जाता है। लेकिन सूरदास के काव्य में वर्णित लोक को यदि प्रख्यात आलोचकों के दृष्टिकोण के आधार पर पूर्वाग्रही हो कर न देखें तो ये एक अलग रूप में हमारे सामने आता है और अपने भीतर एक मजबूत प्रतिरोध की चेतना को लिए हुए हमारे सामने उभर कर आता है। जो अपनी स्पष्ट उपस्थिति के लिए और अधिक विवेचन की आवश्यकता को रेखांकित करता है। यह प्रतिरोधी चेतना केवल सगुण और निर्गुण के द्वंद्व में ही नहीं अपितु कई तरह की रूढ़ियों व समस्याओं के खिलाफ भी है। इसमें शास्त्र का, पितृसत्तात्मकता का, सामंतवाद का साथ ही अभिजात्यता का विरोध है। ये प्रतिरोध लोक के उन व्यक्तियों के द्वारा है जो समाज के सर्वाधिक वंचित समाजों में से एक है। इसमें गोपियों द्वारा कृष्ण के प्रति प्रेम से केवल उनके और कृष्ण के बीच का प्रेम नहीं रहता है अपितु उसमें सम्पूर्ण अंचल शामिल होता है इसीलिए वियोग की अवस्था में वो चाहती तो तीन कोश की दूरी पर जा कर कृष्ण से मिल सकती थी, लेकिन वो मथुरा वाले कृष्ण से नहीं अपने आंचलिक कृष्ण गोकुल वाले से मिलना चाहती हैं। इस प्रतिरोधी चेतना को नजरंदाज करते हुए शुक्ल जी उनके वियोग को हास्यापद मानते हैं और लिखते हैं, “जीवन की गंभीर

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

मो न. 9818834864, Email : spsingh@hindi.du.ac.in

समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उसमें वह वस्तु-गांभीर्य नहीं है जो गोस्वामी जी की रचनाओं में है। परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखाई पड़ती है जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थी। गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस दूर एक नगर में राजसुख भोग रहे थे।” शुक्ल जी के इस कथन में अभिजात्यवादी दृष्टिकोण नजर आता है। लोक के लोग अपनी मरजाद के लिए घर के देहरी नहीं लांघ पाते हैं तो यहाँ फिर भी तीन से चार कोस की दूरी है; खैर वह प्रेम कोई और होगा जो दूरियों व परिस्थितियों में मापा जाता है, लोक में प्रेम अनुभूति का विषय होता है। मछली जल से अलग हो जाने पर प्राण त्याग देती है, चाहे दूरी कम हो या अधिक। कृष्ण राजयोग भोग रहे हैं तो क्या हुआ गोपियाँ अपने हिस्से के वियोग को तो ईमानदारी से झेल रही हैं। ये उनका प्रतिरोध ही हैं इतनी कम दूरी होने पर भी वे वियोग की आग में जलना पसंद करती हैं न कि संयोग के सुख को भोगना पसंद करती हैं। गोपियों को कृष्ण के अभिजात्य रूप से प्रेम नहीं है, उन्हें गोकुल में रहने वाले लोक वाले कृष्ण से प्रेम है इसीलिए वे दो-चार कोस की दूरी पर स्थित मथुरा वाले कृष्ण से नहीं मिलना चाहती हैं। यहाँ गोपियों के माध्यम से अभिजात्यता का सशक्त प्रतिरोध करते हुए सूरदास नजर आते हैं -

“हमसों कहत कौन की बातें ?

X X X X

को नृप भयो कंस किन मार्यों को वसुधा-सुत आहि ?

यहाँ हमारे परम मनोहर जीजतु हैं मुख चाहि ॥

दिनप्रति जात सहज गोचारन गोप-सखा लै संग ।”²

यहाँ गोपियाँ मथुरा वाले कृष्ण के अस्तित्व को नकार देती हैं, क्योंकि उन्हें गोचारन वाले कृष्ण से प्रेम है। साथ ही वे स्पष्ट करती हैं कि हमारा प्रेम आंचलिकता से युक्त है और इस आंचलिकता के बाहर उस प्रेम का अस्तित्व नहीं है। उन्हें गोकुल वाले कृष्ण से प्रेम है न कि मथुरा वाले कृष्ण से प्रेम है। यह सूरदास का अपने युगीन सामाजिक सरोकार से जुड़ा होना प्रदर्शित करता है, जिसकी तरफ संकेत करते हुए मैनेजर पांडे लिखते हैं, “सूरसागर जीवन और जगत का सत्य ही काव्य का सत्य, सुर की आत्मा का सत्य बन गया है और यही सगुण-लीला या नरलीला का उद्देश्य भी है। भागवत में आध्यात्मिक सत्य ही सत्य है शेष असत्य।”³ सूरदास ने कृष्ण की कथा को परंपरा से ग्रहण करते हुए उसमें अपनी प्रतिरोधी चेतना, जो गहरे सामाजिक सरोकार से आबद्ध है, से युक्त है। इन्होंने उस परंपरा को स्वीकार किया लेकिन अपनी रचनात्मकता से इसे एक नए अर्थ व संदर्भ से युक्त किया। नवीन व मौलिक प्रसंगों का सृजन व कृष्ण कथा की परंपरा को लोक से जोड़ कर उसे जीवंतता प्रदान करते हैं। साथ ही आने वाले कवियों के लिए कृष्ण के चरित्र को सहज स्वीकार्य बनाते हैं। मैनेजर पांडे भी इस बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि “सूरदास ने अपने रचनात्मक उद्देश्य के अनुरूप परंपरा से प्राप्त कृष्णकथा में नवीन संदर्भों और नए प्रसंगों को जोड़कर उसे नए भावों, विचारों और नए अर्थों की अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाया है। अनेक स्थानों पर सूरदास ने भागवत में उपलब्ध कथा का प्रसंग ही बदल दिया है, और उसको सुरसागर की काव्यवस्तु के अनुरूप नया रूप निर्मित किया है।”³ सूरदास के साहित्य में नवीनता व मौलिकता के पीछे निस्संदेह उनका लोक जीवन से गहरे रूप से जुड़े होना था। इनका आग्रह लोक जीवन के प्रति इतना गहरा था कि कृष्णकथा के शास्त्रीय संस्कार इनके कवि हृदय को प्रभावित नहीं कर सके। इसीलिए इनको कृष्ण के मथुरा वाले वैभव व ऐश्वर्य वाले रूप की अपेक्षा कृष्ण के गोकुल वाले लोक के रूप के वर्णन में अधिक रुचि थी। हालांकि, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का मत इससे विपरीत है। उनके अनुसार

सूरदास ने कृष्ण और गोपियों के प्रेम को लोकमर्यादा से परे जीवनोत्सव के कीड़ा के रूप में सामने रखा है— “सूर का प्रेम-पक्ष लोक से न्यारा है। गोपियों के प्रेमभाव की गंभीरता आगे चलकर उद्धव का ज्ञान-गर्व मिटाती हुई दिखाई पड़ती है। वह भक्ति की एकांत साधना का आदर्श प्रतिष्ठित करती हुई जान पड़ती है, लोक-धर्म के किसी अंग का नहीं है।”⁴ शुक्ल जी के इस कथन की गहराई में विश्लेषण करने से पहले शुक्ल जी के लोकधर्म पर बात करें तो यह स्पष्ट होता है कि लोक जीवन का जितना गहरा जुड़ाव सूरदास के साहित्य में दिखाई पड़ता है। वह शायद ही कृष्ण काव्य परंपरा में किसी और के यहाँ दिखाई पड़े। सूर की गोपियाँ लोक आधारित उक्तियों व मुहावरों के माध्यम से लोक परंपरा का पालन करते हुए, जिसे लोक लाज भी कह सकते हैं, गोपियाँ स्वयं कृष्ण से मिलने नहीं जाती हैं। उन्हें अनिश्चित समय तक प्रतीक्षा करना स्वीकार है, लेकिन अपने स्वाभिमान से समझौता करना नहीं। यहाँ यह कहना उचित नहीं होगा कि गोपियों का प्रेमभाव लोकधर्म से परे है या हो सकता है कि शुक्ल जी का लोकधर्म का स्वरूप दूसरा हो। गोपियों के भीतर एक चेतना थी जो कृष्ण के प्रति निश्चल प्रेम से संबंधित थी। वे उन्हें एक सामाजिक समुदाय के रूप में एकत्रित करती हैं, जिसके पीछे सूरदास की मानसिक निर्मिति थी। यह चेतना मौलिक नहीं थी, परंपरा से प्राप्त थी लेकिन इसमें एक काल्पनिक संसार की निर्मिति है, जिसमें पर्याप्त प्रतिरोध दिखायी पड़ता है जिसे साहित्य की सामाजशास्त्रीय अवधारणा के तहत समझा जा सकता है। इसी को लुसिए गोल्डमैन के शब्दों में कहें तो “एक साहित्यिक कृति में निहित जो मेंटल स्ट्रक्चर है और सामाजिक समुदाय में जो मेंटल स्ट्रक्चर है, इन दोनों में कितना संबंध का निर्वहन हुआ है, यह खोज करना ही साहित्य का समाजशास्त्र है।”⁵ किसी भी साहित्य की प्रासंगिकता उसके सामाजिकता में ही आधुनिक समय में खोजी जाती है। सूरसागर में सूरदास उद्धव के चरित्र के माध्यम से भारतीय शास्त्रीय ज्ञान परंपरा के रूढ़ बिंदुओं पर प्रहार करते हैं। उद्धव और गोपी संवाद के माध्यम से अपनी प्रतिरोध की क्षमता को स्पष्ट करते हैं। गोपियों के द्वारा कही गई वक्रोक्ति या कहीं न कहीं सूरदास की प्रतिरोधी चेतना को स्पष्ट करती हैं। गोपियों अपनी वक्रोक्तियों में शास्त्रीय परंपराओं का उदाहरण देते हुए कई गंभीर प्रश्नों को, जो महिलाओं के विरुद्ध है, स्पष्ट करती हैं—

“कै तुम सीखै पाठाए कुब्जा ‘कै’ स्यामधन जू धौं?

वेद पुरान सुमुर्ति सब दूँढो जुवतिन जोग कहूँ धौं!”⁶

इसी तरह एक अन्य जगह पर भी सूरदास गोपियों के माध्यम से अपने प्रतिरोध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

“कहिये कहा यह हो नहीं जानत काहि जोग है जोग,

पा लगो तुमही सो वा पर बसत बावरे लोग॥

अंजन, अभरन, चीर, चारू, वरु नेक आप तन कीजै ।

दंड कमंडल भस्मधारी जो जुवतीं को दीजे ॥”⁷

यहाँ सूरदास गोपियों के माध्यम से शास्त्रों में जो स्त्रियों को वेद व योग के अध्ययन की मनाही थी, उस प्रश्न को यहाँ उभारते हैं और एक व्यंग्य के रूप में, एक वक्रोक्ति के रूप में गोपियों के मुख से कहलवाते हैं। यहाँ पर शास्त्र और योग के प्रतिनिधि के रूप में उद्धव उपस्थित थे, जिनसे गोपियाँ सहज और बहुत सामान्य से लगने वाले प्रश्न, जो कई सदियों से अनुत्तरित रहे हैं, का जवाब देने में शास्त्र एवं ग्रंथ निरुत्तर की स्थिति में रहे हैं। उन प्रश्नों को वक्रोक्ति के माध्यम से व मौलिकता से युक्त करके सूरदास कहीं अन्यत्र चोट पहुँचाए बिना सीधे यहाँ प्रश्न के मूल भाव को स्थापित करते हैं। लीला और सत्य के बारे में अंतर व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि “सत्य का वही रूप मनुष्य के काम का है जो उसकी अनुभूतियों का विषय बन सका है।

नित्यलीला बहुत बड़ी चीज है। भगवान का स्वरूप और भूमा रूप निसंदेह बड़े महत्त्व के हैं लेकिन आनंद रूप का महात्म्य अधिक है क्योंकि मनुष्य अपनी सीमाओं के भीतर से अपने देश काल परिच्छिन्न मन से जो अनुभव करता है वही उसका यथार्थ है।”⁸ चरित्र बोध के माध्यम से कृष्ण की लीला रूप में भी एक लौकिक चेतना की निर्मिति करना सूरदास की अपनी विशिष्टता थी। कृष्ण के चरित्र बोध के स्तर पर कृष्ण की आनंदमयी प्रेममयी स्वरूप को उभारकर सूरदास लाते हैं। यहाँ पर श्रीकृष्ण की लीलामयी स्वरूप के वर्णन के पीछे सूरदास का मुख्य उद्देश्य था, यथार्थ के धरातल पर आदर्श को उतारना। सूरदास लौकिक जगत् को स्वर्ग की कल्पना व सुंदरता से अधिक सुखद और इच्छित दिखाना चाहते थे। उनका उद्देश्य कृष्ण के दिव्य रूप से अधिक उनके मानव रूप को लोक के धरातल पर उतारना था। इसलिए वह कृष्ण के लौकिक रूप के प्रति अधिक आकर्षित दिखते हैं। सूरदास उद्धव के रूप में दिखाते हैं कि किस तरह से लोक की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति कितना भी अधिक अपने को ज्ञानी समझे लेकिन जब तक वह लोक की कसौटी पर नहीं खरा उतरेगा उसका ज्ञान सार्थकता को नहीं प्राप्त कर पाएगा। इसीलिए उद्धव और गोपियों के संवाद के अंतर्गत सूरदास यह बार बार दिखाते हैं कि उद्धव को मानव प्रकृति का वास्तविक ज्ञान नहीं है, नहीं तो वह कृष्ण के प्रेम में पड़ी हुई गोपियों को योग का संदेश नहीं देते। सूरदास दिखाते हैं किस तरह से प्रेम का सीधा सरल मार्ग है और उसकी तुलना में ज्ञान और योग का मार्ग अत्यंत अटपटा है और इस तुलना में सूरदास लोकोक्तियों और मुहावरों को उपयोग में लाते हैं और शास्त्रीय उक्तियों के विरुद्ध उन मुहावरों में अपनी प्रतिरोध की चेतना से एक धार देने की कोशिश करते हैं, जिसमें काफी हद तक सफल भी रहे हैं।

सूरदास शास्त्रीय रूढ़ियों के विरोध में शास्त्रों का सहारा न लेकर लोक का सहारा लेते हैं और वहाँ लोक में प्रचलित अत्यंत सामान्य सी बातों में बहुत ही विलक्षण तरीके से अपने अकाट्य तर्क को रखते हैं। इस तरह से यहाँ यह कहना कि सूरदास का प्रतिरोध लोक से जुड़कर और अधिक मजबूत बनता है। इस तरह के कई उदाहरणों में से एक उदाहरण की बानगी देखिए- किस तरह से सूरदास लोकोक्तियों का सहारा लेकर योग मार्ग को शास्त्रीयता का प्रतिरोध करते हैं।

“दाख छड़ि के कटुक निंबौरी को अपने मुख खैहे?

मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल देहै।”⁹

यहाँ शास्त्रीय ज्ञान व योग को सूरदास लोक की बिंब-चेतना पर आधारित अकाट्य तर्क से काटते हैं। सूरदास अपनी भक्ति चेतना में प्रतिरोध की चेतना को बराबर लिए रहते हैं। वे कहीं पर भी पूर्णभक्ति में अंधसमर्पण करते हुए नहीं दिखाई पड़ते। हालांकि, कृष्ण के प्रति उनका प्रेम अटल है जिसका उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं-

“हमारे हरि हारिल की लकड़ी

मन बच क्रम नंदनंदन सो उर दृण कर पकड़ी।”¹⁰

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास का अपने प्रभु के प्रति समर्पण में कोई कमी नहीं है। लेकिन यह लोक का समर्पण है जिसमें प्रतिरोध की पर्याप्त संभावना है, जिस कारण यह अन्य भक्त कवियों के समर्पण से भिन्न समर्पण है। इसलिए सूरदास को अन्य भक्त कवियों की तरह केवल मात्र एक भक्त कवि मानना कहीं से भी उचित नहीं होगा।

सूरदास की प्रतिरोधी चेतना उनके काव्य में नारियों की स्थिति में भी दिखती है। यहाँ वर्णित नारियाँ परंपरागत या शास्त्रीय नारियों की अपेक्षा लोक की नारियाँ हैं जो अपने आराध्य से प्रेम करती हैं तो उसमें कोई गुंजाइश नहीं रहती है, लेकिन यहाँ प्रेम में होने के साथ ही साथ अपनी प्रतिरोध की चेतना को भी अपने भीतर

लिए रहती है। हालाँकि, गोपियाँ प्रेम की मूर्तियाँ भी हैं। उनका प्रेम किसी भी तरह के बंधन से मुक्त है। वह एक उन्मुक्त गगन की उन्मुक्त पक्षियों की भाँति प्रेम करती हैं। उनके प्रेम के उदात्त भाव में जहाँ शास्त्रीय मर्यादाएँ और लोक की मर्यादाएँ मिट जाती हैं, वहीं उनके स्वाभिमान की मर्यादा कहीं न कहीं उन्हें बांधकर रखती हैं। इसलिए वे प्रेम में स्वयं को मिटा देना पसंद करती हैं लेकिन दो कोस की दूरी पर मथुरा जाके कृष्ण से स्वयं नहीं मिल पातीं, क्योंकि इनके भीतर का प्रतिरोध लोक में मर्यादाओं को निभाने से लेकर आवश्यकता पड़ने पर परमार्थ हेतु मर्यादाओं को तोड़ने तक विस्तारित है। इनकी गोपियाँ प्रेम के वियोग में रोती हुई गोपियाँ नहीं हैं बल्कि वह अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन करती हुई केवल प्रेम में नहीं खोती है, बल्कि उस तड़प में भी अपने अस्तित्व को बनाए हुए अपने प्रियतम को पाने के लिए लगातार संघर्ष करती हुई दिखाई देती हैं। इसलिए इनका वियोग वियोग ना होकर एक संघर्ष के रूप में दिखता है और इस संघर्ष की गुंजाइश को बनाए रखने के पीछे की जो ताकत है वह सूरदास की प्रतिरोध की लोक चेतना है। सूरदास की गोपियाँ आचरण की पवित्रता को बनाए रखने के लिए जिस हद तक आग्रही है, उससे अधिक परमार्थ हेतु अपने प्रत्येक स्वार्थ को विलीन करने में भी तत्पर हैं। उन्हें कृष्ण तभी स्वीकार हैं जब वे उनके सख्य हों, समानता के स्तर पर हों ना कि केवल आराध्य के रूप में हों। प्रतिरोध केवल संघर्ष में ही नहीं होता है, बल्कि अपने भीतर भी परमार्थ और स्वार्थ की लड़ाई में परमार्थ के प्रति डटकर खड़े होने में भी होता है। इसलिए गोपियाँ कृष्ण के प्रेम को न्योछावर करने के लिए तैयार हैं, लेकिन लोक की मर्यादा, जिससे वे जुड़ी हैं, उसे वे तार नहीं करना चाहतीं। इसलिए दो कोस दूर बैठे कृष्ण से वे स्वयं नहीं मिलने जा पा रही हैं और यह बात अभिजात लोगों के लिए एक छोटी बात होगी, लेकिन लोक में रहने वाले लोगों के लिए बहुत बड़ी बात है। उनका जीवन प्रायः उत्सर्ग की ओर रहता है न कि अपने स्वार्थों की पूर्ति की ओर।

सूरदास का प्रतिरोध लोक में आश्रय पाता है। सूरदास लोकोक्तियों के माध्यम से शास्त्रीय मान्यताओं का प्रतिरोध करते हुए नजर आते हैं। एक जगह लिखते हैं

“उधो कहा कथत विपरीत?

जुवतिन जोग सिखावन आए यह तो उल्टी रीति ।

जोतत धेनु दुहत पय वृष को, करन लगे जो अनीति।”¹¹

लोकोक्तियाँ सशक्त शब्द शक्तियों का प्रतीक होती हैं, लेकिन लोकोक्तियों का प्रयोग वही व्यक्ति कर सकता है जिस व्यक्ति का लोकोक्तियों के स्रोत से गहरा जुड़ाव रहा हो या उसमें निहित प्रतीकों के साथ गहरा जुड़ाव रहा हो। लोकोक्तियों के जुड़ाव की वजह से ही श्री कृष्ण के प्रति गोपियों द्वारा किए गए व्यंग्य और उपालंभ में एक धार दिखाई पड़ती है। यह धार सूरदास के लोक के प्रति आग्रही होने के कारण उत्पन्न हुई है और लोक के प्रति केवल गोपियों का ही प्रेम नहीं है, बल्कि कृष्ण भी इस प्रेम में व्याकुल रहते हैं—

“ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं

वृंदावन गोकुल वन उपवन सघन कुंज की छाहीं।”¹²

वस्तुतः यहाँ पर ब्रज के प्रति निष्ठा के माध्यम से सूरदास लोक को अधिक सुखद और सुंदर दिखाते हैं और यह भी दिखाते हैं कि कृष्ण और गोपियों के प्रेम का उत्कर्ष लोक में ही होगा यानी ब्रज में ही होगा। यहाँ पर ब्रज के प्रति झुकाव के कारण श्रीकृष्ण दुविधा की स्थिति में रहते हैं। यहाँ पर यह दुविधा श्रीकृष्ण की नहीं अपितु सूरदास की है और वहाँ अंततः अपने भीतर एक प्रतिरोध की चेतना को लिए हुए ब्रज को अधिक सुंदर मानते हैं। सूरदास श्रीकृष्ण की मानवीय रूप के प्रति अधिक झुके हुए दिखाई पड़ते हैं वे कृष्ण के देवत्व की ओर श्रद्धाभाव से झुके रहने की अपेक्षा श्रीकृष्ण के मानवीय रूप से अधिक जुड़े हुए प्रतीत होते हैं। श्रीकृष्ण

का गोपियों के प्रति प्रेम उनकी सामाजिक संबंधों का आधारभूत तत्व है। वे अपनी प्रेम की शक्ति के स्रोत के रूप में गोपियों को ही देखते हैं, इसलिए वह मथुरा के ऐश्वर्य मय जीवन में भी गोपियों की कमी को महसूस करते हैं और इसीलिए उद्धव को गोकुल भेजते हैं

सूरदास का प्रतिरोध इस मायने में भी देखा जा सकता है कि सूरदास की गोपियों का प्रेम आत्म प्रदर्शन का प्रेम न होकर वह आत्माभिव्यंजना का प्रेम है, जिसमें गोपियाँ स्वालंबन के साथ श्रीकृष्ण के प्रेम में संख्या आश्रित हैं; जैसा कि मैनेजर पांडे लिखते हैं, “भ्रमरगीत में मध्यकालीन जनसंस्कृति प्रतिबिंबित है।”¹³ सूरदास के काव्य में विद्यमान प्रतिरोध की चेतना परंपरा से प्राप्त सभी चीजों को सही रूप से स्वीकार्य नहीं करती हैं। बल्कि वह उन्हें जन की आकांक्षाओं की कसौटी पर कसते हुए, परखते हुए स्वीकार करती है। इसलिए सूरदास का लोकमानस जनमानस का काव्य है जो उनकी प्रतिरोध चेतना के कारण ही संभव हो पाया है, किंतु हम यदि केवल उनके काव्य में भक्तिभाव को ही प्रमुखता देंगे तो सूरदास की भीतर मौजूद प्रतिरोध-चेतना की उपेक्षा हो जाएगी या उसका स्वरूप उभर कर सामने नहीं आ पाएगा। व्यवस्था में पूर्णतः परिवर्तन से कभी अधिक महत्वपूर्ण व्यवस्था की निरंतरता को बनाए रखने के लिए आवश्यक आशिक परिवर्तन भी होता है। इस मायने में सूरदास की प्रतिरोध चेतना को देखा जाना चाहिए। वर्तमान समय में सूरदास जैसे कवि की स्टीरियोटाइप छवि से अलग हटकर मूल्यांकन किए जाने की आवश्यकता है। क्योंकि भक्तिकाल वर्तमान हिंदी साहित्य को एक आधारभूमि प्रदान करता है, लिहाजा भक्तिकाल में विद्यमान काव्य का मूल्यांकन वर्तमान की आँखों से किया जाना आवश्यक है, जिससे भारतीय ज्ञान परंपरा की निरंतरता का बोध हो सकेगा। सूरदास की कविता मानवीय जीवन के अनुभवों की विविधता का विपुल भंडार है। यह हिंदी साहित्य के मानवीय मूल्यों की संचित राशि प्रदान करता है। यह प्रेम को एक नए रूप में रागात्मिका वृत्ति से युक्त कर एक गतिशील व निषिद्धों से मुक्त होकर देखता है। इसलिए सूरदास प्रेम को आत्म प्रदर्शन की बजाय आत्माभिव्यंजना में देखना चाहिए। सूरदास का प्रेम लोक से अपनी को प्राप्त करता है और निरंतर शास्त्रीय रूढ़ियों से संघर्ष करता है। इसलिए यह प्रेम सामान्य प्रेम से अलग है। इस प्रकार सूरदास का काव्य मानवीय प्रेम की गाथा है। यह ईश्वरीय प्रेम पर मानवीय प्रेम को महत्व देता है। इसीलिए आगे की कड़ी में श्रीकृष्ण और राधा प्रेम के प्रतीक के रूप में उभर कर सामने आया। विद्यापति से प्रारंभ यह परंपरा सूरदास के हाथों आकर और अधिक मजबूत हुई व आगे की पीढ़ियों के लिए एक मार्ग दर्शन के रूप में कार्य किया। प्रतिरोध को प्रायः एक नकारात्मक अर्थ में कुछ लोग लेते हैं लेकिन सूरदास के यहाँ प्रतिरोध प्रेम से युक्त होकर अपनी नकारात्मकता को त्याग कर एक सकारात्मक पहलू को रेखांकित करता है। इसलिए सूरदास के काव्य का प्रतिरोध भी अलग तरीके से है। सूरदास के यहाँ प्रेम एक गतिशील प्रेम है जो इच्छाओं और भावनाओं में सामंजस्य स्थापित करता है। इस प्रेम में मानवीय स्वभाव का समावेश है; जैसे क्रोध घृणा भय उलहना आदि भाव से युक्त है। इसलिए यह अपने यथार्थ का प्रेम नजर आता है, यहाँ प्रेम मानवीयता के धरातल पर मानवीय मूल्यों से युक्त नजर आता है। यहाँ सूरदास के भीतर का प्रतिरोध है, जो ईश्वरीय है, प्रेम की मानवीय प्रेम को महत्व देता है। सूरदास की भक्ति भी इसलिए प्रेम भावना से युक्त है जिस कारण इसे प्रेमाभक्ति भी कहते हैं जो आगे आने वाले काल के कवियों के लिए एक प्रकाश स्तंभ के रूप में कार्य करती है।

संदर्भ:

1. संपा. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, भ्रमरगीत सार, सूरदास, अनन्य प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ. 10
2. वही, पृ. 35
3. मैनेजर पांडे, भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन दिल्ली, सातवाँ संस्करण, 2022, पृ. 85

4. मैनेजर पांडे, भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सातवाँ संस्करण 2022, पृ. 84
5. संपा.आचार्य रामचंद्र शुक्ल, भ्रमरगीत सार, सूरदास, अनन्य प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ. 31
6. संपा.आशीष त्रिपाठी, आधुनिक विश्व साहित्य और सिद्धांत, नामवर सिंह, राजकमल पेपरबैक्स, पहला संस्करण, प्रकाशित : 2023, पृ. 177-178
7. संपा. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, भ्रमरगीत सार, सूरदास, अनन्य प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ. 67
8. वही, पृ. 61
9. पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 637,
10. संपा. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, भ्रमरगीत सार, सूरदास, अनन्य प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ. 57
11. वही, पृ. 64
12. वही, पृ. 85
13. मैनेजर पांडे, भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन दिल्ली, सातवाँ संस्करण, 2022 पृ. 111
14. वही, पृ. 206



भूमंडलीकरण और स्त्री : स्त्री-मुक्ति का प्रश्न

○ आशुतोष कुमार*

लछ्मी : “हमनी के भागि अपना हाथ में नइखे, हमनी के नाक छेदाइल बा जौनी में मरद सोना के नाथ पहिरौले बाड़े।”

सीता : “रसरी के होइत, त हमनी तुरियो फेंकती मदा मुखपन, हमनी सोना के लोभे ऊ नथेल नाकि में पहिरले फिरतानी।”

राहुल सांकृत्यायन द्वारा 1942 ई. में रचित नाटक ‘मेहरारुन के दुस्दसा’ का यह संवाद तत्कालीन समय में स्त्रियों की दशा का बखूबी वर्णन कर रहा है। फिलवक्त में स्त्रियों की दशा भी कुछ ऐसी ही है; हालांकि, उसके स्वरूप में कुछ परिवर्तन आया है जिसका कारण है भूमंडलीकरण।

स्वतंत्र भारत के प्रथम विदेश सचिव ‘के.पी.एस. मेनन’ के अनुसार, “शीतयुद्ध दो विरोधी विचारधाराओं- पूंजीवाद और साम्यवाद, दो व्यवस्थाओं- बुर्जुआ लोकतंत्र तथा सर्वहारा तानाशाही, दो गुटों- नाटो और वार्सा, दो राज्यों- अमेरिका और सोवियत यूनियन तथा दो नेताओं- जॉन फॉर्स्टर इल्लास तथा स्टालिन के बीच युद्ध था जिसका प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ा।”²

यह प्रभाव पूरे विश्व पर भूमंडलीकरण के रूप में फलित हुआ। चौँकि बीसवीं सदी के अंतिम दशक में सोवियत यूनियन का विघटन, भारत की आर्थिक तंगी और चीन का उदारीकरण बाजार व्यवस्था में प्रवेश होने के साथ अमेरिकी वर्चस्ववादी नीति को फलने-फूलने के लिए विस्तृत, खाली और उपजाऊ जमीन मिल गई।

वैसे भूमंडलीकरण को पूरी-पूरी और ठीक तरह से परिभाषित करना ‘सीधी अंगुली से घी निकालने’ जैसा है। क्योंकि देश व काल के रूप में वह पूरी दुनिया को समेट कर एक गाँव में परिवर्तित कर रहा है, आर्थिक रूप से वह इस गाँव को एक बाजार में अपचयित कर रहा है, और उपभोक्तावाद की एक ऐसी नई संस्कृति रच रहा है जिसमें उत्पादन आवश्यकता के अनुसार नहीं बल्कि उत्पादन के आधार पर आवश्यकताओं का निर्माण कर रहा है आदि-आदि।

बावजूद इसके हम इनके प्रवृत्तियों के आधार पर परिभाषित करें तो- “भूमंडलीकरण एक “So called well settled” समाज है जो भारतीय संस्कृति के वैदिक श्लोक ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ का मुखौटा पहने ब्रह्मांड

* पुरा-छात्र, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

में अपनी सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास तो कर रहा है लेकिन यदि जरा मुखौटा हटाकर देखें, तो यह ‘अयं निजः’ की गणना करके ‘लघुचेतसाम’ को ही स्थापित कर रहा।” प्रख्यात वैज्ञानिक प्रोफेसर यशपाल जी भी कुछ ऐसा ही मानते हैं- “भूमंडलीकरण का अर्थ यह नहीं। यह एक स्वेच्छाचारी प्रक्रिया है।”³

यही स्वेच्छाचारी दृष्टि नारीवादी विचारकों/चिंतकों को यह सोचने पर मजबूर करता है कि यह भूमंडलीकरण प्रक्रिया स्त्री समाज को किस निगाह से देखता है, उसके संघर्ष में उसके साथ खड़ा होता है या उसके विरुद्ध?

‘प्रभा खेतान’ अपनी पुस्तक ‘बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ भूमंडलीकरण और स्त्री के प्रश्न’ में लिखती हैं- “ऐसा माना जाता है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने लचीली श्रम व्यवस्था को लागू किया है और इससे स्त्रियों को रोजगार ज्यादा मिलने लगा है। हालांकि ब्रिटेन, कनाडा, फ्रांस, स्वीडन, जर्मनी, इटली आदि देशों में पाया गया है कि श्रम बाजार में स्त्रियों की मांग तो बढ़ी है मगर स्त्री को लाभ नहीं हुआ।”⁴

चूँकि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया तकनीक पर सवार है और इन तकनीकों पर बहुत लम्बे अरसे तक ‘मालिकवृन्द’ का आधिपत्य बना रहा। निष्कर्षतः तकनीकों से दूर रही स्त्री को इस निवेशीकरण का फायदा तो हुआ मगर किसी अन्य तरीके से। जिसे ‘अनामिका’ अपनी पुस्तक ‘स्त्री-मुक्ति की सामाजिकी मध्यकाल और नवजागरण’ में रेखांकित करते हुए ‘तीसरी कसम’ फिल्म के गीत से स्पष्ट करती है- “उड़ी-उड़ी बईठी हलवाईया दुकनिया। बरफी के सब रस ले लिया रे पिंजरे वाली मुनिया। चलत मुसाफिर मोह लिया रे पिंजरे वाली मुनिया।”⁵

इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं ‘प्रभा खेतान’ अपनी पुस्तक ‘बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ भूमंडलीकरण और स्त्री के प्रश्न’ में वे अपने द्वारा संचालित कारखाना का उदहारण प्रस्तुत करती हैं- “मेरे इस कारखाने में कुल रोजगार की संख्या 550 थी, जिसमें स्त्रियों की संख्या 500, लाइन मास्टर, सुपरवाइजर तथा प्रोडक्ट मैनेजर पुरुष थे। क्वालिटी चेकर पुरुष थे। कुछ कंप्यूटर मशीनों पर पुरुष कारीगरों को बहाल किया गया था। प्रत्येक विभाग में 17-25 की उम्र की लड़कियाँ थी और उस विभाग का प्रधान पुरुष था।”⁶ एक महिला संचालित कारखाना जिसमें 91% कर्मचारी महिला किन्तु सुपरवाइजर, कंप्यूटर क्वालिटी चेकर पुरुष, कारण-तकनीकी ज्ञान। सवाल यह है कि क्या आज यह खाई पट गयी?

इस तथ्य को किसी भी तरीके से नकारा नहीं जा सकता कि भूमंडलीकरण ने स्त्रियों के सामने नये अवसर रखे। लेकिन एक नया प्रश्न उभरता है कि किनके लिए? गिनती के ‘व्हेल मछलियों’ के लिए या फिर असंख्य ‘टेंगरा-पोठीयां’ के लिए भी? प्रभा खेतान कहती हैं, “संभव है कि शिक्षित वर्ग का एक छोटा समूह बड़ी-बड़ी नौकरियों को हासिल कर ले या हम उनके हँसते खिलखिलाते चेहरे विज्ञापन की दुनिया में देख लें मगर असलियत तो यह है कि अधिकतर स्त्रियाँ जो कम शिक्षित और उम्र-दराज हैं, बेरोजगार हुई हैं।”⁷ इस निर्यातक बाजार व्यवस्था की विशेषता है कि इसे पूरे विश्व से प्रतियोगिता करनी है। इस होड़ में ‘व्हेल मछलियां’ पुष्ट से पुष्ट हुए जा रही खुले समुन्द्र में और ‘टेंगरा-पोठीयां’ पिलमरू हुए जा रही हैं- रंगीन एक्वेरियम में।

कुछ अर्थशास्त्री यह दावा करते हैं कि निर्यात उद्योग में स्त्रियों की नियुक्तियाँ अधिक हुई है। गलत है। यह दावा प्रायः श्रीलंका और जमैका के निर्यात उद्योग के आधार पर किया जाता है, पर स्त्री किन परिस्थितियों, कैसे माहौल में रहकर काम कर रही हैं, इस पर सभी मौन हैं। कार्य-स्थल पर बन्दूक लिए अवकाश प्राप्त सेना अधिकारी कारखानों का संचालन करते हैं। अधिकांश नियुक्तियां पारंपरिक और अस्थायी होती हैं। यहाँ श्रमिक संगठन का कोई नियम कार्य नहीं करता। स्त्रियाँ आठ-चौदह घंटा स्टूल पर बैठ कर कार्य करती हैं और स्थिति यह है कि अधिकांश परिवारों के पास कोई स्वास्थ्य सुरक्षा नहीं है। भारत का ही उदहारण लें तो “राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण-5’(2019-21) के आकड़ों के अनुसार मात्र 30 प्रतिशत परिवारों के पास ही स्वास्थ्य

बीमा उपलब्ध है।”⁸

मालिक वर्ग द्वारा स्थापित ढाचों को तोड़कर स्त्री श्रमिक पुरुष श्रमिक की बराबरी में खड़े होने में आज भी असमर्थ है। कारण ! स्त्रियों को रोजगार के अवसर कम उपलब्ध हैं। पितृसत्तात्मक सोच ने उनके कार्य के दायरे बांध दिए। अब तक स्त्रियों को केवल वस्त्र-उद्योग, प्राइमरी पाठशाला, हथकरघा उद्योग आदि में काम मिलते रहे जो स्त्री को निचले पायदान पर खड़ा करता है। इस भूमंडलीकरण के दौर में नया प्रश्न ये है कि कितनी स्त्रियाँ ‘स्टॉक मार्किट’ में पैसा निवेश कर रही हैं? आज हमारे जबान पर बिल गेट्स, जेफ बेजोस, राकेश झुनझुनवाला, गौतम अडानी, स्टीव जोब्स आदि के नाम रहते हैं। लेकिन प्रश्न तब उठता है कि जब भूमंडलीकरण ने सबको समान अवसर प्रदान किया तो इन नामों में महिला व्यवसायी/उद्यमियों का भी नाम तो होना चाहिए था?

जाहिर है कि जब भूमंडलीकरण ने स्त्रियों को बाहर निकलने का मौका दिया तब सामाजिक, सांस्कृतिक और व्यक्तिगत आचरण में भी एक नाटकीय परिवर्तन दृष्टीगोचर होने लगा। परिवार की परंपरा प्रवाहित होने लगी, बच्चे परिवार से दूर होने लगे, भौतिकता का चुनाव, विवाहेतर संबंधों का दावा, तलाक आदि की बढ़ती प्रवृत्तियों से पारम्परिक परिवार व्यवस्था ध्वस्त होते दिखाई देने लगी। कारण, इन सारे गतिविधियों के संचालन के केंद्र में स्त्री का होना है।

परिवार की संस्था में हुए परिवर्तनों से प्रभु वर्ग घबरा उठा और स्त्रियों की नैतिकता और चरित्र पर न केवल सवालिया निशान किया, बकायदे कई लांछन भी गढ़े। ‘क्षमा शर्मा’ के उपन्यास ‘परछाई अन्नपूर्णा’ की भूमिका में लिखा है- “स्त्रियाँ बाहर निकली हैं, नौकरी कर रही हैं। इनकी यह भूमिका आज भी लोगों को नापसंद आती है। नौकरी करने का अर्थ स्त्री के अपने विकास में भी हो सकता है, यह न मानकर माना जाता है कि बढ़ती महंगाई को रोकने का यह सबसे कारगर तरीका है, यह बात भी कही जा सकती है कि नौकरी करने वाली स्त्रियाँ आदमियों का हक छिनती हैं और अपने पैसे से जेवर, बिंदे-टिपके खरीदती हैं।”⁹

भूमंडलीकरण की एक खास विशेषता है कि वह अपना दायरा विस्तृत करता रहा है। जैसा कि ‘दिनकर’ ने ‘रश्मिरथी’ में लिखा है,

“हरि ने भीषण हुंकार किया,
अपना स्वरूप विस्तार किया।”¹⁰

वैसे ही अपने आप को तथाकथित हरि के रूप में पूरे विश्व में स्थापित होने वाला भूमंडलीकरण अब उपभोक्तावाद का स्वरूप धारण कर चुका है।

उपभोक्तावाद को चाहिए असीमित उपभोक्ता, जिसके लिए उन्हें पूरे विश्व से प्रतियोगिता कर अपना-अपना माल पूरे विश्व में पहुँचाना है। तब इन तथाकथित उदारीकृत नियंताओं ने स्त्रियों का भरपूर प्रयोग अपने प्रोडक्ट के विज्ञापन करने में किया। तब स्त्रियों को भी यह बहुत भाया; क्योंकि उन्हें कम श्रम में अधिक धन की प्राप्ति होने लगी और जैसे ही धन आया, उपभोक्तावाद ने उनके सामने तरह-तरह के उपभोगी वस्तुएँ प्रस्तुत कर दिए जिससे धीरे-धीरे वे चका-चौंध की दुनिया में समाती गईं और उपभोक्तावाद के लिए विज्ञापन का एक सशक्त साधन बन गईं।

‘हरिशंकर परसाई’ अपने व्यंग्य निबंध ‘विज्ञापन में बिकती नारी’ में इस बात पर कड़ा व्यंग्य करते हैं- “टूथपेस्ट में इतने विज्ञापन हैं, मगर हर एक में स्त्री ही ‘उजले दांत’ दिखा रही है। एक भी ऐसा मंजन बाजार में नहीं है, जिससे पुरुष के दांत साफ हो जाएँ। या कहीं ऐसा तो नहीं है कि इस देश का आदमी मूँह साफ करता ही नहीं है?”¹¹ वे इस निबंध में कई उदाहरणों से विज्ञापन में स्त्रियों के हो रहे उपयोग पर व्यंग्य करते

हैं- “सुंदरी आँखों में देखे, तो जरूरी नहीं कि वह आँख मिला रही है। वह शायद ‘नेशनल आर्टिस्टिक्स’ के चश्मे से आँखें मिला रही है। प्रेम और सौन्दर्य का सारा स्टॉक कम्पनियों ने खरीद लिया है। अब ये उन्हीं के मार्फत मिल सकते हैं।”¹²

प्रसिद्ध अमेरिकी लेखिका ‘नाओमी वुल्फ’ के अनुसार, “मालिकों के लिए स्त्रियाँ सिर्फ दफ्तर की शो-पीस होती हैं। इसलिए चुनाव के वक्त इनकी सुन्दरता का ध्यान रखा जाता है।”¹³

वर्तमान समय में हॉलीवुड से लेकर वॉलीवुड और भोजीवुड तक उन गानों, फिल्मों की कमाई ज्यादा होती है जिसमें स्त्री की नग्नता ज्यादा होती है, यानी देह केन्द्रित होती है। उदाहरण स्वरूप हाल के दिनों में आई वॉलीवुड का एक गाना- “हुस्न का मजा आँखों से लीजिये” को कई सोशल मीडिया प्लेटफोर्मों पर बिलियन में व्यूज मिल चुके हैं। चाहे फुटबॉल मैच का मैदान हो चाहे क्रिकेट का, हर जगह हर शॉट पर हर कोने पर चार स्त्रियाँ दिख जाती हैं और कैमरे का फोकस उनकी तरफ ऐसे किया जाता है जैसे खिलाड़ी और खेल से ज्यादा महत्वपूर्ण है उनको देखना।

भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद के दौर में आज यौन-व्यभिचार का भूमंडलीकरण हो गया। एक देश की स्त्रियों को दूसरे देश में देह व्यापार के लिए बेचा जा रहा है जिसका वैश्विक स्तर पर बहुत बड़ा कारोबार चल रहा है। प्रभा खेतान कहती हैं, “भूमंडलीय पूंजीवादी ताकत से राष्ट्रीय विकास तो होता है किन्तु ऐसा भूमंडलीकरण स्त्री की पक्ष में नहीं है। यह यौन-पर्यटन, यौन-मनोरंजन की आड़ में अधिक-से-अधिक यौन-उद्योग को राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर वैधता प्रदान करने की वकालत रहता है।..... परिणामस्वरूप औपनिवेशिक काल से ही आज तक स्त्री को कच्चे माल के रूप में ही देखा जाता रहा है।”¹⁴

भूमंडलीकरण एक ओर पूरी दुनिया को एक गाँव में तब्दील करने का झांसा तो दे रहा है, किन्तु दूसरी तरफ वह पूरे विश्व के राष्ट्रों को उनके मूल संस्कृति से विलग करता चला जा रहा है। यह ‘विविधता में एकता’ के बजाय ‘एकरूपता’ को स्वीकार करता है। जो कि राष्ट्र की मूल पहचान को समाप्त कर सकती है। और, ये तथाकथित उदारीकृत व्यवस्था ने स्त्रियों को वहाँ ला खड़ा कर दिया है जिसे ‘दिल अपना और प्रीत परायी’ का यह गीत अच्छे से व्यक्त करता है-

“अजीब दास्तां है ये कहाँ शुरु कहाँ खतम

XX XX XX

ये रौशनी के साथ क्यों धुआं उठा चिराग से !!

सन्दर्भ:

1. राहुल सांकृत्यायन, तीन नाटक, किताब महल, इलाहाबाद, 1998, पृ. 6
2. विकिपीडिया।
3. यशपाल, अक्षरपर्व(पत्रिका), मार्च 2004, नरेन का लेख
4. प्रभा खेतान, बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ भूमंडलीकरण और स्त्री के प्रश्न, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपरबैक्स, प्रथम संस्करण 2021, पृ. 69
5. अनामिका, स्त्री-मुक्ति की सामाजिकी : मध्यकाल और नवजागरण, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2024, पृ. 11

6. प्रभा खेतान, बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ भूमंडलीकरण और स्त्री के प्रश्न, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपरबैक्स, प्रथम संस्करण, 2021, पृ. 73
7. वही, पृ. 74-75
8. NFSH-5 (2019)
9. अरविन्द जैन, औरत अस्तित्व और अस्मिता : महिला लेखन का समाजशास्त्रीय अध्ययन, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, 2021, पृ. 34
10. रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिस्थी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशक : केदारनाथ सिंह, 2021, तृतीय सर्ग, पृ. 35
11. हरिशंकर परसाई, निठल्ले कि डायरी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2022, पृ. 133
12. वही, पृ. 135
13. अरविन्द जैन, औरत अस्तित्व और अस्मिता : महिला लेखन का समाजशास्त्रीय अध्ययन, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, 2021, पृ. 36
14. प्रभा खेतान, बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ भूमंडलीकरण और स्त्री के प्रश्न, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपरबैक्स, प्रथम संस्करण, 2021, पृ. 156,157



एक श्रेष्ठ भारत के निर्माण में सरदार पटेल की भूमिका

○ एस.एन. वर्मा*

भारत एक विविधतापूर्ण राष्ट्र है, जिसका निर्माण विविध भाषा, संस्कृति, धर्म के तानो-बानो, अहिंसा और न्याय के सिद्धांतों पर आधारित है। यह स्वतंत्रता संग्राम तथा सांस्कृतिक विकास के समृद्ध इतिहास द्वारा एकता के सूत्र में बंध कर पूर्ण हुआ है। एक साझा इतिहास के बीच आपसी समझ की भावना ने विविधता में एक विशेष एकता को सक्षम किया है। यहाँ राष्ट्रवाद की भावना लौ के रूप में सामने आती है जिसे भविष्य में पोषित और अभिलषित करने की आवश्यकता है। समय और तकनीक ने संपर्क और संचार के मामले में दूरियों को कम कर दिया है। ऐसे युग में जो गतिशीलता और आगे बढ़ने की सुविधा प्रदान करता है, विभिन्न क्षेत्रों के लोगों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान के सामान्य दृष्टि कोण के द्वारा आपसी रिश्तों में मजबूती करना और राष्ट्र-निर्माण महत्वपूर्ण है। आपसी समझ और विश्वास भारत की ताकत की नींव है और भारत के सभी नागरिकों को सांस्कृतिक रूप से एकीकृत महसूस करना चाहिए। 31 अक्टूबर, 2015 को आयोजित राष्ट्रीय एकता दिवस के दौरान प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी द्वारा सरदार वल्लभ भाई पटेल की जयंती मनाने की कल्पना की गई थी जिसके द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के संप्रदायों के बीच एक निरंतर और संरचित सांस्कृतिक संबंध बनाये जा सके और 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' बनाया जा सके। माननीय प्रधानमंत्री ने यह प्रतिपादित किया कि सांस्कृतिक विविधता एक खुशी है जिसे विभिन्न राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों के लोगों के बीच पारस्परिक संपर्क और पारस्परिकता के माध्यम से मनाया जाना चाहिए ताकि देश भर में समझ की एक सामान्य भावना प्रतिध्वनित हो। देश के प्रत्येक राज्य और केन्द्र शासित प्रदेश का एक वर्ष के लिए किसी अन्य राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश के साथ जोड़ा बनाया जाएगा, इस दौरान वे भाषा, साहित्य, भोजन, त्योहारों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, पर्यटन आदि क्षेत्रों में एक दूसरे के साथ जुड़ेंगे। भागीदार राज्य/ केन्द्र शासित प्रदेश आपस में एक दूसरे को सांस्कृतिक रूप से अंगीकृत करेंगे।

भारत में सभी राज्यों/ केंद्र शासित प्रदेशों को एक पूरे वर्ष के लिए जोड़ों में निर्धारित किया गया है। जोड़े गए राज्य / केंद्र शासित प्रदेश एक दूसरे के साथ समझौता ज्ञापन पर हस्ताक्षर करेंगे, जो विभिन्न गतिविधियों को पूरे वर्ष भर करेंगे। प्रत्येक जोड़े के लिए एक गतिविधि कैलेंडर आपसी परामर्श के माध्यम से तैयार किया

* प्राध्यापक, इतिहास विभाग, राजकीय बालिका महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी।

जाएगा, जिससे आपसी जुड़ाव की एक साल की लंबी प्रक्रिया का मार्ग प्रशस्त होगा। सांस्कृतिक स्तर पर राज्यों/केंद्र शासित प्रदेशों के प्रत्येक जोड़े की आबादी के विभिन्न क्षेत्रों के बीच इस तरह की बातचीत, लोगों के बीच समझ और प्रशंसा की भावना पैदा करेगी और आपसी संबंध बनाएगी, जिससे राष्ट्र एकता की भावना में समृद्धि हासिल होगी। इस तरह एक भारत श्रेष्ठ भारत का निर्माण हो सकेगा।

एक भारत श्रेष्ठ भारत की संकल्पना का आधार नया नहीं है। वर्षों पूर्व सरदार पटेल ने इस पर विचार किया था और इसे मुकम्मल करने का प्रयास किया। सरदार पटेल के समय में एक भारत बनाने की चुनौती ज्यादा बड़ी थी उन्होंने उस चुनौती को स्वीकार कर एकता स्थापित कर दी। अब एक भारत कै राह में दूसरी तरह की चुनौतियाँ हैं जिन्हें हल किया जाना है। श्रेष्ठ भारत एक विशद संकल्पना है जो हमेशा मौजूद रहेगी। हमें निरन्तर श्रेष्ठ बने रहने के निरन्तर प्रयास करना होगा। इस आलेख में सरदार पटेल के तत्कालीन प्रयास और इस दिशा में व्यक्त विचारों को ध्यान में रखकर बात की जाएगी। किसी भी व्यक्ति के ऐतिहासिक अवदान का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाना समीचीन होगा।

देशी रियायतों का विलय पहला महत्वपूर्ण कार्य था जिसे आजादी के तुरंत बाद सम्पन्न किया जाना था। भारत पर अंग्रेजी शासन की संरचना अत्यधिक जटिल थी। पूरे भारत पर एक साथ नियन्त्रण नहीं किया गया था। कई चरण, कई नीतियाँ, कई युद्ध, कई नियंता कई परिमाण में भारत उनके अधिकार में गया था। यहाँ तक कि अलग क्षेत्र में अलग प्रशासनिक अलग आर्थिक संरचना चलने दी थी। वह पराधीन राजाओं को स्वतंत्र करने के साथ साथ संवैधानिक सुधार भी करते जा रहे थे। विधान परिषदों में भारतीय सदस्यों की संख्या भी बढ़ने दे रहे थे। कांग्रेस ने देशी रियायतों के साथ सम्पर्क बना रखा था। नेहरू और पटेल जनता में भी लोकतांत्रिक मूल्य विकसित करने में लगे हुए थे। आजादी के बाद उन्हें भारत के साथ मिलकर एकीकृत भारत के निर्माण का निर्णय अनुचित नहीं लग रहा था। कुछेक को छोड़कर अधिकांश ने विलय पर सहमति दी थी। इस परिदृश्य के निर्माण में सरदार पटेल की अहम भूमिका निभाई। जिन्होंने आनाकानी की उनके साथ सैनिक कार्यवाई भी करने की थमकी दी। कुछ मामलों में कार्यवाई की भी। हैदराबाद इसका उदाहरण था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने कुल मिलाकर कूटनीतिक तैयारी, मानमनौव्वल की नीति और दृढ़तापूर्वक कार्यवाई का मार्ग अपनाकर देशी रियायत के शासकों को भारत में विलय के तैयार किया। पूरा इको सिस्टम इस तरह तैयार हुआ कि कोई विपरीत दिशा में सोच ही नहीं सकता था। यह कहना भी बहुत वाजिब नहीं लगता कि भारत का विभाजन हुआ और पाकिस्तान का निर्माण हुआ। हकीकत तो यह लगती है कि उस समय कोई एकीकृत भारत था ही नहीं। अंग्रेजों ने किस्तों में भारत विजय की थी और अलग अलग संधियों से उन्हें अपने साथ जोड़कर रखा था। इंस्ट्रूमेंट आफ अक्सेसन जैसा शब्द भी इसी ओर संकेत करता है। पाकिस्तान के निर्माण की मांग कर रहे थे न कि भारत के विभाजन की। मुस्लिम लीग के नेता अंत तक पाकिस्तान की भौगोलिक सीमा तय नहीं कर पा रहे थे। अगर एक सुविचारित नीति के तहत पाकिस्तान का निर्माण हुआ होता तो दोनों पाकिस्तान को बीच इतनी लम्बी दूसरे देश की भौगोलिक सीमा न होती। बहरहाल यहाँ बात एकीकरण के लिए किए प्रयासों की है। सरदार पटेल एक जागरूक जननेता थे। अतः व्यापक मानव हित को सर्वोपरि मानते थे। शायद यही कारण था कि वे तत्काल विभाजन का विरोध नहीं कर सके। उनका मानना था कि उस समय की परिस्थिति में विभाजन को स्वीकार न करना अनेकों विभाजन को न्यौता देना था। उन्हें यह विश्वास था कि साम्प्रदायिक ज्वर थमने के बाद लोग पुनः भौगोलिक अनिवार्यता के एकता के सूत्र में बंध जायेंगे।

सरदार वल्लभभाई पटेल द्वारा अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा और अखिल भारतीय पुलिस सेवा के गठन की संकल्पना भी भारतीय एकता के सापेक्ष ही जन्म ली थी। एक विचार यह था कि अंग्रेजों की सिविल सेवा

औपनिवेशिक तंत्र की मजबूती के लिए थी लिहाजा अब उसे अपनाए रखने की आवश्यकता नहीं है। दूसरा विचार यह था कि सिविल सेवा के आधार पर ही भारतीय नागरिक सेवा आरम्भ की जाय। अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए चयन केन्द्रीय लोक सेवा आयोग से किया जाय। एक प्रांत के निवासी दूसरे प्रांत में सेवा करने जाएं इससे एकता के सूत्र और मजबूत होंगे। यह बहुत व्यापक प्रभाव भले ही न डाल पाये लेकिन धीरे-धीरे सांस्कृतिक मेलजोल में बुद्धि होगी। सरदार पटेल के नाम से स्थापित 'राष्ट्रीय पुलिस अकादमी, हैदराबाद' भी ऐसे पुलिस अधिकारी तैयार कर सकेगी जो अखिल भारतीय दृष्टिकोण से कार्य कर सकेंगे। वर्तमान सरकार ने काशी- तमिल संगम, उप्र -पूर्वोत्तर राज्य संगम का आयोजन कर इस तरह के प्रयास को नया मुकाम दिया है। सरदार पटेल यहाँ भी जागरूक नेतृत्व का उदाहरण देते हैं।

आजादी मिलने के बाद सेना का गठन भी महत्वपूर्ण कार्य था। अंतरिम सरकार में भी अंग्रेज कुछ मसलों पर अपना अधिकार सुरक्षित किये हुए थे व इनमें सेना भी शामिल थी। नव स्वतंत्र देश में तुरन्त पर्याप्त सैनिक बल की गठन एक चुनौतीपूर्ण कार्य था। क्योंकि उस समय सेना में भारतीय सैनिकों की संख्या पर्याप्त थी वह भारत के लिए काम करने को तैयार थे। उनकी सत्य निष्ठा पर कोई सवाल नहीं था पटेल ने गृहमंत्री के तौर पर उचित निर्णय लिया और उनका उपयोग भारतीय संघ के लिए करना आरम्भ कर दिया। आगे चलकर नये रेजीमेंट बने और नये सैनिक केन्द्र भी। इन्हीं के बल पर आज तक भारत आन्तरिक और बाह्य मोर्चे पर पूरी तरह महफूज है। सेना में सभी जाति धर्म और क्षेत्र के लोग शामिल हैं। यह मूल प्रवृत्ति तो सरदार की ही देन है।

एक भारत श्रेष्ठ भारत के निर्माण की प्रक्रिया में संविधान का अहम योगदान है। संविधान निर्माण के लिए जिस सभा का गठन किया गया था, उसमें दो सौ से अधिक सदस्य थे। विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न समितियाँ गठित की गई थीं। सरदार पटेल सभी महत्वपूर्ण समितियों में बहैसियत सदस्य या प्रमुख विद्यमान थे। राष्ट्रीय एकता के लिए संविधान सभा में राष्ट्रीय एकता परिषद् के गठन का सुझाव सरदार पटेल की तरफ से आया था। संवैधानिक दर्जा मिलने से इस परिषद् ने महत्वपूर्ण कार्य किया। प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाली परिषद् में सभी राज्यों के मुख्यमंत्री शामिल किए गए थे जिससे कि राष्ट्रीय एकता के महत्वपूर्ण मुद्दों का त्वरित समाधान हो सके। आपसी मेल जोल से दो राज्यों के विवादों तथा केन्द्र राज्य विवादों का समाधान किया जा सके। पटेल की दूरदृष्टि से इस पेचीदा मुद्दे का व्यावहारिक और वास्तविक समाधान प्रस्तुत किया जा सका। यह केवल केन्द्रीय सरोकार बनकर ही न रह जाय इसलिए आंचलिक परिषद का भी गठन किया गया। सरदार पटेल के प्रयास से यह दोहरा लगाव राष्ट्रीय एकता को मजबूत बनाने का अस्त्र साबित हुआ। प्रारंभ में दोनों परिषदों की नियमित बैठकें हुईं। इनके माध्यम से बजटीय प्रावधान किए गए। परिणामस्वरूप प्रशासनिक और सांस्कृतिक समन्वय की स्थापना हुई और आजाद देश का नेतृत्व पृथक्करण की भावना पर प्रभावी अंकुश लगा सका। हाल के वर्षों में इन परिषदों की गतिविधियों में स्वाभाविक कमी देखी जा रही है। इसे अनुचित भी नहीं कहा जाएगा। स्वातंत्र्योत्तर भारत की एकता के आदर्श को चरितार्थ करने में सरदार पटेल की भूमिका को कौन विस्मृत कर सकता है।

आजादी के तुरंत बाद भाषा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान हमारे नायकों ने एक भाषा नीति तैयार की थी। लगभग सभी प्रान्त के नेता हिन्दी के पक्ष में अपनी राय रख रहे थे। गांधी ने हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा का दर्जा दे रखा था लेकिन जैसे ही आजादी की घोषणा हुई। क्षेत्रीय आकांक्षाएँ प्रबल होने लगीं। ऐसा लगने लगा कि भाषा के प्रश्न पर भारत पुनः विभाजित हो जाएगा। सरदार पटेल ने गृहमंत्री के रूप में इस मुद्दे को प्राथमिकता पर रखा और टूटन से बचाने के लिए भाषाई आधार पर राज्यों के निर्माण की

कवायद को मंजूरी दी। आन्ध्रप्रदेश तमिलनाडु आदि भाषा के आधार पर गठित होने वाले राज्य बने। यह क्षेत्रीय पहचान के लिए उपयुक्त कदम था। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि यह क्षेत्रीय पहचान को मुकम्मल करने का कार्य सिद्ध हुआ लेकिन तत्कालीन परिस्थिति में इससे बेहतर विकल्प नहीं था। संवैधानिक उपबन्ध के माध्यम से भाषाई कट्टरपन को दूर करने का प्रयास आरम्भ हुआ और आज भी जारी है।

संस्कृति का प्रश्न आज के दौर में मुखपृष्ठ पर आ गया है। भारतीय समाज कभी भी सांस्कृतिक रूप से एकीकृत निष्ठ नहीं रहा। लोग आते ही गए और हिन्दोस्तान बनता गया। एक भूगोल में कई संस्कृति जन्म ले ली। कुछ तो सामंजस्य बिठाकर एकरूप हो गई और अनेक अपने अलग रूप में आज भी विद्यमान हैं। बहु-सांस्कृतिक समाज में सरदार पटेल की नीति सभी के प्रति आदर और समन्वय की थी। इससे ही भारत की एकता और अखंडता को सुरक्षित रखा जा सकता था। सरदार पटेल इस तथ्य से भलीभाँति अवगत थे। अतः उन्होंने इस दिशा में आगे बढ़कर काम किया। वह जानते थे कि जैसे जैसे आर्थिक विकास होता जाएगा विभेद के टूल अपने आप निष्प्रभावी होते जाएंगे। अन्तरिम सरकार के समय ही भारत की आधारभूत संरचना के लिए उन्होंने हीराकुंड और सरदार सरोवर बांधों को बनाने की तैयारी आरम्भ करा दी।

अनेक अवसरों पर लगता है कि साम्प्रदायिकता का भाव हमारे देश के लिए सदा से संकट पैदा करता आया है। इसे शक्ति के बल पर कुचलकर एकता स्थापित कर देनी चाहिए। बहुसंख्यक लोगों के धार्मिक विश्वास को भारत का विश्वास मान लिया जाय। आजादी के समय भी यह परिदृश्य बन गया था। धर्म के नाम पर पाकिस्तान का निर्माण हो भी गया था फिर भी साम्प्रदायिकता थी कि रूकने का नाम ही नहीं ले रही थी। पटेल स्वयं हिन्दुत्व की विचारधारा में विश्वास करते थे लेकिन यह विश्वास व्यक्तिगत स्तर पर ही था। देश के गृहमंत्री और उपप्रधानमंत्री के रूप में उन्होंने समुचित निर्णय लिया और सभी धर्मानुयायियों को एक समान दृष्टिकोण से देखा। गांधी की हत्या में शामिल संगठनों को न केवल नसीहत दी वरन उनपर प्रतिबंध भी लगाया। दर असल वह बहुसंख्यक समुदाय की सत्प प्रियता में विश्वास रखते थे उसे अधिक जिम्मेदारी से काम करने की अपेक्षा करते थे। यह चीजें जब होती नहीं दिखाई दीं तो उन्होंने बहु धार्मिक और बहु सांस्कृतिक समाज के निर्माण को अपनी सरकार का दायित्व माना। एक भारत श्रेष्ठ भारत इसी विचार धारा से बनता हुआ वह देखना चाहने लगे। 6 अप्रैल, 1948 को लखनऊ में दिए उनके भाषण से भी आज के मुस्लिम विरोध की अवास्तविक स्थिति और समाधान का संकेत ग्रहण किया जा सकता है; वह कहते हैं कि “मैं मुसलमानों का दोस्त हूँ और एक दोस्त का काम है कि सच्ची बात कह दे और धोखेबाजी न करो। मैं साफ साफ कहता हूँ कि अब मुसलमानों को वफादारी दिखाने का वक्त आ गया है। पाकिस्तान से उनका कल्याण नहीं होने वाला है। पाकिस्तान उनकी रक्षा नहीं कर सकता है.... मैं हिन्दू भाइयों से कहना चाहता हूँ कि आप लोग अक्ल से काम लीजिए। जो चार करोड़ मुसलमान इधर पड़े हैं उनके साथ छेड़छाड़ कभी मत करो। जितनी छेड़छानी आप करेंगे उतना ही हमारे ऊपर बोझ बढ़ता जाएगा। अगर आप उनको बार बार बुरी तरह परेशान करते रहेंगे तो हमारे साथ जो भी है वह चले जाएंगे। वह हमारे लिए कभी अच्छा नहीं होगा।” यह सोच थी सरदार पटेल की। जो लोग आज सरदार की विचारधारा का असली वारिस होने का दावा करते हैं। इस भाषण में प्रकट नीति से कोसों दूर नहीं हैं क्या ?

वह आगे कहते हैं कि एक भी ऐसे मुसलमान को जो भारत के प्रति वफादार है, जिसने हमारी आजादी की लड़ाई में साथ दिया, हमारे साथ मुहब्बत से रहा है यदि उसे जाना पड़े तो उससे बड़ी शर्म की बात और कोई नहीं होगी। यह बहुत ही बुरी बात है यह हमें समझना चाहिए। जो मुसलमान दो घोड़ों पर सवारी करना चाहते हैं उन्हें अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाहिए। जो लोग पाकिस्तान में रह रहे हैं, उनसे पूछिये पाकिस्तान ने

कैसा इंतजाम किया है। मैंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वालों से भी कहा है कि मुसलमानों को पंजाब के रास्ते वापस जाने दें। हमारे दस लाख लोग उधर पड़े हैं। लड़ना है तो लड़ने का ढंग भी सीखना चाहिए। उन लोगों ने मेरी बात मान ली सबको अमृतसर के रास्ते जाने दिया। हमारे लोग भी इधर चले आए।” सरदार पटेल हिन्दू-मुस्लिम विमर्श को तार्किक अजाम पर पहुंचा हुआ मानते थे कोई अनिश्चितकालीन युद्ध प्रणाली नहीं जैसा कि भारत और पाकिस्तान के निजाम आज समझते हैं।

आमतौर पर यह मान लिया जाता है कि नेहरू की तुलना में सरदार पटेल को विदेशी मामलों की अधिक समझ थी। इस धारणा का आधार स्वयं पटेल की स्वीकारोक्ति है लेकिन उनके समकालीन अन्तरराष्ट्रीय मुद्दों पर उनकी प्रतिक्रियाओं को देखें तो वह एक बेहतर भारत हित चिंतक प्रतीत होते हैं। यहाँ पर भी भारत की एकता और श्रेष्ठता को बनाए रखने की बुनियाद पर राष्ट्र-नीति का पालन करने की सलाह देते हैं। नेहरू बेशक प्रधानमंत्री और विदेश मंत्री थे लेकिन पटेल ने अनेक मुद्दों पर अपनी सशक्त नीति रखी, जिसे नेहरू को मानना पड़ा। उदाहरणस्वरूप नेहरू तिब्बत पर चीन के अधिकार को सर्वथा अनुचित नहीं मानते थे। पटेल के न रहने पर उन्होंने तिब्बत पर चीन के अधिकार को मान्यता दी और दलाई लामा को शरण भी दे दी। पटेल अपने जीवन काल में ही चीन को अविश्वसनीय देश माना था। उन्होंने नेहरू को पत्र लिखकर कहा था कि चीन एक कुटिल देश है हम उसे अपना मित्र मानते हैं लेकिन वह हमें दोस्त नहीं मानता। हमारी सीमा पर भूटान, नेपाल और सिक्किम कमजोर कड़ियाँ हैं। उनके माध्यम से वह हम पर आक्रामक हो सकता है। आगे चलकर पटेल की चेतावनी सच साबित हुई। नेहरू ने शांति सद्भाव और विश्वमैत्री के बहुत प्रयास किए किन्तु सब असफल रहे। हिन्दी-चीनी भाई-भाई के नारे के बावजूद चीन ने छल से आक्रमण कर दिया।

इसी तरह आजादी के तुरंत बाद कॉमन वेल्थ की सदस्यता के प्रश्न पर पटेल और नेहरू अलग राय रखते थे। पटेल इस संगठन के सदस्य बनने के निर्णय को भारत की एकता और अखण्डता के लिए आवश्यक मानते थे। नेहरू इससे अलग रहकर तीसरे मोर्चे का गठन करना चाहते थे बाद में उन्होंने निर्गुट आन्दोलन खड़ा भी किया लेकिन पटेल की सलाह पर ही कामनवेल्थ के सदस्य भी बने रहे। यह अब साबित हो चुका है कि कॉमन वेल्थ की सदस्यता से भारत अहम मौकों पर अपनी रक्षा करने के साथ विश्व शांति की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान कर सका है। इजराइल को मान्यता देने के प्रश्न पर भी पटेल का दृष्टिकोण अधिक उपयोगी साबित हुआ। मुस्लिम जनता के रुख को ध्यान में रखकर वह इस कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहते थे। अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य इजराइल के पक्ष में था। यहूदियों को बसाने की कवायद का विरोध कर पाना इस्लामिक जगत के लिए संभव नहीं था। आज भी यह मुद्दा गरमाया हुआ ही रहता है। अतः यह निष्कर्ष गलत नहीं है कि पटेल विदेश नीति के मोर्चे पर भी तार्किक और सही थे। भारत की सुरक्षा और श्रेष्ठता ही उनके लिए अहम थी।

भारत को श्रेष्ठ बनाने का रास्ता यहाँ की अर्थ व्यवस्था के आधार कृषि के संरक्षक किसानों के प्रश्न को हल किए बिना किसी मंजिल पर पहुंच नहीं सकता। सरदार पटेल ने बारदोली से लेकर अपने समकालीन अन्य किसान आन्दोलनों को आत्मीय माना और किसान समस्या के समाधान हेतु हरसम्भव प्रयास किया। 1936 में लखनऊ में सम्बोधित करते हुए किसानों को अपने कार्य के साथ सामाजिक बुराईयों से लड़ने की सलाह दी और कहा कि उन्हें संगठित होकर अपनी समस्याओं के समाधान का प्रयास करना चाहिए। आज तक किसान समस्याएँ हल नहीं हो सकी हैं। अतः सरदार पटेल बार बार याद आते हैं। भारत की आत्मनिर्भरता का मार्ग किसान की सम्पन्नता से ही गुजरेगा। यह पटेल के समय का युगीन सत्य था जो आज भी है। 1930 में आर्थिक स्वतंत्रता के साथ मूल अधिकार की संकल्पना सरदार ने तैयार की थी। भारत के केन्द्रीय बैंक और राष्ट्रीय नियोजन की

नीति तैयार करने में जो भूमिका सरदार ने निभाई क्या कोई उसे नकार सकता है। सरकार की भूमिका केन्द्रीय मानने का सिद्धांत त्याग कर भी आम जन की चिन्ता से मुक्ति मिल सकी है। लखनऊ वाले उद्बोधन में ही उन्होंने नशाबन्दी, मृतक भोज, शिक्षा, अन्धविश्वास और सामाजिक परम्पराओं के प्रश्न पर जैसा विचार प्रकट किया है वह कालातिक्रामी है।

आज की सरकार द्वारा संचालित कार्यक्रम 'आत्म निर्भर भारत' और 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' के उद्घोष सरदार पटेल द्वारा वर्षों पूर्व ही कर दिए गए थे।

लेख के अंत में भी यह प्रश्न बना ही हुआ है कि क्या भारत श्रेष्ठ भारत बन चुका है ? अगर नहीं तो इसकी राह में कौन सी बाधाएँ हैं ? सरदार पटेल के समय की बाधाएँ तो नहीं ही हैं। उनका उन्होंने भरसक समाधान कर दिया था। आज की चुनौतियाँ अलग हैं उनका मैग्नीट्यूड और इंटेंस भी अलग है। इतिहास के किसी पात्र की भूमिका ऐसे अवसर पर ही तलाशी जाती है अन्यथा इतिहास की कोई उपयोगिता ही नहीं होगी। सरदार पटेल न केवल एक भारत श्रेष्ठ भारत की संकल्पना को आगे बढ़ाते हैं; वरन् उसकी राहों में आने वाली चुनौती का यथासंभव समाधान भी सुझाते हैं। शायद यही वजह है कि हाल के वर्षों में सर्वाधिक पढ़े जाने लगे हैं, उन पर लिखी जाने वाली पुस्तकों की बाढ़ सी आ गई है।

Works Cited:

1. Jain A. Sardar Patel for administrators: Yesterday, today and tomorrow. In: Tripathi SN, Bihari S, Editors. Sardar Patel: builder of aspirational India. New Delhi; 2021.
2. Krishna B. Sardar Vallabhbhai Patel: India's iron man. New Delhi: Rupa; 2014.
3. Sengupta H. Man who saved India: Sardar Patel and his idea of India. Gurugram: Penguin E-Bury Press; 2022.
4. Singh RNP. Sardar Patel: unifier of modern India. New Delhi: Vitasta Publishing Pvt. Ltd.; 2018.
5. Krishna B. Sardar Vallabhbhai Patel: The man who unified India. Noida: HarperCollins India; 2018.
6. Roychowdhury A. What role did Sardar Patel play in the Dandi March of 1930? The Indian Express. 2019, Mar 12 [cited 2025]
7. Chopra PN. The collected works of Sardar Vallabhbhai Patel. 15 vols. New Delhi: Konark Publishers; 2015.
8. Committee on International Conflict resolution. Conflict resolution in a changing world. In: Stern PC, Druckman D, editors. International conflict resolution after the Cold War. Washington (DC): National Academy Press; 2000 [cited 2025 Aug 13]. Available from: <https://doi.org/10.17226/9897>
9. Burton JW. Conflict resolution: Towards problem solving. London: Macmillan; 1997.
10. Deutsch M. The resolution of conflict. New Haven(CT): Yale University Press; 1973.
11. Padelford NJ, Lincoln GA. The dynamics of international politics. New York: Macmillan; 1962.
11. Menon VP. The story of the integration of the Indian states. Hyderabad: Orient BlackSwan; 2014.

12. Murthi RK. Sardar Patel: The man and his contemporaries. New Delhi: Sterling Publication; 1976.
13. Ministry of Home Affairs, Government of India. Report of the State Reorganisation Commission. New Delhi: Ministry of Home Affairs; [cited 2025 Aug 13]
14. Shankar V. Sardar Patel: Selective correspondence, 1945-50. Ahmedabad: Navjivan Publishing House; 2011.
15. Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India. For a united India: speeches of Sardar Patel, 1947-1950-"Statement of policy governing the princely states," speech July 5, 1947. New Delhi: Publications Division; 1950. London: Macmillan Publishing Co.; 1985.
16. Munshi KM. The end of an ERA: Hyderabad memories. Mumbai: Bharati Vidya Bhavan; 1957.
17. Shankar V. Sardar Patel: Selective Correspondence, 1945-50.
18. Munshi KM. Pilgrimage to freedom. 2nd Ed, New Delhi: Bharati Vidya Bhavan; 2018.



चित्रा मुदगल के कथा-साहित्य में सामाजिक विसंगतियाँ

○ सुधा देवी दीक्षित*

“औरत बोनसाई का पौधा नहीं है, जब जी चाहा, उसकी जड़ें काटकर वापस गमले में रोप दिया। वह बौना बनाये रखने की इस साजिश को अस्वीकार भी कर सकती है।”

– चित्रा मुदगल

बहुआयामी प्रतिभा की धनी चित्रा मुदगल जी हिन्दी साहित्य जगत की प्रतिष्ठित लेखिका हैं। चित्रा जी का आधुनिक साहित्यिक क्षेत्र में विशिष्ट स्थान है। इनका उत्कृष्ट लेखन, भारतीय संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्द्धन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। वे अपने आचार और विचार में पूर्णतया भारतीय संस्कृति की पक्षधर हैं। वे कहती हैं- “मैं भारतीय संस्कृति की पक्षधर हूँ। पर उसके कर्मकाण्डों पर विश्वास नहीं करती। समृद्ध सभ्यताएँ संस्कृति की बजह से पहचानी जाती हैं। संस्कृति के विभिन्न रंग हैं, उसकी गरिमा है। मैं उसकी पक्षधर हूँ। बिंदी मेरी संस्कृति है। विवाह में लाल साड़ी पहनना मेरी संस्कृति है। बड़ों का आशीर्वाद लेने के लिए पाँव छूना मेरी संस्कृति है। मैं लगाऊँगी बिंदी, पहनूँगी लाल साड़ी, छुऊँगी पाँव। चाहे दूसरे माथा सूना रखें, चाहे घुटने टेकें, हाथ चूमें।”¹

चित्रा मुदगल जी ने अपने लेखन में सामाजिक विसंगतियों और उनके प्रभाव को बखूबी उकेरा है। उनका मानना है कि जीवन का सच्चा मानवीय मूल्य ‘मानवता’ है। एक अच्छा मनुष्य वही है, जो जीव मात्र के लिए जिए। पत्रकार ओम निश्छल से चित्रा जी बातचीत के दौरान अपने बचपन में घटित हुई घटना बताती हैं- “गाँव वाले घर का, पीतल के बड़े-बड़े चूलों वाला मुख्य दरवाजा जिसकी संधियों से बड़े बप्पा को एक बार बारिन के बेटे को नीम के तने से बाँधकर हंटर से पीटते हुए, जो मैंने देखा तो गले से एक आद्र चीख फूटी.....। जो मुझे आज तक नहीं भूली है।”² चित्रा जी के कोमल बाल-मन और मस्तिष्क पर इस घटना का बहुत प्रभाव पड़ा। उनके भावुक हृदय में दलितों, पीड़ितों, शोषितों, गरीबों के प्रति सहानुभूति निरन्तर गहरी होती गई। परिवार और समाज से प्राप्त अनुभवों और उनसे मिले मानसिक तनावों को उन्होंने कागज पर सृजित करना प्रारम्भ कर दिया और मानसिक असन्तोष के साथ-साथ सामाजिक बिसंगतियों से उपजी तिलमिलाहट को उन्होंने विचारों और शब्दों से सजाना शुरू कर दिया। चित्रा मुदगल जी अपनी रचना प्रक्रिया के विषय में कहती हैं- “बस

* शिक्षण सहायक, हिन्दी विभाग, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी। मो. नं. : 8887719570

फिर क्या था ? पै न फड़फड़ाने लगे थे। कहानियाँ जन्म लेने लगी थी।”³ मन के विद्रोह और उस विद्रोह से जन्मी प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए ही चित्रा जी ने लेखन कार्य को अपनाया।

कोमल और भावुक हृदय चित्रा मुदगल जी ने अपने कथा साहित्य में सामान्य वर्ग से लेकर उच्च वर्ग की स्थिति एवं उनकी समस्याओं को अपनी लेखनी को आधार बनाया। इनके लेखन में स्त्री का मानवीय मन, आपसी रिश्ते-नाते और उनके अन्तर्संबंधों को इतनी सूक्ष्मता के साथ उभारा है कि यह पाठक के सीधे हृदय पर आघात करती हुई, उसे सोचने पर मजबूर कर देती है। चित्रा मुदगल जी अपने फुरसत के पलों में अकेले रहना तथा अकेले टहलना पसंद करती हैं। चित्रा जी का मानना है कि जब हम अकेले होते हैं वास्तविकता में हम तभी अपने स्वयं के साथ होते हैं। वे कहती हैं “असल में मैं अकेले टहलने निकलती ही इसलिए हूँ कि अपनी चेतना में पूरे समाज के साथ हो सकूँ। बिल्कुल अकेले। उसके और मेरे बीच कोई न हो।”⁴

स्त्री लेखन के सम्बन्ध में हजारीप्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं कि, “यह विचित्र बात है कि स्त्री जब साहित्य लिखती है, तब भी स्त्रियों के बारे में ही लिखती है और पुरुष जब साहित्य लिखता है, तब भी स्त्रियों के सम्बन्ध में लिखता है। दोनों का अन्तर यह होता है कि स्त्री के लिखने का उद्देश्य है, अपने विषय में फैले हुए भ्रम का निराकरण और पुरुष का उद्देश्य है, उसके विषय में और भी भ्रम पैदा करना।” चित्रा जी इसको स्पष्ट करते हुए कहती हैं कि “महिलाओं के बारे में, महिला साहित्यकारों द्वारा और पुरुष साहित्यकारों द्वारा पर्याप्त लेखन हुआ है परन्तु महिला लेखन के अन्तर्गत हम महिलाओं द्वारा महिला के बारे में लिखे गए साहित्य को शामिल करते हैं और पुरुष साहित्यकारों द्वारा लिखे गये महिला पर लेखन को शामिल नहीं करते हैं, क्योंकि महिलाओं द्वारा रचित साहित्य को ही प्रमाणिकता और विश्वसनीयता प्राप्त है। स्त्री नियति से जुड़े जीवन यथार्थ को सिर्फ वही भोगती हैं। अतः इस स्वानुभूति सच्चाई की अभिव्यक्ति में विश्वसनीयता विद्यमान है।”⁵

चित्रा जी की सोच विशुद्ध भारतीय है, जिसका प्रभाव उनके लेखन पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। इनकी कहानियाँ – ‘केंचुल’, ‘मामला’, ‘और बढ़ेगा भी’, ‘त्रिशंकु’, ‘जहर ठहरा हुआ’, ‘अक्षरगृह’, ‘दशरथ की वापसी’, ‘सुना आ रही है अग्निरेखा’, ‘बावजूद इसके’, ‘लिफाफा’, ‘पाली का आदमी’ इत्यादि। चित्रा मुदगल जी ने हिन्दी साहित्य जगत को अनेक चर्चित उपन्यास दिए हैं। उनके प्रमुख उपन्यास हैं– ‘एक जमीन अपनी’ (1990 ई.), ‘आवाँ’ (1999 ई.), ‘गिलिगडु’ (2002 ई.), ‘पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा’ (2018 ई.), ‘नकटौरा’ (2022 ई.) इत्यादि। उनका सम्पूर्ण कथा-साहित्य भारतीय मानसिकता और जमीन से जुड़ा हुआ है। इनकी सम्पूर्ण रचनाएँ यथार्थ जीवन पर आधारित हैं। ऐसा यथार्थपूर्ण जीवन जिनमें झगड़े हैं, दारु पीकर पत्नी और बच्चों को मारने वाला पति है, विद्रोही बच्चे हैं और प्रतीक्षारत स्त्री है, फिर भी जीवन है। इनके लेखन में महानगरों में पनप रही, ‘स्लम्स’ की समस्याओं को दर्शाया गया है। चित्रा मुदगल जी की समाजिक समस्याओं को अपनी लेखनी से अभिव्यक्ति करने हेतु पैनी दृष्टि और मजबूत पकड़ है। “उनकी रचनाओं का उद्देश्य यही रहा है कि अशिक्षा, शोषण और रूढ़ियों के अंधकार में जकड़ी हुई झुग्गी-झोपड़ी की स्त्रियाँ अपने पांवों को पहचान सकें और उनके नीचे की जमीन तलाश सकें।”⁶ नारी जीवन और नारी मनोविज्ञान को समझते हुए ही, वे नारी जीवन की समस्याओं को उद्घाटित करती हैं।

‘एक जमीन अपनी’ चित्रा मुदगल जी का पहला उपन्यास है, जो 1990 ई. में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि बम्बई की है। इस उपन्यास में आधुनिक संघर्षरत नारी की नित नई समस्याएँ और समाज में उसका बनता-बिगड़ता स्थान, इन बनती-बिगड़ती परिस्थितियों के बीच उसकी अपनी सोच तथा पुरुष वर्ग और समाज का उसके प्रति नजरिये को दर्शाया गया है। उपन्यास में विज्ञापन की दुनियाँ में पिसती स्त्री की कहानी है। जिसे भूख या घर की आर्थिक जरूरतें विज्ञापन की मण्डी में ले आती हैं। जहाँ वह नित नई समस्याओं

और रोज के कामों में बहुत व्यस्त हो जाती है। वह अपनी माँ की मृत्यु पर इन्दौर मात्र एकदिन के लिए ही जाती है तो पड़ोस की काकी उसे उलाहना देते हुए कहती है, “महतारी बाप के मरे-जिए की यही कीमत बची है कलियुग में..... किरिया-करम निपटाने को भी पेटजायों के पास समय नहीं।”

उपन्यास में नायिका विज्ञापन की मण्डी में आ तो जाती है, मगर उसे वहाँ नित्य नई – नई समस्याओं का सामना करना पड़ती है। इस मण्डी में स्त्री को एक बिकाऊ चीज बनाकर, उसकी अस्मिता खो देने का यथार्थ चित्रण किया गया है। उपन्यास की नायिका अंकिता है। अंकिता घरवालों के विरोध करने के बाद भी सुधांशु से विवाह करती है। अंकिता सुधांशु से विवाह तो कर लेती है लेकिन सुधांशु की तानाशाही प्रवृत्ति के कारण उसकी आजादी खत्म हो जाती है। वह अपने ही सपनों के संसार में एक नौकरानी बन कर रह जाती है। कभी-कभी वह सोचती है, “मैं केवल गृहिणी नहीं हूँ.... एक स्त्री भी हूँ.... आखिर सुबह से रात के बीच कोई क्षण ऐसा नहीं हो सकता, जिसे मैं नितान्त अपने लिए जी सकूँ.....लिख सकूँ।” अंकिता को कविता लिखने का शौक है। एक दिन सुधांशु अंकिता की कविताएँ देख लेता है और क्रोध में उन कविताओं को फाड़कर कूड़े में फेंक देता है। परिणामस्वरूप अंकिता सुधांशु से रिश्ता तोड़ देती है। रिश्ता तोड़ने के बाद अंकिता मुंबई के विज्ञापन जगत में आ जाती है। वहाँ उसे हर रोज नई-नई परेशानियों का सामना पड़ता है। यहाँ तक कि उसके शारीरिक शोषण की भी परिस्थितियाँ निर्मित हो जाती हैं। अन्ततः वह समझ जाती है कि, “यहाँ नख से शिख तक स्वार्थ में डूबे हुए लोग ! जहाँ न भावना का मूल्य है, न संवेदनाओं की जगह।”⁸ अंकिता नैतिकता को आधार बनाकर जीवन यापन करती है। वह आजाद विचारों वाली नीता को बुरी तरह लताड़ देती है, क्योंकि नीता रुपयों के लिए अपना शारीरिक शोषण करवाना भी स्वीकार कर लेती है। नीता को वैवाहिक पुरुषों के साथ सम्बन्ध रखने में कोई बुराई नजर नहीं आती है। वह कहती है, “पत्नी शब्द से मुझे दासित्व की बू आती है।... हमारा प्रेम मात्र आवेग नहीं है। हम वर्जनाहीन होकर जियेंगे।.... बंधनहीन होकर बंधेंगे। रूढ़िमुक्त हो मानसिक वरण।” उपन्यास में नीता अपने जीवन से परेशान होकर आत्महत्या कर लेती है। अन्ततः सुधांशु को अपनी गलती का एहसास होता है और वह अंकिता को मनाने की हर सम्भव कोशिश करती है। अंकिता उसे जबाब देते हुए कहती है, “सुधांशु जी औरत बोनसाई का पौधा नहीं है, जब जी चाहा, उसकी जड़ें काटकर वापस गमले में रोप दिया। वह बौना बनाये रखने की इस साजिश को अस्वीकार भी कर सकती है।”¹⁰ उपन्यास में अंकिता पुरुष वर्चस्व को नकारते हुए अपनी जमीन पक्की करती है।

उपन्यास में स्त्री की क्षण-प्रतिक्षण जार-जार होती उसकी अस्मिता की दर्दनाक करुण कहानी का चित्रण है। विज्ञापन जगत की पृष्ठभूमि के माध्यम से आज की संघर्षशील नारी की शर्मशार कर देने वाली वेदना है। “इस उपन्यास में चित्रा मुदगल ने विज्ञापन जगत में होने वाले नारी के शोषण को सार्थक औपन्यासिक परिणति देकर एक सफल उपन्यास लेखिका के रूप में अपने को स्थापित कर लिया है।”¹¹

‘आवाँ’ चित्रा मुदगल जी का दूसरा चर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास का प्रकाशन वर्ष 1999 ई. है। इनका यह उपन्यास व्यास सम्मान तथा साहित्यिक कृति सम्मान से सम्मानित है। इस उपन्यास में लेखिका ने स्त्री विमर्श, श्रमिक जीवन, दलित चेतना और उपभोक्तावादी समाज की जटिलताओं को एक साथ उभारा है। यह उपन्यास नायिका नमिता पाण्डेय के संघर्षों के माध्यम से सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा व्यक्तिगत स्तर पर गहराई से प्रश्न खड़े करता है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि भी बम्बई ही है। ‘आवाँ’ का बीज चाहे मुम्बई ने रोपा, लेकिन खाद, पानी उसे हैदराबाद में मिला और श्रमिकों के शहर कोलकता में बैठकर लिखा गया और दिल्ली ने आधार कैप का काम किया। इस रूप में यह लगभग पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करने वाला उपन्यास है। बहुत बड़े फलक का उपन्यास।”¹² इस उपन्यास को हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक मील के पत्थर के रूप

में माना जाता है।

लेखिका द्वारा इस उपन्यास में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संघर्षों का सजीव चित्रण किया गया है। उपन्यास का शीर्षक 'आवाँ' प्रतीकात्मक है। मनुष्य के अन्दर जो दहकती आँच है। इसी दहकती आँच को आवाँ का प्रतीक माना गया है। उपन्यास का कथानक सामाजिक होते हुए भी राजनीति और विज्ञापन से घिरा हुआ है। उपन्यास की कहानी में मजदूर आन्दोलन, उन आन्दोलनों के परिणाम तथा इसके परिणामों की सफलता और असफलता की चर्चा को दर्शाया गया है। अर्थात् 'आवाँ' उपन्यास में मजदूरों की राजनीति का स्पष्ट चित्रण किया गया है। इनकी राजनीति में आपसी अन्तर्विरोध, वैमनस्यता, प्रतिद्वन्द्विता, छल-कपट तथा पूँजीपति वर्ग के शोषण का अत्यन्त मार्मिक यथार्थ चित्रण है। 'आवाँ' की कथावस्तु के विस्तार के विषय में चित्रा मुदगल जी लिखती हैं- "स्वराज का यह कैसा आवाँ हमने प्रज्वलित किया है कि सामाजिक विषमताएँ अपना रूप बदलकर पहले की अपेक्षा और अधिक उग्र और विकराल हो नैतिकता, जीवन मूल्यों को धकियाकर, भ्रष्टाचार, अनाचार, लालफीताशाही, साम्प्रदायिकता, मानवतावाद सभी को तिलांजलि देकर उपभोक्तावादी मानसिकता की गोद में बैठकर पूँजी की सहधर्मिणी हो गई है कि जो कुछ है वह बाजार ही है। जमीर से लेकर सत्य, पसीने से लेकर संवेदना, संस्कृति से लेकर संघर्ष, योनि से लेकर महत्व, संस्कार से लेकर सम्बन्ध तक- सब खरीदा बेचा जा सकता है। बिकने को तैयार है। बाजारवाद के इस आँवे में जल रहा है पसीना बहाने वाला मजदूर, देश की आधी आवादी, गिरवी होता देश का स्वाभिमान। तो यह 'आवाँ' है- स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के हमारे भारतीय समाज का।"¹³

उपन्यास की नायिका 'नमिता पाण्डे' कामगार अघाड़ी के महासचिव देवीशंकर पाण्डे की पुत्री है। 'नमिता' पढी-लिखी, संघर्षशील, महात्वाकांक्षी तथा आधुनिक मूल्यों के प्रति सचेत युवती है, जो अपने पिता देवीशंकर पाण्डे के अपाहिज हो जाने के बाद घर-परिवार की जिम्मेदारी अपने कंधे पर ले लेती है। उपन्यास में नारी शोषण का यथार्थ चित्रण आरम्भ से अन्त तक स्पष्ट परिलक्षित होता है। साथ ही अन्ना साहब के माध्यम से तथा-कथित मजदूर नेताओं एवं राजनेताओं के चरित्र को भी बखूबी उभारा गया है, जो सत्ता और ताकत का गलत इस्तेमाल करने से एक पल भी नहीं चूकते। वास्तव में 'आवाँ' उस अंधी खाई का नाम है जहाँ इंसान को इंसान नहीं, बल्कि एक मजदूर समझा जाता है और वे रोटी, कपड़ा और मकान के लिए संघर्ष करते हुए, वह अपनी पहचान खो देता है।"

इनका अगला उपन्यास 'गिलिगडु' है, जिसका प्रकाशन वर्ष 2002 ई. है। यह इनका तीसरा महत्वपूर्ण उपन्यास है। 'गिलिगडु' शीर्षक मलयालम शब्द 'किलिकुलू' जिसका हिन्दी अर्थ- चिड़ियाँ है, लेकिन प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने 'गिलिगडु' शब्द का प्रयोग कर्नल स्वामी की जुड़वाँ पोतियों के लिए किया गया है। यह उपन्यास आकार में तो छोटा है, मगर विषयवस्तु की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें लेखिका ने बुजुर्गों की करुण कहानी का अत्यन्त मार्मिक हृदयस्पर्शी चित्रण किया है। आज के इस आधुनिक समाज में बुजुर्गों की तीन श्रेणियाँ हैं। एक वह जिनका कोई परिवार नहीं है इसलिए वह अकेले रहने के लिए अभिशप्त है, दूसरे वह है जिनका भरा पूरा परिवार होते हुए भी अकेले रहने के लिए बाध्य है और तीसरे वे हैं जो परिवार में रहकर भी अकेले हैं। उपन्यास में तीनों तरह के बुजुर्ग पात्रों का यथार्थ चित्रण किया गया है। चित्रा जी के इस उपन्यास को मध्य प्रदेश सरकार द्वारा 'चक्रधर सम्मान' से सम्मानित किया गया है। उपन्यास की तारीफ करते हुए मुशर्रफ आलम जी शब्द शिखर में लिखते हैं- "गिलिगडु दरअसल बूढ़ों के लिए एक ऐसी दुनियाँ है, जहाँ वे अभी भी अपना अनदेखा स्वप्न संभाल कर रखते हैं। बूढ़ों पर लिखी जाने वाली विश्व की महान कृतियों का तजक़िरा हो तो मैं गिलिगडु को प्रथम पंक्ति में देखना पसन्द करूँगा।"¹⁴

‘गिलिगडु’ उपन्यास में दो वृद्धों की अत्यन्त मार्मिक व्यथा-कथा है। इन दोनों ही वृद्धों की पत्नियाँ गुजर चुकी हैं। इन लोगों का अपना भरा-पूरा परिवार होने के बाबजूद भी पत्नी के न रहने से, ये बिलकुल अकेले पड़ जाते हैं। इन दो वृद्धों में एक का नाम जसवंत सिंह है। ये रिटायर्ड सिविल इंजीनियर हैं, जो ग्लैक्सो में रहते हैं और दूसरे का नाम विष्णु नारायण स्वामी है। ये रिटायर्ड कर्नल हैं, जो नोयडा में रहते हैं। बाबू जसवंत सिंह अपनी पत्नी तथा मित्र हरिहर दुबे की मृत्यु होने से बिलकुल अकेले हो जाते हैं। डॉक्टर की सलाह से अकेलेपन से छुटकारा पाने के लिए कानपुर से दिल्ली अपने बेटे के पास आ जाते हैं। दिल्ली आने पर उनका बेटा उन्हें कुत्ते (टॉमी) के साथ बालकनी वाले कमरे में रहने के लिए जगह देता है। जसवंत सिंह के पोते मलय और निलय को उनसे बलकुल भी लगाव नहीं है। दोनों बच्चे कम्प्यूटर और गाड़ियों की रेस में ही उलझे रहते हैं। जसवंत सिंह की बहू सुनयना को भी अपने ससुर के प्रति कोई आदर सम्मान नहीं था। वह बात-बात पर उनको बातें सुनाती रहती, जिसके कारण बाबू जसवंत सिंह अक्सर उदास हो जाते और बड़े ही दुखी मन से सोचते कि, “इस घर में दो कुत्ते हैं- एक टॉमी, दूसरा अवकाश प्राप्त सिविल इंजीनियर जसवंत सिंह। टॉमी की स्थिति निःसंदेह उनकी बनिस्बत मजबूत है। उसकी इच्छा अनिच्छा की परवाह में बिछा रहता है पूरा घर। उनके लिए किसी को बिछे रहना जरूरी नहीं लगता। टॉमी अच्छी नस्ल का कुत्ता है। सोसाइटी में उनके घर का रुतबा बढ़ता है। उनके चलते उनका रुतबा कलंकित हुआ है। कलंकित होकर अक्षत- चन्दन कौन चढ़ाये?”¹⁵

बाबू जसवंत सिंह कब्ज, अफारा, डकारे, बावासीर जैसी अनेक बीमारियों से ग्रस्त है। इन बीमारियों के बाद भी उन्हें कुत्ते को टहलाने ले जाना पड़ता है। संयोग से एक दिन जसवंत की मुलाकात कर्नल स्वामी से हो जाती है। वे दोनों ही लोग एक-दूसरे में अपनी संवेदना और स्वरूप का प्रतिबिम्ब पाकर अंतरंग मित्र बन गये। वे एक-दूसरे के साथ अपने सुख-दुख के पल बांटने लगते हैं। अंतरंग मित्र होते हुए भी दोनों के स्वभाव में जमीन आसमान का अन्तर था। अपनी बहू सुनयना द्वारा अपमानित जसवंत सिंह का स्वभाव कुंठित, अस्थिर तथा निराशा से ग्रस्त रहने के कारण कटु और निराशावादी हो गया था। अपने जिगरी दोस्त को दुखी देखकर स्वामी कर्नल को अच्छा नहीं लगता। वे जसवंत सिंह को इस मनः स्थिति से बाहर निकालने के लिए हर सम्भव प्रयास करते रहते थे। जसवंत सिंह जब भी अपने बहू-बेटे की शिकायत उनसे करते, तो कर्नल स्वामी उल्टा उन्हें ही डांट देते। वे कहते, “सच तो यह है दोस्त, आपको दुःख ओढ़ने बिछाने की आदत पड़ गई है। साधारण बात प्रहार हो उठती है। दरअसल यह और कुछ नहीं है, मिस्टर सिंह बूढ़ों की शासन न कर पाने की कुण्ठा है।”¹⁶ फिर वे बड़े प्यार के साथ उनसे कहते, “सर, लिव लाइक शेर... अपनी तरह से। अपनी शर्तों पर।”¹⁷

कर्नल स्वामी भी अपने परिवार वालों की चर्चा बाबू जसवंत सिंह से रोज ही किया करते थे। वे कहते कि उनका परिवार बहुत अच्छा है, संस्कारी है। घर के सभी लोग उनका बहुत अच्छे से ख्याल रखते हैं, जबकि वास्तविकता में कर्नल स्वामी को उनके घर का कोई भी सदस्य अपने साथ रखना ही नहीं चाहता है। उनके बेटों और बहुओं का बात-बात पर उनसे बुरा बोलना और मार-पीट कराना अक्सर ही होता था। परिवार का उनके प्रति बुरा व्यवहार होने के बाद भी कर्नल स्वामी अपने परिवार की कभी भी बुराई नहीं करते थे। कर्नल स्वामी का कष्ट और पल-पल की उनकी पारिवारिक प्रताड़ना देखकर उनके पड़ोसी बहुत दुखी हो जाते थे। कर्नल स्वामी जब कई दिनों तक बाबू जसवंत सिंह से मिलने नहीं आते हैं तो बाबू जसवंत सिंह उन्हें ढूंढते हुए कर्नल स्वामी के घर आ जाते हैं; तभी पड़ोसियों से उन्हें कर्नल स्वामी की पारिवारिक वास्तविक स्थिति का पता चलता है। पड़ोसी उनसे कहते हैं कि, “ऐसी कसाई औलादों से आदमी निपूता भला। हमें इस बात का कोई गम नहीं कि हमारी कोई औलाद नहीं।”¹⁸ उपन्यास में बुजुर्गों की अत्यन्त मार्मिक और यथार्थ कहानी वर्णित है। यह सिर्फ कहानी ही नहीं समाज का कटु सत्य है जो बड़ी ही निष्ठा और ईमानदारी के साथ चित्रा जी ने चित्रित किया

है। यह जीवन का यथार्थ सत्य है कि समय के साथ पीढ़ियाँ बदलती हैं, परन्तु यदि व्यक्ति की संवेदनाएँ ही मर जाएं तो यह समाज का विकास नहीं पतन है।

चित्रा जी का अगला उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' है। यह उपन्यास सन् 2000 ई. में प्रकाशित हुआ था तथा सन् 2018 ई. में इस उपन्यास को 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। चित्रा जी का यह उपन्यास उपरोक्त उपन्यासों से भिन्न उपन्यास है। इस उपन्यास में चित्रा जी ने किन्नर जीवन समस्याओं को उजागर किया है। किन्नर विमर्श पर आधारित यह उपन्यास हिन्दी साहित्य जगत को एक नवीन दृष्टि प्रदान करता है। उपन्यास का प्रमुख विषय किन्नरों की पहचान का संकट है क्योंकि इन किन्नरों को न तो परिवार स्वीकारता है और न ही समाज स्वीकारता है। यह पारिवारिक और सामाजिक बहिष्कार इन किन्नरों को अलग-थलग कर देता है और छोड़ देता है- सामाजिक, शारीरिक और मानसिक संघर्ष के लिए। चित्रा जी ने इस अलगाव और बहिष्कार को बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। एक नये प्रकार की पत्र शैली में लिखा गया यह उपन्यास अपने आप में विशिष्ट है। इस उपन्यास के विषय में शरद सिंह अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखती हैं, "पोस्टबॉक्स नं. 203 नाला सोपारा की लेखिका चित्रा मुद्गल ने अपनी सिद्धहस्त लेखनी से एक माँ और उसके किन्नर पुत्र के परस्पर प्रेम को जिस मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है, वह अदभुत है। उनका उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' भी अपने आप में यथार्थ का एक ऐसा दस्तावेज सामने रखता है, जिसका एक एक शब्द पढ़ते हुए कभी रोमांच होता है तो कभी सिहरन, तो कभी मानसिक उद्वेलन। लेखिका ने अपने उपन्यास के माध्यम से यह प्रश्न उठाया है कि यदि कोई शिशु लिंग दोष के साथ जन्म लेता है तो भला उसमें उसका क्या दोष है।"¹⁹

'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' उपन्यास की कहानी विनोद नामक एक युवक की कहानी है। विनोद को थर्ड जेन्डर होने के कारण जबरन बचपन में ही घर से निकाल दिया गया था। उसका बचपन छिन गया। उसके मासूम सपने चकनाचूर हो गये। उसे मजबूरन हिजड़ों के बीच में रहना पड़ा और वह विनोद से बिन्नी बन गया। वह युवक अपने परिवार से अनेकों प्रश्न करता कि उसका कसूर क्या है? वह अपनी जन्मदायिनी माँ से पूछता है कि लंगड़ा-लूला, अन्धा-बहरा अथवा मानसिक रूप से विकलांग होने पर भी कोई माँ अपने मासूम बच्चे को बाहर नहीं निकाल देती है, फिर मेरे थर्ड जेन्डर यानी विकलांग होने पर मुझे क्यों निकाल दिया गया ? सुधा उपाध्याय के शब्दों में, "चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' किन्नरों की जिन्दगी की असलियत को दिखाने के क्रम में समाज का ऐसा चेहरा दिखाने में सफल है, जिसमें रिश्ते, घर, परिवार, समाज सब खोखला दिखाई देता है। जब आप उस खोखले समाज के अन्दर झाँकते हैं, तो त्रासदी और गहरी होती जाती है और अन्ततः पुलिस को एक किन्नर की एक फूली लाश मिलती है, इस मामले को पुलिस किन्नरों की आपसी रंजिश की वजह से हत्या का जामा पहना कर केश बन्द कर देती है।"²⁰

चित्रा मुद्गल का अगला उपन्यास 'नकटौरा' है। इनका यह उपन्यास 2022 ई. में प्रकाशित हुआ। उपन्यास का शीर्षक 'नकटौरा' अवध क्षेत्र में होने वाली एक रस्म से प्रेरित है, जिसमें बारात के जाने के बाद महिलाएँ रात-भर जाग कर स्वांग रचती हैं। इस स्वांग में वे महिलाएँ मुख्यतः पुरुषों की नकल करती हैं। चित्रा जी ने अपने इस उपन्यास की कहानी में एक महिला के घर और बाहर के जीवन में आने वाली परेशानियों का यथार्थ चित्रण किया है। लेखिका उपन्यास में लिखती हैं, "तुम अपनी जिन्दगी की कहानी खुद लिखोगी, नकटौरा। किसी और को उसे लिखने मत देना।" यह उपन्यास पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं के संघर्षों का यथार्थ चित्रण करता है। नकटौरा एक उपन्यास एक कहानी नहीं, बल्कि समाज के लिए एक आइना है, जो हमें हमारे आस-पास की कड़वी सच्चाई से रूबरू कराता है।

भारतीय जीवन की आधारशिला विशेष रूप से परिवार है। इसी सत्य को स्वीकारने वाली चित्रा मुदगल जब पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भारतीय मूल्यों को तार-तार होता देखती हैं तो वे बहुत चिन्तित होती हैं। यही चिन्ता उन्हें चिन्तन की ओर ले जाती है। चित्रा जी अपनी इसी त्रासदी को अपने लेखन का आधार बनाती हैं और समाज के कड़वे सत्य को निर्भयता के साथ अभिव्यक्त करती हैं। उनका सम्पूर्ण लेखन यथार्थ के धरातल पर ही गढ़ा गया है। 'एक जमीन अपनी', 'आवाँ', 'गिलिगडु', 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' जैसे सामाजिक सरोकारों के बहुचर्चित उपन्यासों की लेखिका चित्रा मुदगल समाज सेवा से जुड़ी हैं। उनका यह जमीनी अनुभव ही उनके उपन्यासों को दस्तावेजी बना देता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि समकालीन हिन्दी कथा साहित्य लेखन की सशक्त एवं सुदीर्घ परम्परा में चित्रा मुदगल का नाम अत्यन्त स्वाभिमान के साथ लिया जाता है। चित्रा जी जीवन और साहित्य दोनों में ही, वे जुझारुपन और धैर्य के साथ सक्रिय रहने वाली लेखिका हैं। जीवन और लेखन के क्षेत्र के व्यवधान और मुश्किलें उन्हें परेशान अवश्य करती हैं, लेकिन उनसे वे टूटती नहीं हैं, अपितु अपने लिए अत्यन्त साहस जुटाती हैं तथा संघर्ष के लिए नये सिरे से तैयार हो जाती हैं। ये नारी जरूर है, लेकिन अबला बिलकुल नहीं है- न साहित्य में, न जीवन में। समकालीन हिन्दी साहित्य लेखन में उनका सृजन और उनका व्यक्तित्व अलग से पहचान में आने वाला व्यक्तित्व है। उनका लेखन हिन्दी साहित्य को एक खास पहचान देता है।”²¹

संदर्भ:

1. पूर्वोद्धृत, चित्रा मुदगल के उपन्यासों में महानगरीय बोध, प्रा. सुभाष मारुती कदम, अभय प्रकाशन, कानपुर, पृ. 19
2. चित्रा मुदगल, मेरे साक्षात्कार, पृ. 49
3. चित्रा मुदगल, जिनावर-सवाल दर सवाल, पृ. 1
4. पूर्वोद्धृत, चित्रा मुदगल के उपन्यासों में महानगरीय बोध, प्रा. सुभाष मारुती कदम, अभय प्रकाशन, कानपुर, पृ. 14
5. डॉ. ओम प्रकाश शर्मा, समकालीन महिला लेखन, पृ. 26
6. चित्रा मुदगल, जगदम्बा बाबू गाँव आ रहे हैं, पृ. 11
7. पूर्वोद्धृत, चित्रा मुदगल के उपन्यासों में नगरीय बोध, प्रा. सुभाष मारुती कदम, अभय प्रकाशन, कानपुर, पृ. 27
8. वही, पृ. 27
9. वही, पृ. 27
10. वही, पृ. 27
11. राममचन्द्र तिवारी, हिन्दी गद्य साहित्य, पृ. 265
12. पूर्वोद्धृत, चित्रा मुदगल के उपन्यासों में नगरीय बोध, पृ. 28
13. वही, पृ. 28
14. डॉ. करुणा शर्मा, उपन्यासों के झरोखे से चित्रा मुदगल, शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, संस्करण : 2015 ई., पृ. 95,
15. गिलिगडु, चित्रा मुदगल, समसामायिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002 ई., पृ. 96,
16. वही, पृ. 93,
17. पूर्वोद्धृत, चित्रामुदगल के उपन्यासों में नगरीय बोध, पृ. 31

18. पूर्वोद्धृत, चित्रा मुदगल के उपन्यासों में नगरीय बोध, प्रा. सुभाष मारुती कदम, पृ. 31
19. सम्पादकीय, शरद सिंह, सरस्वती पत्रिका, वर्ष - 4, अंक 16 जनवरी-मार्च, 2019 ई., पृ. 5 - 6,
20. सुधा उपाध्याय, मानवीय संरचना के खण्डित मूल्य, सरस्वती पत्रिका, वर्ष - 4, अंक -16 जनवरी-मार्च, 2019 ई. 15 - 16,
21. चित्रा मुदगल, मेरे साहित्यकार, पृ. 28 - 29



उषाकिरण खान के ऐतिहासिक उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

○ चित्तरंजन कुमार*

उषाकिरण खान एक गंभीर लेखिका हैं। उनका साहित्य अतीत और भविष्य को जोड़ने का काम करता है। वह अपने साहित्य में अतीत को जीती हैं। उषाकिरण खान का विश्लेषण कौशल अति विशिष्ट है। वे किसी भी संदर्भ में पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं हैं। वे संवेदनशील मुद्दों के तथ्य तक पहुंचती हैं। उनकी ऐतिहासिक परख नवीन है। वे नवीन दृष्टि से इतिहास को देखती हैं। वास्तव में, उषाकिरण खान एक कुशल इतिहासकार हैं। वे इतिहास को परिवेशगत, काल संदर्भ, सांस्कृतिक एवं समाजशास्त्रीय रूप से देखती हैं। उनके लेखन का वैशिष्ट्य ही है कि वे इतिहास से कच्ची सामग्री उठाकर कथानक गढ़ती हैं।

वे चुने हुए तथ्य को परिवेश, चरित्र-चित्रण, भाषा शिल्प और निष्कर्ष के माध्यम से कथानक को विस्तार देती हैं। उनके उपन्यासों में कथानक का नरेटिव इतिहास से संबंध रखता है। परंतु कथा में ऐसे घुलमिल जाता है, मानो लेखिका की आँखों देखी कहानी हो। कहानी का संपूर्ण वातावरण अति यथार्थवादी प्रतीत होता है। आश्चर्य तो यह है कि उषाकिरण खान ऐसा कारनामा साहित्य के सर्वाधिक कठिन क्षेत्र उपन्यास में करती हैं। उषाकिरण खान के ऐतिहासिक उपन्यासों की एक लंबी सूची है जिसमें 'सिरजनहार', 'अगन हिंडोला', 'रतनारे नयन', 'भामती', 'दिनांक के बिना', 'पोखरी रजोखरी' जैसे उपन्यास विशिष्ट हैं। वे इतिहास को जिस निष्कर्ष पर लाकर छोड़ती हैं, उससे पाठक के पूर्वाग्रह ध्वस्त हो जाते हैं। वे लोक में विश्वास करने वाली उपन्यासकार हैं। वे मिथिलांचल की समृद्ध परंपरा का वर्णन तो करती ही हैं, साथ ही मैथिल समाज की विसंगतियों का भी पर्दाफाश बेहिचक होकर करती हैं। वास्तव में, उषा किरण खान एक निर्भीक लेखिका हैं। उनके पास यथार्थ तक पहुंचाने की बेहतरीन कला है।

उषा किरण खान उपन्यास नहीं इतिहास का पुनर्लेखन करती हैं। ऐतिहासिक घटनाक्रम को केवल तथ्यों के माध्यम से वर्णित नहीं करती हैं। वह ऐतिहासिक घटना को पूरे समाज, भाषा बोली और संस्कृति के साथ चित्रित करती हैं। इस क्रम में उनके द्वारा किया गया शोध केवल इतिहास को लेकर नहीं चलता बल्कि उपन्यास उस काल अवधि में प्रचलित साहित्य, लोक कला, भाषा बोली, रहन-सहन का तरीका एवं समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का बृहद विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। यह ध्यान देने योग्य मामला है कि ऐतिहासिक उपन्यासों

* सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, ललित नारायण तिरहुत महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर

में केवल इतिहास नहीं है बल्कि एक संगठित कथानक है। एक बेहतरीन तथ्य का अंतः-बाह्य आवरण है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों को पढ़कर इतिहासकारों से पाठ्य उपन्यास पर चर्चा करने की इच्छा स्वतः जनित होती है। ऐसा हुआ भी है, उषा किरण को प्रोफेसर चतुर्वेदी जी ने कहा कि आपके ऐतिहासिक उपन्यास ‘अगन हिंडोला’ में इतिहास की दृष्टि से कहीं भी चूक नहीं है, परंतु संवाद के स्तर पर थोड़ा भ्रम होता है। इस पर उषाकिरण खान कहती हैं, अब उपन्यास को सशक्त बनाने हेतु कथानक तो गठना ही होगा। यह गठना ही सृजनात्मक है। उपन्यासकार की रचनात्मक कौशल है कि कथानक को संवाद कौशल से सवारती हैं। उपन्यासों में संवाद कौशल का आलम यह है कि कथानक उपन्यास में ऐतिहासिक प्रतीत ही नहीं होते। ऐसा लगता है मानो घटनाएँ वर्तमान में घटित हो रही हैं। लेखन का कमाल तो यह है कि उपन्यास में ऐतिहासिक प्रसंग पुनर्जीवित होते हैं। ऐसा एक दो उपन्यासों में न होकर कई उपन्यासों में हुआ है। गौर से देखा जाए तो, यह विशेष प्रकार की तकनीक है।

ऐतिहासिक उपन्यासों की कड़ी में ‘सिरजनहार’ उपन्यास विशिष्ट है। सिरजनहार उपन्यास विद्यापति के जीवन का वृत्त है। विद्यापति से जुड़ी प्रत्येक पहलू को रोचक अंदाज में प्रस्तुत किया गया है। विद्यापति का समाज कितना संवेदनशील और शिक्षित था इसे उपन्यास के माध्यम से उषाकिरण खान प्रस्तुत करती हैं। उपन्यास जितना विद्यापति के भक्ति पक्ष को उजागर करता है उतना ही शृंगार पक्ष को भी महत्व देता है। सिरजनहार उपन्यास में आए उदाहरण के माध्यम से मैथिल समाज के यथार्थ को समझा जा सकता है। उपन्यास में विद्यापति के विद्रोही तेवर भी देखे जा सकते हैं। विद्यापति ने ब्राह्मण समाज की आलोचना की है। वे संस्कृत भाषा की आलोचना करते हैं और संस्कृति की जगह लोकभाषा का समर्थन करते हैं। वे लोकभाषा के साथ अपने सृजनात्मक क्षमता प्रदर्शित करते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण था कि विद्यापति लोक के समाज से साक्षात्कार चाहते थे। वे मानते थे कि ‘देसल बयना सब जन मीठा’ इस धारणा के साथ वे रचनात्मक कार्य को अंजाम देना चाहते थे। विद्यापति की कथा में ‘उगना’ की कथा समाहित ना हो तो विद्यापति की कथा अधूरी रहेगी। इसी कारण से उषाकिरण खान ने विद्यापति की राम कहानी में शिव रूप माने जाने वाले उगना की मार्मिक अंतः कथा को समाहित किया है। राजा शिव सिंह की कथा विद्यापति की कथा से जुड़ी है; क्योंकि लंबे समय तक विद्यापति शिवसिंह के दरबार में रहे थे। अतः एक साहित्यकार का समाज, जब राज दरबार के समाज से संपर्क स्थापित करता है तो उसमें क्या कुछ परिवर्तन होता है, इसका सूक्ष्म विश्लेषण सिरजनहार उपन्यास में उद्धृत है।

सिरजनहार उपन्यास में मिथिलांचल का समाज अपनी लोक संस्कृति के साथ उपस्थित है। विद्यापति के जन्म को लेकर उनके पूरे जीवन के अनगिनत प्रसंगों में मैथिल समाज उपस्थित है। उपन्यासकार ने विद्यापति के माध्यम से लोकरंग, उत्सव और सामाजिक रीति-रिवाजों का सूक्ष्म वर्णन किया है। विद्यापति के इर्दगिर्द का समाज कैसा था इसका एक सुंदर उदाहरण उपन्यास में उद्धृत है, “महारानी लखिमा का एक तो गढ़बिसफी नैहर था, दूसरे वे अत्यंत आत्मीय मित्र शिव सिंह की पट्टमहिषी थी। अतः विद्यापति के सौध में आना अति सामान्य घटना थी। परंतु महारानी धीरमती देवी का श्वेत शिविका पर आरूढ़ होकर कवि के श्री चरणों में शीश नवाने आना एक बड़ी घटना थी। धीरमती देवी गढ़बिसफी आयीं। उन्होंने बाणेश्वर महादेव के मंदिर को नए सिरे से संवारा तथा पथिकों के लिए सराय का प्रबंध किया। तड़ाग-बाग तथा कुएं खुदवाये। गढ़बिसफी से सेट दो गांव मंदिर को दान में दे दिए। गांव में प्रवेश के पहले ही धीरमती ने सारे कार्य कर दिए। कवि के कानों में यह समाचार पहुँच चुका था। वे सुनकर संतुष्ट हुए, पर मन-ही-मन आशंकित भी हुए। रानी ने आकर कवि के चरण-रज लिये और शीश नवा कर बैठ गई। महारानी धीरमती, आपका कल्याण हो। आपकी देखरेख में

राज्य की स्थिति सुधरे। आपका शासन चिरस्थायी हो।”¹ इस उदाहरण से स्पष्ट है कि युगीन समाज जनता के कल्याण के लिए दृढ़संकल्प था। एक ओर मुस्लिम शासकों का बढ़ता वर्चस्व था तो दूसरी ओर भारतवंशी को अपने अस्तित्व बचाने की जद्दोजहद करनी पड़ रही थी। ऐसे कठिन समय में भक्ति और श्रृंगार की रचनाएं लेकर विद्यापति उपस्थित थे।

विद्यापति भले ही वर्णवादी व्यवस्था के अंग थे परंतु व्यक्तिगत रूप से उन्होंने वर्णवादी व्यवस्था का घोर विरोध किया। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है कि उन्होंने संस्कृत भाषा का ज्ञान तो अर्जित किया परंतु आत्मभिव्यक्ति के लिए लोकभाषा ‘मैथिली’ का चयन किया। वे विद्वता की बनी बनाई परंपरा का एक सिरे बहिष्कार करते हैं। हिंदू धर्म में व्याप्त जाति व्यवस्था का चित्रण उपन्यासकार इस प्रकार करती हैं, “ऐतिहासिक रूप से वे इसलिए अमर हैं कि उन्होंने मिथिला के ब्राह्मण एवं कायस्थ वर्ग को पंजीकृत किया। पंजीकृत करने के क्रम में उन्होंने बड़ा वर्गीकरण भी किया। कुछ सिद्धांत बनाए तथा उनके पालन के नाम पर पंजीकारों को मनमानी करने की छूट दी। वेदयज्ञ, शास्त्रज्ञ, उपाध्याय इत्यादि के नाम श्रोत्रिय, योग्य इत्यादि का वर्गीकरण हुआ। महाराज के निकट रहने वाले ब्राह्मणों को ऊंची उपाधि से विभूषित किया गया। अन्यो को सामान्य कोटि में छोड़ दिया गया। पंजी व्यवस्था की इन विसंगतियों से दुखी होकर पंडित नाह झा अर्थात् अर्थात् ओयन ठाकुर के वंशज पंडित कामेश्वर झा सुगांव नामक स्थान पर जाकर तप करने लगे।

सम्राट हरिसिंह देव के राज्य पर जौनपुर के प्रथम सुल्तान ख्वाजा जहाँ ने अधिकार कर लिया था। दिल्ली पर तैमूर लंग के जाने के बाद फिरोज शाह तुगलक ने अपनी सैन्य शक्ति बढ़ायी और विजित प्रदेश को फिर से प्राप्त किया। जौनपुर के सुल्तान को सबक सिखा कर गंगा पर आए। उन्हें महाराज हरि सिंह के राज्य की दुर्दशा देखने को मिली।”² यह ज्ञात है कि भारत में वर्णाश्रम की व्यवस्था पौराणिक काल से ही है। इसे विद्यापति अपने युग में भी देखते हैं, ऐसी व्यवस्था पर आपत्ति जताते हुए कहते हैं, “छूआछूत की नई धारणा ने जन्म ले लिया था। संभवतः इसका कारण यह था कि दोनों का खानपान, रहन-सहन सर्वथा विपरीत था। हिंदुओं के लिए जो पूज्य थी, तो इस्लाम धर्मावलंबियों के लिए भोज सामग्री। यह आस्था और विश्वास पर कुठाराघात सा लगता। अतः हिंदू धर्म की आज का स्वरूप इस्लाम ना पा सका। इस्लाम के मानने वाले अनेक कारणों से काफी बढ़ गए थे, तथापि बहुसंख्यक हिंदू ही थे।”³ समाज की विविधता उसे वक्त में काफी व्यापक हो चुकी थी। केवल हिंदू-मुस्लिम में ही झंझट नहीं था बल्कि हिंदुओं में भी जाति भेद के कई कई प्रकार और उसके अंतरविरोध देखे जा सकते थे।

समाज में स्त्री और राज्य प्राप्ति के वर्चस्व को लेकर आपसी युद्ध और तनातनी की स्थिति प्रायः बनी रहती थी। लोक में कभी-कभी डर का माहौल भी व्याप्त होता था। समाज में स्त्री का शरीर भोग की वस्तु के रूप में प्रदर्शित होता था। एक राजा की कई-कई रानियां हुआ करती थीं। सिरजनहार उपन्यास में भी राजा शिव सिंह की दो रानियां हैं। पितृसत्तात्मक समाज की काम भावना (सेक्स) अपने चरम पर हुआ करती थी। ऐसी भावना की एक तस्वीर उष्णकिरण खान उपन्यास में प्रस्तुत करती हैं, “कनक घट उरोज पर बेर सा कुचाग्र, केहरि कटि, स्वर्ण घट समान नितंब, आमंत्रण देती दृष्टि। क्षण भर को कवि विद्यापति शिवसिंह से ईर्ष्या कर बैठे। जब झूला टूटा तब वही क्यों थे, विद्यापति क्यों नहीं?”⁴

समाज में स्त्रियों की स्थिति का यथार्थपरक चित्रण सिरजनहार उपन्यास को विशिष्टता प्रदान करता है। एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है, “देश देशांतर घूमने के बाद यह इन्हें ज्ञात था कि स्त्रियों का व्यापार होता है। देह व्यापार के लिए स्त्रियां लाई जाती हैं, कूटों, दलालों द्वारा परंतु उस दल से कैसे निकाली? दाल का प्रत्येक व्यक्ति उपस्थित था मात्र यह दो स्त्रियाँ निकल गईं। क्या सिमरिया घाट से ही किसी से साथ गांठ थी

परंतु बेला शीघ्र किसी प्रलोभन में पड़ने वाली नहीं थी क्या हुआ उनके साथ?”⁵ विद्यापति युगीन समाज का क्रूर यथार्थ उपन्यास में उद्धित है। स्त्रियों की खरीद बिक्री सामान्य बात थी। स्त्रियों की परख उसके हुस्न से की जाती थी। हुस्न के जौहरी स्त्रियों की काम भावना से उनकी परख कर लेते थे। मुस्लिम शासकों द्वारा हिंदू स्त्रियों की जवानी को कई प्रकार से परखा जाता था। इसका विद्रूप परिणाम यह हुआ कि स्त्री की संवेदनाओं का कत्ल हुआ और स्त्री कहीं से भी इंसान के दायरे में नहीं आ पाई, वह भोग्या की भोग्या बनी रही।

उषाकिरण खान के उपन्यासों में ऐतिहासिक पात्र पुनर्जीवित होते हैं। उनके उपन्यासों की कथावस्तु इतनी जीवंत है कि उपन्यास अपनी समसामयिक प्रासंगिकता सिद्ध करता है। ‘अगन हिंडोला’ उपन्यास के माध्यम से शेरशाह सूरी के व्यक्तित्व और उसके पराक्रम की गाथा को रोचक अंदाज में प्रस्तुत किया गया है। वे लोगों के साथ कैसा व्यवहार करते थे? उनकी संवाद शैली कैसी थी? आदि-आदि अनगिनत मुद्दों को काफी सूक्ष्मता से उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है। ‘अगन हिंडोला’ का लेखन अति चुनौती पूर्ण रहा होगा; क्योंकि मध्यकालीन परिवेश के अनुरूप भाषा-शिल्प का प्रयोग, साथ ही कथानक को विश्वसनीय बनाते हुए, गल्पों का समावेश उषाकिरण खान की सृजनशीलता का ही कमल हो सकता है। सर्वाधिक आश्चर्यजनक बात तो यह है कि शेरशाह के व्यक्तिगत जीवन के विविध प्रसंगों को विस्तार से उपन्यास में जगह देती है। शेरशाह (1472 से 1545) के समय में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध कई प्रकार के झंझावातों से घिरे थे। शेरशाह का पहला प्रेम चंपा से हुआ, जो एक राजपूत थी। इस प्रेम का अंत दुखद रहा। चंपा जलकर मर जाती है और शेरशाह शोकाकुल हो जाते हैं। उस दौर में भी हिन्दू-मुस्लिम वैवाहिक संबंधों की सामाजिक स्वीकृति नहीं थी। मुस्लिम शासक बहुसंख्यक हुए थे, जो किसी न किसी रूप में हिंदू धर्म अवलंबियों को प्रताड़ित करते थे। शेरशाह उन सभी शासकों में अपवाद थे। उन्होंने भारतीय समाज को समझा एवं हिंदुओं के साथ-साथ सौहार्दपूर्ण व्यवहार किया। शेरशाह ने हिंदुओं की संस्कृति का सम्मान किया। वे जान चुके थे कि बगैर हिंदुओं के साथ भारत में कुछ भी ऐतिहासिक नहीं किया जा सकता है। शेरशाह अपने शासनकाल में कुछ इस प्रकार का फरमान निकलते थे, “सभी गांव में मुसलमान के लिए मस्जिद बनाए जाएं, जिसके लिए वक्फ की जमीन दी जाए। हिंदुओं के लिए भी उनकी मर्जी के अनुसार मंदिर बने जिसके लिए जमीन दान हो। हिंदुओं को जमीन दिया जाए, जिस पर मंदिर, विद्यालय बने और पंडित तथा शिक्षकों को वेतन दिया जाए, जिसके लिए पांच व्यक्तियों का एक संगठन बनाया जाए। उनके धर्म में कई संप्रदाय हैं जिनका प्रतिनिधित्व हो। वह अपने विद्यार्थियों को ज्ञान, कला-कौशल में निपुण बनावे। यदि कोई विद्वान इंसान दुखित हो तो राज्य को अपने दुख की जानकारी दे। राज्य उनकी सहायता के लिए प्रतिबद्ध है। विद्वानों की सेवा ही धर्म और संप्रदाय की सेवा है।”⁶ इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि शेरशाह ने मुस्लिम शासकों की छवि को सुधारने का काम किया। वे यह मानते थे कि धर्म इंसानियत को कायम रखने का नाम है ना कि इंसानियत को खत्म करने का। शेरशाह हिंदू समाज की कद्र करते थे, ‘जनेऊ’ को ऊंचे स्थान पर रखवाते थे। साथ ही सत्तू, चूड़ा, गुड़ जैसे खाद्य सामग्री को ग्रहण करते थे। वह हिंदुओं के पर्व-त्यौहार जैसे होली, दिवाली, रक्षाबंधन आदि के महत्व को समझते थे। ‘अगन हिंडोला’ उपन्यास के माध्यम से मध्यकालीन भारतीय समाज की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत करने का प्रयास उपन्यासकार ने किया है। यह चित्र मध्यकालीन शासकों के क्रियाविधि का लेखा-जोखा भी है।

उषाकिरण खान अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में कथानक के माध्यम से अतीत को कुरेदती हैं। वे व्यक्ति, स्थान, घटना कहीं से भी इतिहास में प्रवेश कर जाती हैं। ‘रतनारे नयन’ उषाकिरण खान का एक ऐसा ही उपन्यास है। इस उपन्यास के माध्यम से वर्तमान पटना शहर के यथार्थ को चित्रित करती हैं। इस उपन्यास के समर्पण में ही उन्होंने कहा है- “मगध की इस विराट उर्वरा-भूमि को, जिसने मुझे व्यक्तित्व दिया।” पूरे उपन्यास

में पात्रों के माध्यम से अजीमाबाद, पाटलिपुत्र, बड़ी पटनदेवी, छोटी पटनदेवी, गुरुद्वारा, दाता कंबल शाह का मजार, फुलवारी शरीफ का खानकाह, गांधी मैदान और गोलघर के चित्र उकेरती हैं। उपन्यास के प्रारंभ में ही घोषणा करती हैं, “रतनारे नयन पटना की अधिष्ठात्री देवी परन देवी हैं। वे ही हजारों साल से देखती आई हैं इस नगर को। बारंबार बसते, उजड़ते। यह शहर बस्ता ही रहा है, उजड़ा कभी नहीं। यह सच है कि राजतंत्र की जन्मदात्री नगरी जिसने संपूर्ण भारत पर अखंड राज किया। वह कालांतर में अपना दर्जा अपनी अवस्थिति बरकरार नहीं रख सका। परंतु उससे कोई विशेष फर्क न पड़ा। इस भूमि पर भारत और विदेश से लोग आकर स्थापित होते रहे। यहाँ बाहें फैला कर सुस्वागतम कहने को तैयार रहता है। ग्रीक हेलेनी हो कि सिंहली तिष्यरक्षिता सबका। आजाद पटना विद्रोह को जन्म देता रहा। युवकों की पूरी फौज परिवर्तन के लिए तैयार रहती है। लेकिन यह बहुत सारी उपलब्धियाँ अपने नाम करके भी खाली हाथ रह जाता है। कथा का अंत होता है सन 2000 के आम चुनाव की पूर्व संध्या पर। चुनाव का भ्रष्ट होता स्वप्न झेल रहा है पटना। पटना यानी संपूर्ण बिहार और उसे देख रही है पटन देवी ।

जे.पी. के अनन्य सहयोगी आचार्य राममूर्ति ने वैसे ही समय स्त्रियों की शांति सेना गठित की थी। किसी प्रखर पत्रकार के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था कि अगली सदी स्त्रियों की होगी; शांति सेवा इनकी तो क्रांति सेवा भी इन्हीं की होगी। आज 21वीं सदी के 21 साल बीत गए, आचार्य राममूर्ति जी का यह कथन पूर्णतः सत्य हुआ। जाने कब से देख रही हैं और अहर्निश जगत वे रतनारी आंखें जो योग-क्षेम की आकांक्षी हैं, जाने कब तक देखती रहेगी।” यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि उषाकिरण खान के उपन्यास का नरेटिव प्रकांतर से अतीत के अस्त्र से वर्तमान की पड़ताल करता है। गंगा नदी का पावन जल कितना दूषित हुआ है इसका लेखा-जोखा उषाकिरण खान शानदार शिल्प में प्रस्तुत करती हैं। वास्तव में, ‘रतनारे नयन’ गहन चिंतन की प्रणाली विकसित करता है जिससे वर्तमान की खामियां उजागर होती हैं।

‘भामती’ उषाकिरण खान का चर्चित उपन्यास है। अद्वैत दर्शन के टीकाकार पं. वाचस्पति मिश्र के जीवन पर आधारित अद्भुत उपन्यास है। एक साधक अपनी साधना कहाँ तक स्थापित कर सकता है, इसे कथानक के माध्यम से उषाकिरण खान ने प्रस्तुत किया है। मंडन मिश्र द्वारा ‘ब्रह्मसूत्र’ के शंकरभाष्य की टीका में वाचस्पति ऐसे लीन हुए कि उन्हें दीन-दुनिया की सुधि न रही। नवविवाहित भामती इस दौरान उनकी सेवा में हरदम समर्पित रहीं। उन्होंने वाचस्पति के काम में कोई बड़ी अड़चन न आने दी। टीका दीर्घकाल तक चलती रही। जब संपन्न हुई तो वाचस्पति ने देखा कि एक अधेड़ स्त्री दीप जला रही है। पूछा, आप कौन हैं?’ भामती ने उत्तर दिया, ‘मैं आपकी पत्नी हूँ।’ वाचस्पति ने टीका का नामकरण ही ‘भामती-टीका’ रख दिया।

इस उपन्यास के बहाने दसवीं सदी के मिथिला और उसके सामाजिक राजनीतिक व ऐतिहासिक परिस्थितियों की सुंदर कलात्मक कथात्मक पड़ताल है। इस उपन्यास के कई प्रसंग बेहद रोचक हैं, जिसमें मैथिल समाज की जड़ताएं उजागर होती हैं।

निष्कर्षणतः उषाकिरण खान के उपन्यासों के नरेटिव पौराणिक होकर भी समसामयिक समाज की दुखती नब्ब पर नजरें इनायत करती हैं। वे धर्म, जाति और स्त्रियों से जुड़े अनकहे पहलुओं को कथानक में बेहद मासूमियत के साथ प्रस्तुत करती हैं। इस कड़ी में ‘कथा रजोखर’ और ‘दिनांक के बिना’ विशिष्ट हैं। सच तो यह है कि उषाकिरण खान की औपन्यासिक रचनाओं से गुजरना इतिहास के सूक्ष्म विश्लेषण से गुजरना है। इनके विभिन्न उपन्यासों में आए समाज को पढ़कर हम अतीत के ऐसे दौर में प्रवेश करते हैं, जहाँ इंसानियत को बचाने के कई विचार आपस में संघर्ष कर रहे थे। इस बात से ही इंकार नहीं किया जा सकता है कि उषाकिरण खान के उपन्यास शोध परख उपन्यास है। ऐसे उपन्यासों को समझने के लिए एक विशेष प्रकार के धैर्य की

आवश्यकता है।

संदर्भ :

1. उषाकिरण खान, सिरजनहार, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, वर्ष 2010, पृ. 367
2. वही, पृ. 48
3. वही, पृ. 49
4. वही, पृ. 133
5. वही, पृ. 147
6. उषाकिरण खान, अगन हिंडोला, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 2019, पृ. 100-101
7. उषाकिरण खान, रतनारे नयन, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 2022, पृ. 08



लोक की परिधि में कबीर काव्य

○ अरविंद कुमार*

कबीरदास गहन मानवीय संवेदना के कवि थे। उन्होंने अपने चिन्तन को मनुष्यता और सामाजिकता से जोड़ा है। उन्होंने न तो इस बात का दावा किया कि वे शाश्वत की बात करते हैं और न उन्होंने समसामयिक प्रसंगों को पूर्णतः निरर्थक घोषित किया। उनका सबसे बड़ा लक्ष्य था धर्म की उन विसंगतियों को उजागर करना, जो अपने पाखंड से मुनष्य को बर्बाद करने पर तुली थीं।

आध्यात्म में लोक चिंतन :

भारतीय चिंतन प्रारंभ से ही आध्यात्म से जुड़ा रहा है, इसलिए भारतीय साधना की परम्परा भी अत्यंत प्राचीन है। यहाँ के समस्त दर्शन आध्यात्म के इसी मूल स्रोत से जुड़े हुए हैं। इन्हीं दर्शनों से अनेक संप्रदायों का भी जन्म हुआ है। सारे दर्शन मानव शरीर में ही सृष्टि के सार को निहित मानते हैं। जो ब्रह्मांड में है, वही पिण्ड में है।

बौद्धों और सिद्धों का प्रभाव भी इन परवर्ती सम्प्रदायों पर पड़ा। बौद्धों की सहजयान साधना का स्पष्ट प्रभाव कबीर के आध्यात्मिक चिन्तन पर है। इनका विश्वास था कि ईश्वर की उपलब्धि सहज साधना से संभव है, ज्ञान से नहीं। ईश्वर पोथियों के ज्ञान से नहीं आत्मानुभूति से प्राप्त होता है। इसलिए कबीर ने पोथियों को अस्वीकार कर प्रेम को महत्व दिया है। वे कहते हैं—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।

ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥

कबीर की साधना का आधार प्रेम है। बाह्याचार प्रेम में बाधक है। इस बाधा को दूर करने का कबीर ने प्रयास किया है और 'ढाई आखर प्रेम का' पाठ पढ़ाया।

कबीर ने परम तत्त्व को समन्वय का आधार बनाया। उन्होंने अनेकत्व में एकत्व स्थापित करने की कोशिश की। भिन्नत्व को अभिन्नत्व खोज निकाला। उन्होंने राम-रहीम के फेर में न पड़कर सत्य पर विचार किया। यह सत्य जो अन्यत्र नहीं है, मानव के भीतर है। उन्होंने उस घट-घट के राम को पहचाना ही नहीं उस सत्य की 'लाली' से जगत को सराबोर भी कर दिया—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।

लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

* प्राध्यापक, संगीत विभाग, मगध महिला कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

कबीर में साधना व्यष्टि से समष्टि की ओर जाती है। वह साधना लोक को जगत् से जोड़ती हैं। कबीर ने गृहस्थ धर्म की पूजा की है। कबीर पलायनवादी नहीं हैं। वे गृहस्थ ऋषि हैं, पूर्णतः कर्म के प्रति आस्थावान। केवल परिवार ही उनका अपना नहीं है, बल्कि सारी दुनिया उनका परिवार है- 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना। अतः कहा जा सकता है कि उनका काव्य आध्यात्मिक चिन्तन की लोकाभिव्यक्ति है।

कबीर ने ब्रह्म की कल्पना निर्गुण रूप में की है। वे निराकार ब्रह्म की उपासना की सलाह देते हैं जो व्यक्ति के अपने ही भीतर निवास करता है। वे कहते हैं-

ज्यों तिल माहि तेल है, ज्यों चमकत में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में, जागि सकै तो जागि॥
कस्तुरी कुंडली बसै, मृग ढूँढ़ै बन माहि।
ऐसे घटि घटि राम हैं, दुनिया देखै नाहि॥

कबीर का भक्त रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप भी स्वयंमेव प्रकाशित हो उठते हैं। एक सच्चे साधक के रूप में उनकी आत्मा ब्रह्म के तदाकार होने के लिए तड़पती रहती है-

तलपै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चौन रात नहिं निंदिया,
तलफ-तलफ के भोर किया॥

कबीर आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का निरूपण कई रूपों में करते हैं। यह सम्बन्ध प्रियतम और बहुरिया का है-

हरि मेरा पीव माई, हरि मोरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव॥
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥

कबीर का स्वप्नलोक 'बेगमपुर' है, जहाँ कोई गम नहीं है, केवल आनन्द ही आनन्द है।

अधर आसन किया सगम प्याला पिया
जोग की मूल जग जुगुति पाई।
पग बिन जाय चल सहर बेगमपुरे
दया जगदेव की सहज आई।
ध्यान धर देखिया नैन-बिन पेखिया
अगम अगाध सब कहत भाई।
सहर बेगमपुरा गम्म का, ना लेहे
होय बेगम्म जो गम्म पावै।

समाधि की अवस्था में साधक अगम (रहस्यातीत) रस का प्याला पीता है और योग की मूल युक्ति को पा लेता है। वह बेगमपुर शहर में बिना किसी पंथ के पहुँच जाता है। उसे जगदीश्वर की दया सहज मिल जाती है। अद्भुत है वह लोक। हर तरह के भेद-भाव से परे। वहाँ कोई बड़ा नहीं, छोटा नहीं। कबीर का एक बड़ा विलक्षण पद है-

अमरपुर ले चलु हो सजना

वोहि रे, अमरपुर संत बसतु है दरसन है लहना।
संत समाज सभा जहाँ बैठी, वहीं पुरुष अपना।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, भवसागर है तरना।

अमरपुर में संत बैठते हैं, वहीं पर अपना पुरुष है। अद्भुत है, वह लोक। पौरुष के दंभ से मुक्त होकर ही वहाँ जाना है। कबीर जब परब्रह्म से मिलने का वर्णन करते हैं तो अक्सर स्त्रैण मनोवृत्ति से करते हैं। 'बारह मास वसंत होय, परमारथ बूझै बिरला कोय।' वहाँ वृक्ष के बिना ही आकाश फूलों से भरा रहता है और वहाँ शिव और ब्रह्म का निवास है। कोई भेद-क्लेश नहीं वहाँ,

अवधू वेगम देस हमारा।
राजा रंक-फकीर-बादसा, सबसे कहौं पुकारा॥
धरनि-आकास-गगन कछु नाहीं, नहीं चन्द्र नहिं तारा।

बेगम बिना गम का देश समासोक्ति से बेगम भी है, जिनके लिए राजा और बादशाह व्याकुल रहते हैं-

चल हंसा वा देस जहाँ पिया बसै चितचोर।
सुरत सोहागिन है पनिहारिन, भरे ढाढ़ बिन जेर॥
वहि देसवाँ बादर ना उमड़ै रिमझिम बरसै मेह।
चौबारे में बैठ रहो ना, जा भीजतु निर्देह॥
वहि देशवा में नित पूर्णिमा, कबहुँ न होय अँधेर।
एक सुरज के कवन बतावै, कोटिन सुरज अँजोर॥

कबीर का मन ऐसे लोक की परिकल्पना में मगन रहता है जहाँ दिया चितचोर बसते हैं। वहाँ बादल नहीं उमड़ते हैं लेकिन मेघ रिमझिम बरसता है। वहाँ सदेह नहीं पहुँचा जा सकता, पर मन भींगता है। अजब देश है वह, जहाँ नित्य पूर्णिमा है, कभी अंधेरा नहीं होता। एक की कौन पूछे, करोड़ों सूर्य का प्रकाश वहाँ फैला रहता है।

कबीर का बेगमपुर प्रेम नगर भी है। यह वह जगह है जहाँ निर्गुण-सगुण का भेद भी काम नहीं करता। ऐसी वह सत् की नगरी है, जहाँ पहुँचने का रास्ता सद्गुरु ही दिखा सकते हैं।

गुरु गोबिन्द दोऊ खरे, काको लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपने, गोबिंद दियो बताय॥

कबीर का स्वप्नलोक मनुष्यता का आदर्श लोक है। वही अमरपुर है, वही बेगमपुर है। कबीर वहाँ पहुँचते हैं, वह चाहे योग के बल पर हो या भक्ति के बल पर। उनकी जीवनचर्या भाव लोक में अध्यात्म और काव्य का लोक समृद्ध करती है। एक ओर 'मन मस्त हुआ तब क्या बोले' और 'रस गगन गुफा में अजर झरै' का आवेग और प्रवाह है तो दूसरी ओर 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' का श्रम-संगीत।

सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश में लोक :

कबीर मूलतः आमजनों के संत-कवि थे, जिनके काव्य का विषय धर्म, दर्शन और अध्यात्म है। इस गहन विषय से अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने सामाजिक सांस्कृतिक जीवन को चुना है। कबीर को इस जमीन पर खड़ा होने के लिए लोकतत्वों का सहारा लेना उचित जान पड़ा है, क्योंकि ऐसा होने पर ही जन सामान्य के मानस में अपने को वे गहराई के प्रतिष्ठित कर सके हैं।

मनुष्य के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु विवाह है। इसलिए विवाह, पति-पत्नी की प्रणय लीला और इसके विविध आयामों को कबीर ने अपने काव्य में अपने ढंग से मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति दी है। मुख्य रूप से अपने आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने विवाह और पति-पत्नी के सम्बन्ध को चुना है। इस संस्कार की समस्त विधि-विधान लोकतत्त्वों से जुड़ा हुआ है इसलिए कबीर अपने आध्यात्मिक अर्थ के लिए लोक तत्त्वों के भीतर से विवाह की झाँकी को अत्यन्त ही सरसता के साथ प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए निम्नांकित पद इस प्रकार है-

दुलहनी गावहु मंगलचार
हर घरि आए हो राजा राम भरतार।
तन रत करि मैं मन रत करि, पंचतत बराती।
रामदेव मोरे पाहुनै आए, मैं जोबन में माती॥
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संगि भांवरि लैहूँ धनि धनि भाग हमार॥
सुर तैतीसू कोतिग आह मनियर सहस अठयासी।
कहे कबीर हम व्याहि चले, पुरिष एक अनिवासी॥

बारात द्वार पर आ गई है आत्मा रूपी वधू सभी सखियों से मंगल गाने के लिए कह रही है, क्योंकि उससे व्याह रचाने के लिए राम वर के रूप में आए हुए हैं। वधू सभी प्रकार से सुसज्जित है, और पाँचों तत्त्व बारात के रूप में आए हुए हैं। प्रभु मेरे द्वार अतिथि बनकर आए हैं, मैं उनका स्वागत पति रूप में वरण करूँगी। विवाह के अवसर पर बनाई जाने वाली वेदी मेरे शरीर की होगी, ब्रह्मा वेद-मंत्रों का उच्चारण करेंगे और मैं रामदेव के साथ भावरे लूँगी। मेरा भाग्य कितना अच्छा है इस विवाह को देखने के लिए तैंतीस करोड़ देवता और अट्ठासी सहस्र मुनिवर आए हैं।

यहाँ आत्मा परमात्मा का विवाह समाज में प्रचलित लौकिक विवाह के रूप में हुआ है। यहाँ इसका आध्यात्मिक सौन्दर्य लोकतत्त्व के सौन्दर्य पर आधारित है। भरतार, पाहुनै, भाँवरि आदि लोकतात्विक शब्दों द्वारा आध्यात्मिक सौन्दर्य सार्थक हो सका है।

गवना शब्द संस्कृत के 'गमन' का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है जाना। इस दिन लड़की पिता के घर से चली जाती है- विदा हो जाती है। इसलिए इसे 'गवना' कहते हैं। कबीर ने अपने आध्यात्मिक अर्थ के लिए लोकतत्त्व के रूप में 'गौने' की प्रथा को अत्यन्त ही करुण ढंग से प्रस्तुत किया है-

आयौ दिन गैने के हो, मन होत हुलास।
डोलिया उठाये बीजा बनवाँ हो, जहँ कोई न हमार॥

इस पद में गौना प्रथा जैसे संस्कार के रूप में कबीर ने आत्मा और परमात्मा के मिलन का वास्तविक सौन्दर्य प्रस्तुत किया है।

कन्या की विदाई का समय बड़ा ही कारुणिक होता है, जहाँ वर पक्ष वालों में आनन्द और उल्लास छाया रहता है, वहीं कन्या पक्ष के लोगों में विषाद की अमिट रेखा दिखाई पड़ती है। विदाई के अवसर पर माता, पिता, भाई, बहन के साथ गाँव की स्त्रियों का सामूहिक करुण क्रन्दन सुनकर बड़े-बड़े धैर्यशालियों का भी धीरज टूट जाता है। कबीर ने अपने आध्यात्मिक अर्थ के लिए लोकसंस्कृति के भीतर से विदाई और डोली का वर्णन अत्यंत कारुणिक ढंग से किया है-

साईं मेरे साजि दई एक डोली,
हस्त लोक अरू मैं तैं बोली॥
इक झंझर सम सूत खटोला, त्रिष्णां बाव, चहुँ दिसि डोला।
पाँच कहार का मरम न जाना, एकैं कह एक नहीं माना।
भूभट घाम उहार न छावा, नैहर जात बहुत दुःख पावा।

कबीर की डोली बनाने वाले स्वयं प्रभु हैं, यह डोली सूत से बिनी गई है, जिसके चारों ओर, त्रिष्णा रूपी चादर बाँध दी गई है। डोली के ऊपर उहार नहीं डाला गया है, तेज धूप होने के कारण डोली में आत्मा रूपी वधू को कष्ट हो रहा है। पाँच कहार आपस में हास-परिहास करते हुए डोली ले जा रहे हैं।

इस पद में डोली, खटोला, कहार, भूभट, घाम, उहार, नैहर आदि लौकिक प्रतीकों का प्रयोग करके कबीर ने आध्यात्मिकता की ओर संकेत किया है।

माता का हृदय अत्यंत कोमल होता है। पुत्र के प्रति उसका वात्सल्य प्रेम कोमल हृदय का परिचायक है।

हरि जननी मैं बालक तोरा
काहे न औगुन बकसहु मोरा।
सुत अपराध करै दिन कोते,
जननी के चित रहें न तेते।

इस पद में माता और पुत्र के वात्सल्य प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। पुत्र कितना ही अपराध क्यों न करे, लेकिन माता की तरफ से सभी क्षम्य है। कबीर ने माता-पुत्र जैसे लैकिक प्रतीकों का प्रयोग आध्यात्मिक भाव को सरस एवं सारगर्भित बनाया है।

ससुराल में पति के अतिरिक्त सास-ससुर, जेठ-जेठानी, ननद सभी परिवार में अपरिचित से मिलते हैं, उनका आपस में सम्बन्ध रुचिकर नहीं दिखाई देता है। कबीर ने अपने काव्य में सामाजिक जीवन का चित्रण बहुत ही सहज ढंग से किया है-

सासू कहै काति बहू ऐसैं,
बिन कातै निसतरिवौं कैसे॥

व्यवसाय सम्बन्धित इस गीत में सास बहू के सूत काटने के लिए कह रही है। सास और बहू का सम्बन्ध ही ऐसा होता है कि बार-बार व्यंग्य चलता रहता है। “बिन कातै निसतरिवौं कैसे” शब्दों का लौकिक प्रयोग बहू पर सास द्वारा किया गया अत्याचार का प्रतीक है।

ससुराल जाकर वधू ‘नैहर’ को भूल जाती है और ससुराल को ही अपना सब कुछ समझने लगती है। सास, ससुर, पति, ननद, आदि सभी के लिए सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग करती है। कबीर काव्य में आत्मा रूपी वधू भी अपने पति का नाम नहीं लेती। उसके स्थान पर स्वाभाविक ढंग से मधुर शब्दों का प्रयोग करती हुई कहती है-

अब मोहि ले चलि नणद के वीर अपनै देसा।

कबीर की आत्मा रूपी वधू प्रियतम से मनुहार करती है कि हे प्रिये! अब मुझे अपने देश ले चलो। पति के लिए इस गीत में ननद के वीर शब्द का प्रयोग बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है जो सामाजिक आचार-विचार पर आधारित है तथा लोकतत्व का अभिव्यंजक भी।

प्रेम की परिपूर्णता एवं परिपक्वता के लिए विरह आवश्यक माना गया है। विरह के द्वारा ही आत्मा परमात्मा

की ओर और भी दृढ़ता के साथ उन्मुख होती है। इसीलिए प्रत्येक शाखा के भक्ति-काव्य में चाहे सगुण का उपासक हो चाहे निर्गुण का, विरह का विधान दिया गया है। कबीर का विरह दुःख बड़ा अनोखा और विलक्षण है, क्योंकि इसमें न तो विरहिणी ही प्रियतम तक जा पाती है और न प्रियतम ही उससे मिलने आता है-

बहुत दिनन की जोवती
वाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ,
मनि नहीं विज्ञाम॥

इस प्रकार विरहिणी का मन तीव्र जवाला में जल-जल कर भस्म होता रहता है। यह लौकिक दर्शन आध्यात्म के अनुभूति को बढ़ाने वाला है।

समाज में बहुत-सी लोक प्रथाएँ ऐसी चल पड़ी थीं, जिसे सही नहीं कहा जा सकता। अतः कबीर को वैसी लोकप्रथाओं की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित करना पड़ा। कबीर के समय पर्दे की प्रथा उग्र रूप धारण कर चुकी थी। युग द्रष्टा कबीर को उस प्रथा में बुराई लगी और उन्होंने आध्यात्मिकता और लौकिकता की आड़ में ही कह ही डाला-

रहु-रहु री बहुरिया घूँघट जिनि काढ़।
घूँघट काढ़ि गई तेरे आगे,
उनकी गैल तोहि जिनि लागे।

इस पद में कबीर घूँघट जैसी प्रथा को रूढ़ि मानते हैं और साधारण रूप में रहने की बात करते हैं। बहुरिया, घूँघट, आदि लोक-शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक सौन्दर्य के लोकतत्त्व को उजागर करने में समर्थ है। कबीर आत्मा रूपी दुलहिन के घूँघट काढ़ने के लिए मना करते हैं। आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार हो गया तब घूँघट जैसे पर्दा की आवश्यकता ही नहीं है।

कबीर काव्य में सामाजिक संस्कारों और प्रथाओं की चर्चा है। जन-जीवन, आचार-विचार, लोक विश्वास, अन्धविश्वास का यथार्थ समावेश किया गया है। बड़े आश्चर्य की बात है कि कबीर वाणी में किसी प्रथा का निषेध नहीं माना गया है, वरन् उसे आध्यात्मिक रूप से रूपांतरित किया गया है।

सती बिचारी सत किया
काठों सेज बिछाह।
ले सूती पिव आपणा
चहूँ दिसि अगनि लगाई॥

इस साखी में सती के प्रति आदर-भाव दीख रहा है। शरीर की आत्मा रूपी वधू भी परमात्मा रूपी पति के साथ सती होने की चाहत है। यहाँ सती प्रथा को आत्म-परम्परा के आध्यात्मिक मिलन के रूप में रेखांकित किया गया है, जो लोक संस्कृति को एक नया आयाम दिलाता है।

इस प्रकार कबीर के काव्य में विविध सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश का चित्रण हुआ है जो लोकतत्त्व को स्पष्ट करता है।

अस्तु, कबीर ने अपनी दिव्य अनुभूतियों को सांसारिक शब्दावली में व्यक्त किया है। उनके काव्य में भाव और विचार, तथ्य और कल्पना आदि में लोक तत्त्व सहज रूप से विचरते हैं। कबीर का आदर्शलोक बेगमपुर या अमरपुर है जहाँ सभी मानव एक साथ आनंद के साथ रहते हैं। उनके आध्यात्मिक चिंतन का केन्द्रबिन्दु

जनकल्याण है जो इन्हें लोक से जोड़ता है।

कबीर ने अपने आध्यात्मिक, दार्शनिक, भक्त, योगी और विद्रोही आदि व्यक्तित्व के आयामों को लोकधर्मी मोड़ देकर एक आकर्षण पैदा कर दिया है। यह आकर्षण कवि को जनसामान्य के निकट खड़ा कर देता है। कबीर ने विवाह, गवना जैसे लोककृत्य प्रथा तथा परिवारिक एवं सामाजिक संबंधों के चित्रण और जीवन के विविध आचार-विचार को अपने पदों में उतारकर जो सरसता पैदा की है उसका स्वाद वास्तव में मौलिक लोकतत्त्व का स्वाद है।

लोक कवि कबीर ने अपने काव्य में विभिन्न लोकतत्त्वों का प्रयोग करके उसे नवीन मोड़ दिया है। उनकी सौन्दर्य चेतना लोक चेतना से ही व्युत्पन्न है। काव्य का संपूर्ण ढाँचा लोकजीवन की परम्परा से लिया गया है। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक उपदेश में मोड़ आए हैं वहाँ कबीर ने लोकतत्त्वों का सहारा लिया है जिससे काव्य में सरसता और आकर्षण पैदा हो गया है।

(नोट: समस्त उदाहरण कबीर ग्रन्थावली एवं गोरखपुर से प्रकाशित भजनावली से लिया गया है।)



मुकलोम भाषा की लोक कथाओं में स्त्री-जीवन की अभिव्यक्ति

○ मिजुम कारबाक*

मुकलोम, तंगसा जनजाति की एक उपजनजाति है। तंगसा जनजाति मुख्य रूप से अरुणाचल प्रदेश के चांगलांग जिले में निवास करती है। इसकी आबादी चांगलांग, खारसांग, मियाओ आदि क्षेत्रों में फैली हुई है। तंगसा जनजाति के अंतर्गत 20 से अधिक उपजनजातियाँ शामिल हैं— मुकलोम, मोसांग, हावी, जुगली, किमसिंग, रोन्सांग, लोंगचांग, लुंगफी, सांगवाल, सांके, तिखाकस, तोंगलिम, योंगकुक आदि। 2011 की जनगणना के अनुसार तंगसा जनजाति की जनसंख्या लगभग 20,962 दर्ज की गई है। यह समुदाय हर साल अप्रैल महीने की 25 तारीख को अपना पारंपरिक त्योहार 'मोह-मोल' मनाता है।

तंगसा समुदाय की भाषा 'तंगसा भाषा' कहलाती है। यह तिब्बती-बर्मी भाषा परिवार से संबंध रखती है। वर्तमान में इनकी अपनी कोई लिपि नहीं है किन्तु यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इनकी लिपि निर्माण की प्रक्रिया में है। इनकी लिपि 'तंगसा लिपि' है। तंगसा लिपि की शुरुआत सर्वप्रथम सन् 1990 ईस्वी में श्री लाखुम जोंगका मोसांग द्वारा की गई थी। उनके द्वारा लगभग 80 प्रतिशत लिपि का निर्माण कर दिया गया था। तंगसा लिपि एक ध्वनि आधारित लिपि है। चूंकि तंगसा लिपि के निर्माणकर्ता मोसांग उपसमुदाय के थे इसलिए लिपि के ध्वनि चिह्नों में भी मोसांग भाषा का प्रभाव देखने को मिलता है। उदाहरणस्वरूप मोसांग भाषा में (क) के लिए 'क' अक्षर से शुरू होने वाले शब्द के अर्थ के आधार पर ही उसका ध्वनि चिह्न रखा गया है। जैसे 'क' से 'कान', जिसका अर्थ होता है पहाड़। इसलिए 'क' के ध्वनि चिह्न के रूप में पहाड़ की आकृति बनायी गई है। इसी तरह अन्य ध्वनि चिह्न भी अपने आसपास के दैनिक व्यवहार की वस्तुओं और प्रकृति से ही लिए गए हैं। वर्तमान में तंगसा लिपि को विद्यालयों में तीसरी भाषा के रूप में पढ़ाया जा रहा है।

मुकलोम उपजनजाति मुख्य रूप से चांगलांग जिले की निवासी है। 'मुकलोम' उपसमुदाय के भीतर कई गोत्र हैं, जैसे तेखील, डेमू, तेची, माचा, खिमहुन, तंगहा, हालांग, वांगरे, यानचाड, आदि। 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी आबादी लगभग 6190 है। इनकी भाषा मुकलोम भाषा कहलाती है। इनकी अपनी कोई स्वतंत्र लिपि नहीं है। लिपि के अभाव के कारण मुकलोम लोकसाहित्य वर्तमान में भी वाचिक परंपरा के रूप में ही विद्यमान है। तंगसा समुदाय के अंतर्गत जितने भी उपसमुदाय शामिल हैं वे सभी 'तंगसा लिपि' का ही उपयोग करेंगे। अरुणाचल प्रदेश की अन्य जनजातियों और उपजनजातियों की ही तरह मुकलोम समाज भी अपने

* शोधार्थी, हिन्दी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनों हिल्स, दोईमुख, अरुणाचल प्रदेश।

जीवनयापन के लिए मुख्य रूप से खेती पर ही निर्भर है। इनका मुख्य खाद्य-पदार्थ चावल, बाजरा, अरबी आदि है। मुकलोम लोग पहले संयुक्त परिवार में रहना पसंद करते थे लेकिन वर्तमान में ऐसा बहुत कम देखने को मिलता है। मुकलोम गाँवों में वर्तमान में भी संयुक्त परिवार देखने को मिल जाता है। किन्तु गाँव से बाहर रहने वाले ज्यादातर लोग अपनी सुविधाओं के अनुसार एकल परिवार के रूप में ही रहते हैं।

मुकलोम उपजनजाति और तंगसा के अंतर्गत आने वाली अन्य उपजनजातियों के बीच कई समानताएँ और असमानताएँ देखने को मिलती हैं। खान-पान में, रहन-सहन में समानताएँ दिखती हैं किन्तु बोली में, बोलने की शैली में, पारंपरिक वेश-भूषा आदि में थोड़ी बहुत भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। बोली में भी किसी-किसी शब्द में समानता देखने को मिलती है। हालाँकि मान्यताओं और विश्वासों में सभी एकता के सूत्र से बंधे हुए हैं।

मुकलोम समाज पितृसत्तात्मक और पितृवंशज समाज है। घर के मुखिया भी पुरुष सदस्य ही होते हैं। घर या परिवार से संबंधित जो भी निर्णय लेना होता है, घर के पुरुष सदस्यों द्वारा मिलकर लिया जाता है। निर्णय लेने की प्रक्रिया में महिलाओं को शामिल नहीं किया जाता है। मुकलोम समाज के पितृसत्तात्मक समाज होने का साक्ष्य उनकी पारंपरिक न्याय व्यवस्था में भी देखा जा सकता है। मुकलोम समाज की न्याय व्यवस्था के सभी सदस्य पुरुष होते हैं। हालाँकि मुकलोम महिलाएँ किसी भी प्रकार की बैठक की सुनवाई का साक्ष्य बन सकती हैं किन्तु न्याय-सभा की सदस्य नहीं बन सकती हैं।

मुकलोम लोककथाओं में स्त्री के संदर्भ में यह कहा गया है कि 'बहुत पहले धरती पर जानवर और मनुष्य एक साथ रहा करते थे। उस समय धरती पर केवल महिलाओं का ही शासन था। पुरुषों को देखते ही महिलाएँ उन पर हमला करके उनका मांस खा जाती थीं। महिलाओं के पुरुषों के प्रति इस तरह के व्यवहार के कारण धरती से पुरुष जाति का अस्तित्व ही खत्म हो गया था।' इस संदर्भ में नारायण सिंह राव लिखते हैं कि "With the passage of time, number of females increased and they became dominant in socio-political and cultural life. In family affairs women had full authority. The males suffered miserably. The females started killing males, both adults and children as they were unwilling to allow males to grow and dominate them. Women folk ruled over the land for generations. It is said that entire male population got eliminated by females."² इससे यह समझा जा सकता है कि एक समय ऐसा भी था जब महिलाएँ पुरुषों से अधिक शक्तिशाली हुआ करती थीं। यह महिलाओं के वर्चस्व को प्रकट करता है। घर या समाज से संबंधित फैसले महिलाओं द्वारा ही लिए जाते थे। इस लोककथा से यह भी समझा जा सकता है कि मुकलोम समाज में पितृसत्तात्मक समाज पहले से नहीं रहा होगा। कालांतर में ही पुरुष जाति का दबदबा बना होगा। यह कथा इस तरफ इशारा करती है कि ये समाज अपने प्रारम्भिक दौर में मातृवंशी रहे होंगे।

मुकलोम स्त्रियों का अधिकांश समय खेतों और घर के कामों में ही व्यतीत होता है। मुकलोम महिलाएँ अपने पारंपरिक कपड़े बुनने की कला में माहिर होती हैं। मुकलोम महिलाओं की इस बुनाई-कला को मुकलोम संस्कृति और परंपरा को बचाए रखने में एक महत्वपूर्ण योगदान के रूप में देखा जा सकता है। महिलाओं को समाज या घर के निर्णय लेने जैसी चीजों में शामिल नहीं किया जाता है किन्तु अपने जीवन से संबंधित निर्णय लेने के लिए वे आंशिक रूप से स्वतंत्र हैं। इस संदर्भ में नारायण सिंह राव लिखते हैं, "The females had have the privilege of selecting their own partner in life. They were allowed to freely interact with boys. When some boy was found to be seriously engaged with a girl by establishing physical relations] the society compelled him to marry the girl."³

मुकलोम समाज पितृसत्तात्मक और पितृवंशज समाज है। पिता के बाद उत्तराधिकारी बेटा ही होता है। सम्पूर्ण अचल संपत्ति; जैसे- खेत, जमीन, घर आदि का हकदार बेटा होता है। कुछ चल संपत्ति जैसे पारंपरिक हार, बर्तन, कपड़े आदि को बेटी को उसके विवाह के दौरान भेंट के रूप में दे दिया जाता है। शेष जितनी भी अचल संपत्ति है उसपर बेटी अपना अधिकार नहीं जमा सकती। वह विवाह के पूर्व केवल उसका उपयोग ही कर सकती है। मुकलोम लोककथाओं में यह बताया गया है कि मुकलोम समाज के शुरुआती समय में केवल महिलाओं का ही दबदबा था। 'किन्तु एक दिन जब एक महिला मछली का शिकार करने नदी की ओर गई तब अचानक उसकी टोकरी में इंसानी आँख फँस गई। महिला उस आँख को लेकर घर चली जाती है। अगले दिन जब वह टोकरी खोलकर देखती है तो वह आँख एक पुरुष में परिवर्तित हो जाती है। उसे देखकर गाँव की सारी महिलाएँ उसे खाने के लिए उसके पीछे दौड़ती हैं लेकिन वह किसी तरह अपनी जान बचाकर भाग जाता है। इसी दौरान उसे एक लड़की से प्रेम हो जाता है और दोनों के बीच शारीरिक संबंध स्थापित हो जाता है। इन दोनों के मिलन से ही मानव वंश दुबारा आगे बढ़ता है।'⁴ मुकलोम समाज के लोग इसी से मनुष्य जाति का विकास मानते हैं। यह लोककथा मनुष्य जाति के विकास के साथ-साथ पितृसत्तात्मक समाज की नींव की ओर भी संकेत करती है। इस लोककथा में घटित घटना से पहले महिलाओं द्वारा पुरुषों का नामों-निशान मिटा दिया गया था। (इससे संबंधित लोककथा का विवरण ऊपर दिया जा चुका है।) इससे यह मूल्यांकन किया जा सकता है कि इस घटना के बाद ही पुरुषों की शक्ति और नियंत्रण में बढ़ोत्तरी हुई होगी और पितृसत्तात्मक समाज ने धीरे-धीरे अपनी जड़ फैलाना आरंभ किया होगा। नारायण सिंह राव और वेरियार एल्विन ने भी इस घटना से संबंधित लोककथाओं की विवेचना अपनी पुस्तकों में की है किन्तु कथा की घटनाओं में कुछ अंतर देखने को मिलता है।

मुकलोम लोकसाहित्य में यह देखा जा सकता है कि किसी भी तरह के धार्मिक अनुष्ठानों या त्योहारों में भी महिलाओं की कोई मुख्य भूमिका नहीं है। अनुष्ठानों या त्योहारों में जो गीत या मंत्रों का उच्चारण किया जाता है वह भी पुरुष सदस्यों द्वारा ही किया जाता है। महिलाएँ पीछे से घर के सारे काम-काज संभालती हुई दिखाई देती हैं।

मुकलोम समाज पितृसत्तात्मक जरूर है किन्तु समाज को चलाने के लिए महिलाओं की आवश्यकता पड़ती ही है। इस बात को मुकलोम समाज ने अपनी एक लोककथा में अलौकिक रूप में स्वीकार किया है। लोककथा के अनुसार यह कहा गया है कि 'धरती पर एक पुरुष अपना खेत साफ कर रहा होता है, किन्तु थोड़ी देर बाद थकान के कारण अपना काम छोड़कर विश्राम करने के लिए अपने घर के भीतर चला जाता है। सवेरे जब पुरुष अपने खेत को देखता है तो वह दंग रह जाता है। खेत पूरी तरह साफ और तैयार था। पुरुष सोच में पड़ जाता है और रात को पहरा देकर सच का पता लगाने का निश्चय करता है। आधी रात को वह देखता है कि आसमान से कुछ औरतों का समूह नीचे उतरकर दुबारा खेत साफ करने के कार्य में लग गया है।'⁵ इस लोककथा का यह अंश बताता है कि समाज को आगे बढ़ाने में स्त्रियों की अनिवार्य भूमिका है। इसी के साथ यह लोककथा इस बात को भी इंगित करती है कि स्त्रियों में कलात्मक अभिरुचि होती है।

ये सभी कथाएँ यह बताती हैं कि मानव समाज समय के साथ पितृसत्तात्मक बन गया किन्तु ये सभी कहानियाँ इस बात को भी प्रबल तरीके से स्थापित करती हैं कि कोई भी समाज स्त्री-पुरुष के सहज समन्वय से ही विकसित हो सकता है।

संदर्भ :

1. शोधार्थी द्वारा संकलित लोककथा, डाड्ढतिम शुंखो, मंगलवार, 10/06/2025, समय : 9.00 pm
2. ट्राइबल कल्चर, फैथ, हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर, नारायण सिंह राव, मित्तल पब्लिकेशन, 2006, नई

दिल्ली, पृ. 71

3. वही, पृ. 235
4. शोधार्थी द्वारा संकलित लोककथा, डाड्ढतिम शुंखो, मंगलवार, 10/06/2025, समय : 9.00 pm
5. शोधार्थी द्वारा संकलित लोककथा, डाड्ढतिम शुंखो, मंगलवार, 11/06/2025, समय : 7.15 pm



काशी का यथार्थ

- अरविंद*
- कामसेन तांगजांग**
- मिन्जू लोम्बी***

विश्व के तीन नगरों- रोम, मक्का और काशी का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक काशी का प्रश्न है उसने शास्त्रीय परंपरा को बनाये रखने की दृष्टि से विश्व के सभी प्राचीनतम सभ्यता केन्द्रों को पीछे छोड़ दिया है। यह एक विचित्र शहर है। एक ऐसा शहर, जिसमें सर्वाधिक सुन्दर के साथ ही घृणिततम को भी आत्मसात् करने की क्षमता है। यह जैसे शिव का नीलकण्ठ स्वरूप है।

विश्व के अनेक प्राचीनतम नगरों की भाँति काशी का भी अपना एक बहुत लंबा इतिहास है। हम काशी के व्यापक इतिहास में न जाकर अति संक्षिप्त इतिहास को ही देखेंगे। जातक के अनुसार काशिराज की राजधानी का नाम वाराणसी था। पुराणों के अनुसार इस शहर का नाम वाराणसी केवल गंगा और वरुणा के बीच रहने के कारण पड़ा। मत्स्यपुराण (द्वियोजनमयार्द्ध व पूर्व-पश्चिमतः स्थितम्। अर्धयोजन-विस्तीर्ण दक्षिणोत्तरतः) के वर्णन के अनुसार काशी क्षेत्र का विस्तार वरुणा और अस्सी के बीच, पूर्व-पश्चिम ढाई योजन तथा उत्तर-दक्षिण आधा योजन माना गया है। वाराणसी का नाम वैदिक काल (1400-900 ई.पू.) से भी पूर्व से चला रहा है। मुगलशासन काल के आलेखों में शहर का नाम वाराणसी दिया गया है।

वाराणसी को पूरे भारत की सांस्कृतिक राजधानी कहा जाता है। ऐसी मान्यता है कि इस असार संसार में केवल चार चीजें - संतों की संगति, गंगा में स्नान, शिव की पूजा एवं काशी में निवास ही सत्य है। वाराणसी में रहने वालों को ये सब स्वतः प्राप्त है। काशी खण्ड के अनुसार प्रयागादि अन्य तीर्थों में मरने वालों को सालोक्य सारूप्य तथा सान्निध्य मुक्तियाँ ही मिलती हैं। सायुज्य मुक्ति केवल काशी में ही मिलती है।

पुराणों में वाराणसी के काशी के अतिरिक्त कई नाम हैं जिनके कुछ विशेष अर्थ हैं। ऐसे कुछ प्रमुख नाम निम्नलिखित हैं - (1) काशी : जहाँ जीव को प्रकाश प्राप्त होता है। (2) तीर्थराज : जहाँ लोगों को अनेक तीर्थों के फल प्राप्त होते हैं। (3) अविमुक्त : जहाँ जीवों को आवागमन से मुक्ति मिलती है। (4) आनन्द-कानन : जहाँ आनन्द ही आनन्द प्राप्त होता है। (5) वाराणसी : जो वरुणा और अस्सी (दो नदियों) के बीच स्थित हो। (6) महाश्मशान : जहाँ पर शरीर त्यागने से पुनर्जन्म नहीं होता है।

* सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजीव गांधी विश्वविद्यालय (एक केंद्रीय विश्वविद्यालय), रोना हिल्स, दोई मुख, अरुणाचल प्रदेश- 791112

** शोध-छात्रा, इतिहास विभाग, राजीव गांधी विश्वविद्यालय (एक केंद्रीय विश्वविद्यालय), रोना हिल्स, अ.प्र.।

*** शोध-छात्रा, इतिहास विभाग, राजीव गांधी विश्वविद्यालय (एक केंद्रीय विश्वविद्यालय), रोना हिल्स, अ.प्र.।

वाराणसी नगर 25.18 अक्षांश उत्तर, 83.9 देशान्तर पूर्व, विंध्य पर्वतमालाओं के समीप से होकर बहती गंगा-धारा के कटे कगारों पर, गंगोत्री और गंगासागर संगम के बीच की दूरी के लगभग मध्य में स्थित है। यहाँ की जलवायु सम है। जाड़े की ऋतु सामान्य होती है। गर्मी का मध्यमान 30 फारेनहाइट और वर्षा 40 से 50 इंच होती है। वाराणसी क्षेत्र का धरातल रचना के आधार पर दो भागों- निचला भाग पूर्व में और ऊँचा भाग पश्चिम में बँटा हुआ है।

काशी में प्रवेश करते ही संकरी दुर्गन्धपूर्ण गलियों में लड़ते हुए भयंकर साँडों तथा मायावी बंदरों के बीच लोलुप पंडों के पीछे किसी बेढंगे मन्दिर की ओर जाते हुए तीर्थयात्रियों की भीड़ का सामना करना पड़ता है। अनुकूल समय में वाराणसी रेलवे स्टेशन से दशाश्वमेध तक आने में करीब बीस मिनट तक साइकिल रिक्षा में अपने जीवन का जुआ खेलने के पश्चात् आपको गेरूए वस्त्र में आधा दर्जन संन्यासी के साथ ही एक-दो नंगे बाबा के दर्शन अवश्य हो जाएंगे। ठीक दशाश्वमेध घाट पर आपको मिलेगा अखाड़ा गढ़ानाथ जहाँ नौजवान, तगड़े अहीर कुश्ती लड़ रहे होंगे। इसके थोड़ा ऊपर एक दूसरे प्रकार का अखाड़ा मिलेगा, जिसका नाम है, 'आवाहन अखाड़ा दशनाम असंभरिपञ्च'। यह किसी जमाने के सैनिक साधु नागा संन्यासीयों का मठ है। इसी के पड़ोस में एक दूसरा अखाड़ा- 'श्री योगिराज श्री 108 भगवानदास का अखाड़ा खाक चौक'- स्थित है जहाँ रामावत साधु चरस और गांजे की दम लगाते मिलेंगे और इसके साथ ही रंग-बिरंगे तीर्थयात्रियों के स्नान का सुन्दर दृश्य, बाँस की बड़ी-बड़ी छतरियों की छाया में बैठे 'घाटियों' के क्रियाकलाप, सेनानियों ने मोल-भाव करते नाव वाले मल्लाह गंगा के विशाल थाले के सौन्दर्य में वृद्धि करते दिखलाई पड़ेंगे।

इसी प्रकार वाराणसी शहर भी दो भागों- पक्का महाल और कच्चा महाल में बाँटा जा सकता है। बनावट के आधार पर भी वाराणसी शहर को दो बड़े क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रारम्भ होकर गोदौलिया, चौक, मैदागिन, विशेश्वरगंज, मछोदरी होते हुए जो सड़क राजघाट को जाती है वह शहर को दो भागों में बाँटती है। इस सड़क और गंगा के बीच का क्षेत्र, वाराणसी की संस्कृति का हृदय क्षेत्र कहा जा सकता है। शहर के इसी क्षेत्र में काशी के सभी महत्वपूर्ण देव-मन्दिर, सुप्रसिद्ध घाट, परम पवित्र स्थल, संस्कृत पाठशालाएँ, विद्वानों और पण्डितों के घर व्यापार केन्द्र आदि हैं। इसी में पक्का महाल पड़ता है। यह महाल ऊँची अट्टालिकाओं, वक्रदार गलियों एवं उनमें स्थित सुप्रसिद्ध बाजारों के लिए प्रसिद्ध है। यह सम्पूर्ण क्षेत्र काशी के सांस्कृतिक जीवन के कला, शिल्प, वाणिज्य, साहित्य, साधु-संन्यासियों, विद्वानों, साधकों, संगीतज्ञों के साथ ही गुण्डों, ठगों आदि को भी प्रदर्शित करता है। इस क्षेत्र में भारत के सम्पूर्ण प्रान्तों, भाषायी क्षेत्रों- कन्नड़, तमिल, तेलुगु, बंगाली, मैथिली, नेपाली, गुजराती, मराठी आदि- से आये लोग सघन रूप से बसे हुए हैं। इस क्षेत्र का महत्व केवल कर्मकाण्डीय कार्यों के कारण ही न होकर काशी के सांस्कृतिक जीवन के लिए भी है। यदि इस क्षेत्र को काशी के मानचित्र से निकाल दिया जाय तो शेष कुछ नहीं बचेगा।

काशी ने शिक्षा के क्षेत्र में, शिक्षा के केन्द्र के रूप में चर्चित करने वाले तक्षशिला को भी मात कर दिया। गुप्तकाल (लगभग 300-500 ई.) में फाह्यान एवं हर्ष काल (606-647 ई.) में आये ह्वेनसांग नाम के दोनों चीनी यात्रियों ने भी काशी के महत्व की चर्चा की है। फाह्यान ने अपनी यात्रा (5वीं शताब्दी) के वर्णन में काशी के सम्बन्ध में लिखा है कि इस महान शहर में उस समय तीस मठ और लगभग तीन हजार बौद्ध-भिक्षु तथा हिन्दुओं के एक सौ मन्दिर एवं दस हजार विभिन्न सम्प्रदायों के मतावलम्बी थे। इनके मुख्य देवता महेश्वर थे, जिसकी कांसे की मूर्ति सौ फीट ऊँची थी। ह्वेनसांग ने (7वीं शताब्दी) यहाँ के ब्राह्मण विद्यार्थियों तथा जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं एवं सन्तों को देखकर आश्चर्य व्यक्त किया था। इसी प्रकार अन्य प्राचीन यात्रियों ने भी अपनी यात्रा में संकेत किया है कि वाराणसी में ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन विद्वान अपने साहित्यनुशीलन में व्यस्त

रहते हुए सौमनस्यपूर्वक बड़े चैन से रहते थे। बाद में चलकर काशी ने धीरे-धीरे धर्म, संस्कृत, वेद, दर्शन, ज्योतिष तथा आयुर्वेद के क्षेत्र में इतनी प्रतिष्ठा अर्जित कर ली कि देश भर से विद्वान यहाँ आकर्षित होने लगे।

वाराणसी ने धर्म, दर्शन, विज्ञान आयुर्वेद तथा ज्योतिष विज्ञान में बुद्ध-काल के पूर्व से ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। वाराणसी के रेशम के कपड़ों और विशेषकर साड़ियों को पहले से ही देश-विदेश में बहुत महत्व प्राप्त है। यहाँ के बने इत्र सुगन्धित तेल, कढ़ाई के सामान, मिट्टी के बर्तन तथा लकड़ी के खिलौने पूर्व काल से ही प्रसिद्ध हैं। भारतीय संगीत के क्षेत्र में टुमरी और दादरा की लय काशी की ही देन है। आज भी बिस्मिल्ला खाँ की शहनाई वादन, गोदई महाराज तथा किशन महाराज का तबला वादन पं. रविशंकर का सितार वादन, गिरिजादेवी तथा पं. महादेव मिश्र का गायन, सिताराबाई और गोपीकृष्ण के नृत्य विश्व प्रसिद्ध हैं। विभिन्न अवसरों पर दीवारों की चित्रकारी बनारस की अपनी विशेषता है।

काशी क्षेत्र की पवित्रता के सम्बन्ध में पुराणों में अनेक वर्णन आते हैं। आज भी पंचकोशी की विशेष यात्राओं द्वारा उसकी पौराणिक धार्मिक पवित्रता बनी हुई है। इसके अतिरिक्त पुराणों में वर्णित विभिन्न देवताओं क्षेत्रों की प्रामाणिकता, वर्णित स्थानों के आज भी पाये जाने से पुष्ट होती है। उदाहरण के लिए पद्मपुराण में वर्णित 'मध्यमेश्वर महादेव' काशी क्षेत्र के मध्य में माने जाते हैं और उनका वर्तमान स्थान (जो कि पुराणों में वर्णित स्थान पर ही है) मैदागिन है। इसी प्रकार 'गोरणेश्वर महादेव', 'मणिकर्णिकेश्वर महादेव' एवं 'ब्रह्मेश्वर महादेव' आदि जितने भी देव स्थान पुराणों में वर्णित हैं और उनके जो भी निर्धारित क्षेत्र हैं उनके वर्तमान स्वरूपों में कोई अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता है। शिव हमेशा से काशी क्षेत्र में स्थापित पूज्य देवता रहे हैं। समय विशेष में केवल उनके नामों में ही परिवर्तन होते रहे हैं। पहले इस शहर के पूज्य देवता 'शिव' महेश्वर के नाम से प्रचलित थे। उसके बाद विश्वेश्वर और अब विश्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध हैं। विश्वनाथ का सर्वप्रथम मंदिर 490 ई. में बना जो कि अनेक बार विदेशी आक्रमणों का शिकार हुआ। परन्तु वह भक्तजनों और श्रद्धालुओं द्वारा बार-बार पुनर्निर्मित होता रहा। इसी प्रकार विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित पुराणों में वर्णित पूजा के तरीके एवं त्यौहारों काशी में अब भी कुछ उसी प्रकार प्रचलित हैं।

काशी से सम्बन्धित महत्वपूर्ण घटनाओं पर ध्यान देने से यह समझना आसान हो जाता है कि काशी भारत के महत्वपूर्ण इतिहास से सम्बन्धित रही है। इस सम्बन्ध में दो चीजें विशेष ध्यान देने की हैं- प्रथम, भारत की अपूर्व बौद्धिक शक्तियाँ प्रत्यक्षतः किसी न किसी प्रकार काशी से हमेशा सम्बन्धित रही हैं। दूसरे, यद्यपि कि काशी, चाहे वह बुद्ध का काल रहा हो अथवा रामानन्द और कबीर का, हमेशा से सामाजिक क्रांति एवं सांस्कृतिक सुधार की जननी रही है। उसने अपने इतिहास में कट्टर सनातनत्व को कभी कम नहीं होने दिया। उपर्युक्त की पुष्टि काशी के सम्बन्ध में सरस्वती (1975-6) ने भी व्यक्त की है।

1885 में सर विलियम हण्टर ने अपने सर्वेक्षण में काशी के 1454 मन्दिर और 272 मस्जिदों का वर्णन किया है। शनि और ब्रह्मा ऐसे देवता हैं जिनके मन्दिर देश में बहुत कम हैं लेकिन वाराणसी में इनके मन्दिर विद्यमान हैं और इनकी नित्य-प्रति पूजा भी होती है। ब्राह्मण देवताओं के अतिरिक्त यहाँ पर बहुत से 'वीर' एवं 'सती' के भी मन्दिर हैं जिनकी पूजा भी होती है और वार्षिक शृंगार भी। इस प्रकार काशी में हिन्दू धर्म से सम्बन्धित प्रायः सभी देवताओं के तीर्थ एवं मन्दिर हैं।

वैष्णव, शैव एवं शाक्त आदि सब प्रकार के देवी देवताओं की पूजा के जो मान्य तरीके एवं परम्पराएँ हैं, उन्हीं के अनुसार यहाँ पूजा अर्चना होती है। यही कारण है कि यहाँ पर भारत के ब्राह्मण एवं कर्मकाण्ड में निपुण पण्डित लोग बहुत पहले से ही निवास करते आये हैं जिससे किसी भी भाषायी क्षेत्र से आये तीर्थयात्रियों की धार्मिक कृत्यों से सम्बन्धित किसी प्रकार की परेशानी नहीं होती है।

सीताराम चतुर्वेदी के अनुसार हिन्दुओं के अतिरिक्त मुस्लिम लोग भी इसे बहुत पवित्र मानते हैं। शेख अली हाजी ने बनारस के विषय में निम्नलिखित बातें कहीं हैं-

बनारस न खम मअबदे अस्तईज।

हर बरहमन पिसरे लक्ष्मनीराम अस्तईज॥

(तात्पर्य, मैं बनारस के बाहर कहीं नहीं जाऊँगा क्योंकि यह सबकी उपासना तीर्थ है। यहाँ का प्रत्येक ब्राह्मण राम और लक्ष्मण है।)

बनारस के उर्दू के मशहूर कवि नजीर बनारसी की गंगा के माहात्म्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

वो छूट में या अछूत, सबका उठा के चलती है भार गंगा।

यहाँ नहीं ऊँच-नीच कोई, उतारे हैं सबको पार गंगा॥

इसी प्रकार उर्दू के एक अन्य कवि ने भी वाराणसी की प्रशंसा में निम्नलिखित पंक्तियाँ कही हैं-

खाक भी जिस जमीं की पारस है।

शहर वह मशहूर बनारस है॥

काशी के सांस्कृतिक महत्व से ईर्ष्यावश त्रस्त होकर बहुत से धर्मान्ध शासकों ने वाराणसी के मठों एवं मन्दिरों को नष्ट करने का प्रयास किया था। लेकिन काशी ने सर्वदा सांस्कृतिक आघातों को सहते हुए अपनी विशिष्टताओं को संजोये रखा।

काशीराज के अतिरिक्त देश के लगभग सभी राज्यों के हिन्दू राजाओं ने काशी की संस्कृति को बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इन राजाओं में मैसूर, उदयपुर, बंगाल, रीवाँ, जयपुर, ग्वालियर, दरभंगा एवं नागपुर के राजा विशेष उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त सभी राजाओं ने गंगा के घाटों, मन्दिरों एवं मठों का निर्माण कराया एवं धर्मशालाएँ बनवायीं। ये स्थान उन राज्यों से आये तीर्थ यात्रियों के लिए शरणस्थल का भी कार्य करते हैं। इन्दौर की रानी अहिल्याबाई ने 1717 ई. में सबसे प्रसिद्ध विश्वनाथ मन्दिर का निर्माण कराया जो इस समय पुराने विश्वनाथ मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि उसके बाद एक मन्दिर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं दूसरा स्वामी करपात्री द्वारा बनवाया गया, लेकिन पुराने विश्वनाथ मन्दिर का जितना महत्व है उतना उक्त दो विशिष्ट शिव मन्दिरों का नहीं है। 1839 ई. में पंजाब के राजा रणजीत सिंह ने पुराने विश्वनाथ मंदिर पर स्वर्णपत्र चढ़वाया।

देश के लगभग हर भागों से हिन्दू विधवाओं को काशीवास के लिए भेजते रहे हैं। इसके अतिरिक्त शारीरिक रूप से असमर्थ एवं भिक्षुक भी वाराणसी में बड़े आराम से जी लेते हैं। इसलिए कहा जाता है कि यहाँ के अन्नपूर्णा के दरबार में कोई भूखा नहीं रहता है। इस प्रकार बनारस अपंग, असहाय एवं बेघर लोगों की शरणस्थली है। शहर के मध्य और बाहर घूमते बन्दर और साँड़ इसे और अधिक विशिष्ट बना देते हैं।

काशी के सम्बन्ध में जो यह मान्यता है कि यह तीनों लोकों से न्यायी नगरी है, सच जान पड़ती है। जहाँ पर मरना भी मंगलमय (मरणं मंगलं अत्र) माना जाता हो और जहाँ पर स्वयं साक्षात् शिव तारक मंत्र (राम नाम) मरने वाले के कान में बोलते हैं (जिससे उस मरने वाले को मोक्ष प्राप्त होता है), वह स्थान निश्चित ही धन्य माना जा सकता है। हिन्दू धर्म में स्थान एवं समय दोनों की शुद्धता का बड़ा महत्व माना गया है। धार्मिक मान्यताओं के अनुसार पूरे काशी क्षेत्र को इतना परम पवित्र माना गया है कि वहाँ पर किये गये हर कार्य हर समय में शुभकारक होते हैं। यही कारण है कि यहाँ पर बड़े-बड़े तांत्रिक, योगी, संन्यासी और विद्वान् साधना, योग एवं अध्ययन में हमेशा से रहे हैं। ऐसे लोगों में स्व. पण्डित गोपीनाथ कविराज, आनन्दमयी माँ, भगवान

राम अवधूत एवं स्वर्गीय राजेश्वर शास्त्री, द्रविड़ आदि के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन लोगों के अतिरिक्त महामना मदनमोहन मालवीय, करपात्री जी, डॉ. भगवान दास एवं आचार्य नरेन्द्र देव, डा. जयदेव सिंह आदि अनेक विद्वानों ने वाराणसी में रहकर ही विभिन्न क्षेत्रों में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किया है।

आज के युग में बहुत से लोगों के मन में धार्मिक श्रद्धा का अभाव हो गया है। परन्तु वाराणसी में अब भी आध्यात्मिक एवं धार्मिकता का इतना अभाव नहीं है। बाबा विश्वनाथ की इस नगरी में आज भी लाखों स्त्री-पुरुष, गंगा-स्नान और देव मन्दिरों में अपने समय तथा शक्ति के अनुसार दर्शन पूजन करते हैं। आज भी बनारस के लोगों को कुछ नहीं चाहिए, उन्हें तो केवल मुट्ठी भर चने से काम है—

चना चबैना गंगजल जो देवै करतार।

कबहुँ न काशी छोड़िए विश्वनाथ दरबार॥



गुमनाम लेखक प्रो. कामेश्वर शर्मा और दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि

○ वीरेन नंदा*

दिनकर को दिग्भ्रमित कह 'दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि' नाम से पुस्तक लिखने वाले कामेश्वर शर्मा को भुला दिया गया। यह एक ऐसा नाम है जो कभी अपने शहर के विद्वान् लेखक और प्राध्यापक के रूप में भी जाने जाते थे; और लंगट सिंह महाविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक के रूप में विद्यार्थियों के बीच सर्वप्रिय और लोकप्रिय भी रहे, चाहे वह विज्ञान का छात्र भी क्यों न हो ! ऐसी ख्याति थी उनकी। उनके शिष्य रहे एक प्राध्यापक नागेन्द्र झा कहते हैं कि "उनके जैसा अध्यापक और विद्वान् देश-दुनिया को बार-बार नहीं मिलता। वे एम.ए. में भाषा विज्ञान, इतिहास और कामायनी पढ़ाते थे लेकिन प्रश्न सभी पत्रों से पूछने को कहते।" और उनसे पढ़ने वाले प्रो. राजू प्रसाद बताते हैं कि 'पढ़ाने के क्रम में या बहस में, उनका और उनके ब्रह्म वाक्यों का उल्लेख आज भी करता रहता हूँ।" अनुज देवेन्द्र नंदा कहता है कि वे हमारे विषय के शिक्षक नहीं थे लेकिन हमलोग का लीजर होता तो हम सभी उनके क्लास में उन्हें सुनने चले जाते थे, और बहुतेरे क्लास के बाहर खड़े कान लगाए रहते। तो ऐसे रहे कामेश्वर शर्मा, जिनका जिक्र करने आया हूँ।

देश की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक खबरों पर पैनी नजर रख उसे परखने वाले, देश-दुनिया के इतिहास की अद्यतन समझ से लैस, आदिकाल से लेकर अपने समय के हिन्दी-साहित्य और उसके इतिहास की गहरी जानकारी से परिपूर्ण हो लेखन करने वाले इस प्राध्यापक ने बहुतायत मात्रा में लेखन किया, जो हिन्दी की पत्रिका 'हंस' आदि से लेकर अंग्रेजी की 'फोकलोर' तक में छपती रही। चार दशक में उनके सैकड़ों आलेख और छः किताबें छपीं लेकिन उनके लेखन को तो छोड़िए, उनका नाम भी साहित्य जगत में कहीं देखने-सुनने को आज नहीं मिलता ! जबकि उनके विद्यार्थियों में कई ऐसे हैं जिनके बारे में कहा जाता है कि वे आज के स्थापित लेखक हैं। उनमें एक नाम तो रविभूषण जी का भी है। शर्मा जी को सामने लाने का काम उन्हीं छात्रों को करना चाहिए था, जो उनके शिष्य रहे हैं। करते तो यही गुरुदक्षिणा होती। कामेश्वर शर्मा कोई द्रोणाचार्य जैसे गुरु तो थे नहीं, कि उन सभी का अंगूठा ले लिया हो!

खैर, अपने समय के प्रखर आलोचक और लेखक प्रो. कामेश्वर शर्मा का लेखन गुमनामी की भेंट चढ़ गया। यदि गुमनाम न होते तो रामनिरंजन परिमिलेंदु ने जो अयोध्या प्रसाद खत्री पर केन्द्रित मोनोग्राफ साहित्य अकादमी के लिए लिखा, उसमें प्रो. कामेश्वर शर्मा द्वारा अयोध्या प्रसाद खत्री पर लिखे 'खड़ी बोली का चाणक्य' शीर्षक आलेख का वह पैराग्राफ अपने नाम करने की गुस्ताखी न कर पाते, जो उन्होंने मोनोग्राफ में किया! उनकी चोरी की बानगी देखिए -

1959 में 'खड़ी बोली के चाणक्य' शीर्षक अपने लेख में कामेश्वर शर्मा लिखते हैं- "चाणक्य ने सम्पूर्ण भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में आबद्ध करने का सबसे पहला ऐतिहासिक प्रयत्न किया था। खत्री जी ने भी राजस्थान से बिहार तक के भूमि-भाग को साहित्यिक दृष्टि से एक बनाने वाली खड़ी बोली के पद्य वाले बिखरे सूत्र को समेटकर उसे दृढ़ बनाने का निःस्वार्थ संकल्प किया था। खत्री जी खड़ी बोली के चाणक्य थे और श्रीधर पाठक थे चन्द्रगुप्त।"

☆ कवि, लेखक एवं शोधकर्ता, मुजफ्फरपुर, बिहार।

यह आलेख रामदयालु सिंह कॉलेज के हिन्दी के पूर्व प्राध्यापक प्रो. विद्यानाथ मिश्र द्वारा विश्लेषण कार्यालय, साहू पोखर, मुजफ्फरपुर से 1958 में प्रकाशित 'बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री' नामक पुस्तक में दर्ज है।

अब रामनिरंजन परमलेन्दु द्वारा अयोध्या प्रसाद खत्री पर लिखे मोनोग्राफ के पृष्ठ 76 का अवलोकन करें। कामेश्वर शर्मा के उक्त वाक्य को थोड़ा बदल कर लिखते हैं – “सर्वप्रथम चाणक्य ने सम्पूर्ण भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में आबद्ध करने के ऐतिहासिक प्रयत्न किये थे। खत्री जी ने राजस्थान से बिहार तक के विस्तृत भू-भाग को साहित्यिक दृष्टि से एकता के सूत्र में आबद्ध करने वाले खड़ी बोली पद्य के आधार पर उसे सुदृढ़ करने के संकल्प और प्रयत्न किए थे। वस्तुतः खत्री जी खड़ी बोली पद्य के चाणक्य और श्रीधर पाठक चन्द्रगुप्त थे।”

परमिलेन्दु जी ने प्रो. कामेश्वर शर्मा के वाक्य को थोड़ा तोड़-मरोड़ कर अपने नाम कर लेने का दुस्साहस इसलिए किया कि वे जानते थे कि वह पुस्तक ज्यादा प्रचलित नहीं है और न कामेश्वर शर्मा लेखन जगत में बजता हुआ कोई नाम ! इसीलिए उन्होंने उनके वाक्य में मामूली हेर-फेर कर अपने नाम मढ़ लिया ताकि इसमें न तो उन्हें इसे इनवर्टेड (उद्धरण चिह्न) में देना पड़े और न उस गुमनाम व्यक्ति के नाम को रेखांकित करना पड़े। इस तरह की डकैती न जाने कितने गुमनाम लेखकों की हुई होगी, कहना मुश्किल है।

भागलपुर जिले के अमरपुर थाना अंतर्गत भीखनपुर गाँव में जन्में प्रो. कामेश्वर शर्मा 1949 में पटना से एम.ए. करने के बाद लंगट सिंह कॉलेज में 1952 में हिन्दी के प्राध्यापक हुए और प्राध्यापन करते हुए अनेक पुस्तकें लिखीं। इनके नाम हैं- ‘दिश्रमिता राष्ट्रकवि’ (1952), ‘हिन्दी साहित्य को बिहार की देन’ (1957), ‘शिखण्डी’ (1957), ‘बोध और व्याख्या’ (1962), ‘हिन्दी की समस्याएँ’ (1963) तथा ‘पुरुषोत्तम राम : एक टिप्पणी’ (1967)।

पुरुषोत्तम राम दरअसल सुमित्रानन्दन पंत की कविताओं का संग्रह है, जो राजकमल प्रकाशन प्रा. लिमिटेड से 1967 में प्रकाशित हुई थी। मुझे इसका 1968 का दूसरा संस्करण देखने को मिला, जिसमें पंत जी की कविता के साथ कामेश्वर शर्मा द्वारा उस कविता की व्याख्या, टिप्पणी और कवि परिचय लिखा गया है, जो राजकमल ने उनसे कहकर लिखवाया था। इसके अतिरिक्त उनके करीब सैंकड़ों आलेख भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं, जिन्हें संकलित नहीं किया जा सका। “बिहार इन फॉल्कलोर स्टडी एन एंथोलॉजी” नामक पुस्तक में कामेश्वर शर्मा का अंग्रेजी में लिखा एक लेख ‘फॉक-डाइलेक्ट्स ऑफ बिहार एंड देयर चीफ कैरेक्टरिस्टिक्स’ देखने को मिला, जो एल.पी. विद्यार्थी और गणेश चौबे द्वारा सम्पादित है। बिहार की बोली और भाषा को लेकर यह उनका महत्वपूर्ण आलेख है। लेकिन हिन्दी के विद्यार्थियों के लिए आज भी उनकी ‘बोध और व्याख्या’ और ‘हिन्दी की समस्याएँ’ बहुमूल्य पुस्तक है।

‘बोध और व्याख्या’ पुस्तक में कुल सत्तर आलेख हैं, जिसको सैद्धांतिक, ऐतिहासिक और वैयक्तिक विवेचन के अंतर्गत उन्होंने रखा। सैद्धांतिक विवेचन में उन्होंने हिन्दी, कला, साहित्य, कविता, छंद और लय क्या है ? पर बात की है। साहित्य के बारे में कहते हैं- “साहित्य, अपने व्यापक अर्थ में, समाज के गूंगे इतिहास का मुखर सहोदर है।....किसी भी राष्ट्र, समाज या जाति का साहित्य, उस राष्ट्र, समाज या जाति की प्रतिभा, चरित्र, भाव, विचार और व्यापार आदि का सर्वाधिक विश्वसनीय एवं अतिशय प्रमाणिक अभिलेख होता है।”

कला पर बात करते हुए उन्होंने काव्य कला को ‘सभी कलाओं से उत्कृष्ट होने के कारण ललित कलाओं की मुकुटमीणा’ कहा। वैसे यह पुस्तक उन्होंने अपने एक पुराने सहपाठी, जो बी.ए.-एम.ए. करना करना चाहते थे, उन्हीं के लिए परीक्षाओं में पूछे जाने वाले प्रश्नों को ध्यान में रखकर लिखा था। लेकिन जब आर्थिक संकट गहराया तो उसी मित्र के सुझाव के कारण यह मुद्रित हुआ, जो आज भी छात्रों के लिए उपयोगी है। तीन से छह पेज के प्रत्येक आलेख को निपटाने में उन्होंने भाषा की ऐसी तार कसी कि उसकी गिरफ्त से पाठक या छात्र निकल ही न पाए ! बहता चला जाए।

ऐतिहासिक विवेचन के अन्तर्गत रीतिकाल पर लिखा उनका लेख काबिले गौर है। इस काल के कवियों के बारे में लिखते हैं कि “लगभग तीन सौ वर्षों तक अश्लीलता के पंक और वासना के गंदले पानी में नाक डूबे रहने के कारण रीतिकालीन आदर्शों और जीवन-मूल्यों में भयंकर जंग लग गया था। मुसलमानी सामंतीय युग की मशालेदार अंगूरी शराब पीकर साहित्य इतना मदहोश बन गया था कि काव्य की आत्मा पकड़ने की कोशिश में उसके हाथ डोल-विछल कर

काव्य के शरीर पर पहुँच जाते थे, और जब वह कविता के कपोल चूमने का उपक्रम करता तो उसके मुख से अधरों के बजाय अलंकार ही टकराकर रह जाते थे। रीतिकालीन कवियों ने अपनी उसी मदमत्तता में अलंकार को तो काव्य की आत्मा मान ही लिया था, धर्म को इश्क और परमात्मा को मजनूँ।” रीतिकाल की बखिया उधेड़ते शर्माजी ने कहा कि इतनी लंबी अवधि में ‘कविराज सोना-मोती के भस्म से मकरध्वज बना रहे थे और राजकवि नायिका भेदों का अलंकृत उक्तिवैचित्र्यपूर्ण वर्णन कर उनकी भावनाएँ उत्तेजित करने लगे थे।’ उन्होंने रीतिकाल युग को “तीन शब्द शक्तियों, चौंसठ कलाओं, चौरासी आसनों, और चार सौ चौरानबे अलंकारों का युग” कहा। और अपना निष्कर्ष निकालते हुए बतलाया कि “हिन्दी साहित्य का रीतिकाल उस दो मंजिले मकान के सदृश्य है जिसके निचले तल्ले में देवालय स्थापित है और ऊपरी तल्ले पर वेश्यालय। उषा की स्वर्णिम किरणों के उदय के साथ नीचे मंदिर के घण्टे बज उठते हैं, और ऊपर, चन्द्रमा की सुकुमार स्निग्ध चाँदनी में नुपुर की झंकार बिछलने लगती है। मंदिर का द्योतक महावीरों गेरूआ झण्डा इतना ऊँचा फहराता है कि उसके नीचे विलासी महंथ परमहंस दीखता है और वार विलासिनी देवदासी-सी।”

वे कहते हैं कि “भारतेन्दु ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में रीतिकालीन प्रवृत्ति पर क्षोभ प्रकट करते हुए कहा था – ‘हरिमाया भटियारी ने क्या अजब सराय बसाई है’, और घोषणा की थी – ‘डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।’ यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि भारतेन्दु ने ये दोनों संकेत नई काव्य भाषा खड़ी बोली में दिए थे, जिसे अयोध्या प्रसाद खत्री ने ‘मुंशी शैली’ कहा था।

इस पुस्तक में कुछ श्रेष्ठ कवियों के बारे लिखते हुए प्रसाद को आपादमस्तक मौलिक मानते हैं। उनका कथन है कि प्रसाद “फूलों का संग्रह कर, उन्हें एक सूत्र में पिरो देने वाले माली नहीं, बल्कि उन्हें निचोड़ और छान कर इत्र तैयार करने वाले गंधी थे।” तो निराला के बारे में लिखा कि “निराला उन ‘सावर-सिंह-सपूत’ में से हैं जो लीक छोड़ कर चलने का साहस रखते हैं, दूसरों के पीछे न चलकर औरों को अपने पीछे चलाते हैं, और जहाँ जिस ओर कोई भी चरणचिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते, वहाँ उस ओर चरणचिह्नों के फूल उगाया करते हैं। निराला खड़ी बोली हिन्दी के सर्वथा मौलिक पथिकृत अभियंता थे। उनके पास वर्तमान की विषमताओं के शिकंजे मरोड़ कर उमेट देने वाली इस्पाती अंगुलियाँ थीं, अतीत के अंधकार चीरकर अपने सांस्कृतिक उत्कर्ष के पावन क्षण निहार लेने वाली सूक्ष्म अंतर्दृष्टि थी और सुनहले-रुपहले अनागत की अभ्यर्थना के लिए व्याकुल कलाकार का सजल-सदय हृदय भी था।” शर्मा जी कहते हैं कि निराला की कविता में ‘सूर का संगीत’, ‘केशव की शास्त्रीयता’, ‘तुलसी की लोकमंगल भावनाएँ’ और ‘कबीर का मस्तमौलापन’ था। और सुमित्रानंदन पन्त को ‘कृतित्व और व्यक्तित्व, दोनों दृष्टियों से अतिशय सुकुमार कवि’ मानते हुए कहा कि “चंदन की तुनुक-लचकीली डाल पर गुलाब की पत्तियों के रस में सनी दूध की छाली का सुचिक्कन अवलेप चढ़ा देने से जो प्रतिमा बनती है- वह हैं पंतजी। उसी प्रकार नवनीत सी कोमल और मसृण है उनकी कविता और कला जो अत्यधिक लुचपुच होती हुई भी टिकी और खड़ी है- किरणों की-सी सूक्ष्म और लचकीली कमानियों पर।” और उनके रूप पर बच्चन जी की नानी का कथन- “उनका तो बीटिहनी होय का रहा” और छात्रावास के एक बंगाली का कहना – “जेनो मा सरस्वती ने बालोकरूप धारण को रे छेन” को उद्धृत कर लिखा कि पंत जी भारत के उस स्वीटजरलैंड के निवासी थे, जहाँ कहा जाता है कि स्वर्ग के मायके से आती हुई प्रकृति के खोंएचे की गिरह ही अचानक खुल गई थी और सारी सुषमा शिखरों, घाटियों और तलहटियों में बिखर गई थी।

पंत जी की ऐतिहासिक देन मानते हुए उनके बारे में कहा कि “खड़ी बोली की कर्कशता दूर कर उसमें सुकुमारिता और कोमलता का समावेश” करने वाले कवि थे।

अज्ञेय को ‘आपादमस्तक विशुद्ध साहित्यकार’ मानते हुए लेख का आरम्भ इस तरह शर्मा जी करते हैं- “अज्ञेय आधुनिक हिन्दी के अनन्वय साहित्यकार थे। विशिष्ट पारिवारिक स्थिति और सारस्वत परिवेश में जन्में-पले-बढ़े, चले-घुले-गले, धुले-दले-तले उनके यायावर व्यक्तित्व एक ऐसी आत्मप्रभ, आत्मपश्य, आत्मविद् गढ़न; दरवेशी, खाकसारी, खुफियाना प्रवृत्ति; और विविधतुर्थ्यनिनादिन् विविधकर्मण, विविधपार्श्वमुखी दृष्टि और कुशलता अर्जित कर ली थी कि वे सर्वकंचन, सर्वगंधिक, सर्वगंधीर साहित्य के अविस्मरणीय स्रष्टा बन सके।” इस तरह अन्य महत्वपूर्ण कवियों-लेखकों पर भी उनके आलेख इस पुस्तक में पढ़ने को मिलता है जिन सभी का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है।

लेकिन अपनी लिखी पहली पुस्तक 'दिभ्रमित राष्ट्रकवि' को छपवाने का ख्याल उन्हें तब आया था जब एम.ए. की पढ़ाई करते समय वे आर्थिक संकट से जूझ रहे थे। उस समय तक उपलब्ध दिनकर की सारी रचनाएँ वे घोंट चुके थे और उस आधार पर उनका जो आकलन किया उसी की परिणति थी यह पुस्तक।

आर्थिक कारण से उबरने के लिए वे 1949 से ही इस पुस्तक को छपवाने के लिए प्रकाशकों के पास दौड़ लगाते रहे लेकिन कोई इसे छापने को तैयार नहीं था। निराश हो अन्तिम प्रकाशक के पास से जब लौटने को उठे तो उसने चाय पीने का अनुरोध किया। बैठ गए तो प्रकाशक ने शेखी बघारते जो कहा, उसे शर्मा जी से सुनिए – “उसी वर्ष वसंत पंचमी के अवसर पर राँची में होने वाले उस कवि सम्मेलन की चर्चा करने लगे जिसमें सरस्वती की एक ‘अद्भुत मूर्ति’ स्थापित की गई थी। उन्होंने प्रशंसा के स्वर में कहा – ‘सरस्वती के कई हाथ थे, और उनमें न केवल वीणा और पुस्तक थी, बल्कि हल, हँसिया और तलवार भी थी।’ उन्होंने चाय पीते हुए मुझसे पूछा – ‘क्यों, सरस्वती का यह नया प्रतीक आप को कैसा लगा ?’ भई, मैं तो उसे देखता रह गया।” कामेश्वर शर्मा की जब तंद्रा टूटी तो उन्होंने प्रकाशक को उसके पूछे गए प्रश्न के उत्तर में कहा कि “नया प्रतीक अच्छा है, पर उसमें एक भारी कमी रह गई, उसे पूर्ण बनाने के लिए यह अनिवार्य था कि सरस्वती के सामने महिषासुर की तरह एक प्रकाशक की भी मूर्ति बना दी जाती, जिसकी छाती में भाले की नोक खुभी रहती।” काफी दिनों तक वह प्रकाशक उनके बारे में कहता फिरता रहा कि “उस आदमी को तो गोली दाग देनी चाहिए।” कुछ दिनों बाद उनके एक शुभचिंतक ने कहा कि इसमें मेरा भी नाम दो तो इसे छपवा दूँ। आर्थिक तंगी चल ही रही थी, उन्होंने हामी भर दी लेकिन तब भी न छप सकी। उसके बाद 1951 में इस पुस्तक के कुछ-कुछ अंश उन्होंने छपवाने के उद्देश्य से पत्रिकाओं को भेजे। ‘दिनकर की भाव-भूमि’ और ‘आतंकवाद का गायक – दिनकर’ पत्रिका ‘हंस’ में तो ‘दिनकर की कला-भूमि’ ‘जनवाणी’ में छपी। अंत में 1952 में जाकर यह पुस्तक प्रकाश में आ पाई, जिसे काफी ख्याति मिली।

इस नामकरण के पीछे उनका मत था कि दिनकर का अधिकांश उनके अपने ही विश्लेषण हैं- “वर्तमान के वैताली” पर केन्द्रित है – ‘काल के चारण’ पर आधारित है, और इन दोनों विश्लेषणों को आलोचक (यानी खुद) ने बड़े ही ‘स्ट्रिक्ट सेंस’ में ग्रहण किया है। दिनकर काल के चारण हैं, वर्तमान के वैताली हैं, इसलिए आलोचक (यानी खुद) का आग्रह है कि काल के प्रत्येक चरण और वर्तमान की प्रत्येक मुद्रा प्रतिक्रिया ठीक उसी समय की कविताओं में भी होनी चाहिए। इसमें थोड़ा भी विलम्ब कवि की ग्रहण शक्ति की दुर्बलता का परिचायक है, उसकी सतत् जागरूकता के दायित्व का तिरस्कार करना है।” उन्होंने खुद पुस्तक के शीर्षक को ‘सनसनीखेज’ बताते हुए इसके पीछे उनकी ‘विगत पांच वर्षों से दैनिक पत्रकारिता की चक्की में पिसते रहने का’ कारण कहा और साथ यह भी जोड़ा कि “और यह भी संभव है कि उसका कोई व्यावसायिक अर्थ हो।”

उन्होंने ‘दिभ्रमित राष्ट्रकवि’ शीर्षक देने का कारण बताते कहा कि दिनकर पर लिखते हुए ‘उनके गुणों के प्रति अत्यधिक सहानुभूतिशील’ होने के बावजूद उनके ‘अवगुणों के प्रति उतने ही कठोर, और निर्मम’ तथा ‘उतना ही हृदयहीन और तार्किक’ रहा। ‘वे राष्ट्रकवि बनने के क्रम में तो थे, पर अब रास्ता भूल गए हैं। पुस्तक का नामकरण उसी उपसंहार’ पर किया गया है।

दिनकर जी ने इस पुस्तक को पढ़ने के बाद शर्मा जी को लिखा कि, “.... मैं जानता हूँ कि तुम्हारी राय मेरे बारे में क्या है। यह मीठी भी है और तल्ख भी और तब भी मैं समझता हूँ कि तुम जानदार आलोचक हो।” और कर्मदु शिशिर कहते हैं कि “अपने समय में यह पुस्तक बहुत मशहूर हुई थी।”

इस पुस्तक में ‘दिनकर की भावभूमि’ शीर्षक लेख के अंतर्गत कामेश्वर शर्मा का लिखा वह संक्षिप्त हिस्सा यहाँ देना जरूरी लगता है-

“दिनकर भारतीय राजनीति की आतंकवादी धारा के सबसे बड़े साहित्यिक प्रतिनिधि हैं। यों तो भारत के अमर शहीदों की प्रशस्ति में, जिन्होंने हँसते-हँसते, ‘भारत-माता की जय’ कहते हुए, फाँसी का फंदा अपने गले से लगाया था – गीत लिखने वाले अनेक कवि मिलेंगे, पर उन अंगार के पुतलों की दुर्द्धर्ष देश-भक्ति, मार्मिक भावुकता, उबलते हुए जोश और उफनती हुई रवानी का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाले, सम्पूर्ण उत्तरी भारत में केवल दो ही कवि हुए- नजरूल

इस्लाम और दिनकर। हमारे आलोच्य कवि दिनकर, प्रारम्भ से ही उस आतंकवादी धारा के गायक रहे हैं, कम से कम 1939 तक तो अवश्य ही, जो कि 'हुंकार' के प्रकाशन का समय है। हुंकार तक दिनकर में वही पौरुष, वही ओज और वही साहस है जो आतंकवादी दल की विशेषताएँ रही हैं। 'हुंकार' के बाद दिनकर, उसी प्रकार अपनी 'वीणा'— अपने घर की ओर उन्मुख होते हैं जिस प्रकार आतंकवादी दल के अधिकांश सदस्य। और अंत में अपनी मंजिल पर पहुँच जाने— अर्थात् स्वतंत्रता या लेने के पश्चात, दिनकर उसी तरह मूक और प्रेरणा रहित हो जाते हैं, जिस प्रकार आतंकवादी दल का नाम भी हम आज नहीं सुनते। दिनकर का— हाँ उस दिनकर का, जो हुंकार में अपने मध्याह्न पर था और जिसके बिम्ब पृथ्वी पर लंब रूप से पड़ रहे थे— अस्त हो गया है।..... आज का दिनकर डूब गया है— कल के दिनकर की बात, कल की उषा जाने।”

वे लिखते हैं कि “आतंकवाद (TERRORISM) का अपना कोई स्वतन्त्र दर्शन नहीं, वह अराजकतावाद (ANARCHISM) का ही एक अंग है।” और दुनिया के अराजकतावादियों, यथा – विलियम गाडविन (प्रसिद्ध कवि शेली के ससुर), हागस्कन, जॉसेफ पुथोन, हेनरी थोरो, टुकर, स्टर्नर, बैकुनिन और क्रोपोटकिन जैसे अराजकतावादियों के सिद्धान्त को दर्शाते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि अराजकतावादी— प्रबल भावुक व्यक्ति होता है, उसके विचार उलझे रहते हैं, सृष्टि के सब पदार्थ पर सबका समान अधिकार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धनसंचय को चोरी, श्रम को सर्वश्रेष्ठ, राज्यसत्ता को कुत्सित, हिंसा को अनिवार्य मानता है, उसके पास भविष्य का कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं होता और नियति पर ज्यादा विश्वास करता है। इसके साथ उन्होंने यह भी कहा कि वह तेज बुद्धि का तो होता है किन्तु उसके पास दिमाग नहीं होता। और इस आधार पर कहते हैं कि “दिनकर में अराजकतावादी के ये सभी लक्षण विद्यमान हैं। ‘कुरुक्षेत्र’ का सप्तम सर्ग अराजकतावादी दर्शन का प्रवचन-मात्र है जो ‘शृंग चढ़ जीवन के आर-पार हेरेत-से’ वृद्ध पितामह भीष्म के मुख से कहलाया गया है। और इसके अतिरिक्त उसमें जो भी शेष वाक्य हैं— वे आतंकवादियों के लक्षण हैं, शूर-धर्म, ज्वलित प्रतिशोध, पौरुष की जागृति आदि के उपदेश।”

‘दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि’ पुस्तक प्रकाशित होने से पूर्व इसका नाम ‘दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि की आत्महत्या’ रखा था शर्माजी ने। इस पुस्तक के अन्त में उनके लिखे ‘दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि’ शीर्षक आलेख में भी देखने को मिलता है। उस समय के उनके कुछ शिष्यों का कहना है कि दिनकर जी ने बहुत जोर डाला था— इसका नाम बदलने को ! पुस्तक की भूमिका लिखते हुए शर्माजी ने लिखा भी है कि ‘इस पुस्तक का नाम पहले कुछ और था, पर व्यक्तिगत कारणों से अंत समय में इसे बदल देना पड़ा। पाठक पहले ही पृष्ठ में एक चिप्पी सटी हुई पाएंगे।’

इस पुस्तक में शर्मा जी ने 1949 तक की उनकी कविताओं— ‘रेणुका’, ‘हुंकार’, ‘द्वंदगीत’, ‘रसवंती’, ‘सामधेनी’, ‘कुरुक्षेत्र’, ‘बापू’, ‘धूप और धुआँ’, ‘रश्मिरथी’ का मूल्यांकन किया है और अंत में ‘दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि’ शीर्षक से एक आलेख।

इस आलेख में कामेश्वर शर्मा कहते हैं कि “एक युग था जब राजनीति में कोई भी टोपीवाला अंग्रेजों को पाँच गालियाँ देकर जननेता बन जाता था और साहित्य में कोई भी कलमवाला देश-प्रेम-पूर्ण गीत गाकर जनकवि मान लिया जाता था। वह युग ही ऐसा था कि किसी को सोचने-विचारने की फुर्सत नहीं थी।..... वह वालंटियरों का युग था।” परिणाम यह हुआ कि “जहाँ राजनीति में भगवान, महात्मा, देशपूज्य, देशरत्न, हृदय-सम्राट, चाणक्य, लौह-पुरुष, देशबंधु, अमुक प्रांत के केशरी, अमुक प्रांत की विभूति— आदि” विशेषण राजनीतिज्ञों के लिए गढ़े जाने लगे और सरकार अपने चापलूसों को “राजा, रायबहादुर, रायसाहब, सर आदि खिताब” दे रही थी तब हमारी जनता “उनसे भी भारी भरकम खिताब देकर” उनलोगों को अपनी ओर किया, जो उनकी आवाज उठा रहे थे। इस तरह “प्रांत-प्रांत में एक-एक गाँधी, जिले-जिले में एक-एक जवाहर, थाने-थाने में एक-एक केशरी.... दहाड़ने लगे।” यही हाल साहित्य में भी होने लगा। “जहाँ-तहाँ राष्ट्रकवि पैदा हुए, युगप्रवर्तक कवि प्रलय का आह्वान करने लगे और क्रांतिकारी कवि सरकार को उलट देने की प्रेरणा भरने लगे” थे।

जनता जिस तरह अपने प्रिय नेताओं का नाम सुनते ही भागी चली आती थी उसी तरह उन कवियों को भी घेर रही थीं जो उनकी पीड़ा, रुदन और शोषण की बात कह रहे थे। पीड़ित और शोषित अवाम ने उन्हें सर आँखों पर बिठाया।

आजादी पश्चात “जनता ने अपने नेताओं को सिंहासन पर बैठते देख अपने प्रेमाश्रु पोछे- कवियों को पुष्पमालाओं से लदते देख अपने को गौरवान्वित समझा।” लेकिन अबाम ने देखा कि उनके नेता और कवि गण उन्हीं रायबहादुरों और राजाओं की गाड़ी में चढ़ रहे, उन्हीं के बेटे-बेटी की शादी में गीत गा रहे। उन्हें उनकी भूख, रुदन और बदहाली की चिन्ता नहीं है। इनसे उन्हें डर लगने लगा। उनकी दिन-प्रतिदिन हालत खस्ता हो रही थी और “उधर महल पर महल बनते जा रहे” थे। “उनके पास लंगोटी बनाने के लिए भी यूनियन-जैक इतना चौड़ा कपड़ा बदस्तूर नहीं और उधर रायसाहबों और राजाओं के मकान पर रेशमी का बड़ा-बड़ा तिरंगा लहराता” रहा था ! और कभी दहाड़ने वाले ये कविगण अब खामोश हैं !

कामेश्वर शर्मा अपने मुंगेर के दिनों के एक अंग्रेज साहित्यिक-मित्र, जिन्हें वे हिन्दी सिखाते थे और उनसे अंग्रेजी सीखते, ने लंदन से लिखा कि “बहुत दिनों बाद, इंडिया-हाउस में तुम्हारा नया राष्ट्र-गीत सुनने का अवसर मिला। पता लगा, गीत रवीन्द्रनाथ ठाकुर का लिखा है... ऐसा राष्ट्रकवि पाकर तुम्हारा राष्ट्र धन्य है।” यह पत्र पढ़कर शर्मा जी चौंके, कहते हैं कि “विदेशी की नजरों में राष्ट्रगीत लिखने वाला कवि ही राष्ट्रकवि है। इस दृष्टि से बंकिम और रवीन्द्र हमारे राष्ट्रकवि हुए। पर राष्ट्रभाषा के हिमायतियों ने कभी उन्हें राष्ट्रकवि माना-- मैं मन की आँखों से खोज गया-- आजतक रवीन्द्रनाथ और बंकिमचंद्र के सम्बन्ध में मैंने कभी भी इस विशेषण को प्रयुक्त होते नहीं देखा है।”

उनके मन में सवाल उठा- “राष्ट्रकवि कौन ?” क्या “राष्ट्रगीत लिखने वाला ही राष्ट्रकवि है तब तो रवीन्द्र और बंकिम ही हमारे राष्ट्रकवि हैं- गुप्तजी नहीं।” कामेश्वर शर्मा खुद से पूछते हैं कि क्या हिन्दी में कोई ऐसा राष्ट्रगीत नहीं है ? राष्ट्रगीत की कसौटी क्या है ? आगे वे कहते हैं कि “वंदेमातरम् में दैन्य और स्वतन्त्रता की पुकार है- ‘जन-गण-मन’ में राष्ट्र के विस्तार और सौन्दर्य का वर्णन है। दैन्य को देखते हुए पन्त की इन पंक्तियों से अधिक सबल पंक्तियाँ कहाँ हैं ? -

“भारत माता ग्राम वासिनी
खेतों में फैला है श्यामल
धूल-भरा मैला-सा आँचल
गंगा-यमुना में आँसू-जल
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी।”

यदि स्वतन्त्रता की पुकार की बात कही जाय, तो प्रसाद की ये पंक्तियाँ बेजोड़ हैं -

‘हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती।

अमर्त्य वीर-पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो॥’

यदि राष्ट्र के शौर्य का वर्णन कहा जाय, तो प्रसाद की इन पंक्तियों से अधिक शौर्य और कहीं नहीं मिलता -

‘पैरों के नीचे जलधर हो, बिजली से उनका खेल चले
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत झरने बे-मेल चले
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे
तब भी गिरि-पथ के अथक पथिक ऊपर ऊँचे सब झेल चले।’

और यदि राष्ट्र के विस्तार और सौंदर्य की ही बात कही जाय तो पुनः प्रसाद की ही ये मनहर पंक्तियाँ अद्वितीय ठहरती हैं -

‘अरुण यह मधुमय देश हमारा।

जहाँ पहुँच अंजान क्षितिज को मिलता एक सहारा
सरस तामरस गर्भ-विभा पर, नाच रही तरु शिखा मनोहर
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये समझ नीड़ निज प्यारा।’

उन्होंने कहा कि, “पर हम इन्हें अपना राष्ट्रकवि नहीं मानते। तब जिन्हें हम राष्ट्रकवि मानते हैं, उनमें ऐसी पंक्तियाँ हैं ? गुप्त जी में भी नहीं, नवीन में भी नहीं, ‘एक भारतीय आत्मा’ में भी नहीं और दिनकर में भी नहीं। और ये हमारे चारों राष्ट्रकवि हैं, जिनमें एक सर्वमान्य हैं, बाकी तीन, किसी न किसी रूप में माने और पुकारे जाते हैं।”

शर्मा जी लिखते हैं कि “राष्ट्रपिता को गोली मार दी गई- हमारे किसी भी राष्ट्रकवि ने एक भी पंक्ति ऐसी नहीं लिखी जिससे उनकी मर्मांतक वेदना का पता चलता हो। जिस ‘विश्वमानव’ और ‘युगपुरुष’ की छाती चीरकर तीन गोलियाँ निकल गई, उनका अंतिम ‘हे राम’ किसी का भी कलेजा नहीं चीर सका- उन गुप्तजी का भी नहीं, जिनके ललाट पर का वैष्णवी टीका कपिलवस्तु में भी चमकता है। उत्तर बिहार का अकाल उस राष्ट्रकवि को अपनी ओर आकर्षित कर उससे अपने लिए एक पंक्ति भी नहीं लिखा सका, जिसकी झुलसती हुई ‘हाय-हाय’ के बीच वह देश के भावी नागरिकों का निर्माण कर रहा था। देवरिया के लाखों भूखे-प्यासे किसान अपने राष्ट्रकवि से अपने बिलबिलाते हुए बच्चों के लिए एक दाना तो क्या, एक शब्द भी नहीं पा सके। राजस्थान की मरुभूमि में प्यास से तड़प-तड़प कर मर जाने वाले वीर प्रताप के वंशज, चिरगाँव के सन्त के कर्मंडल से एक बूँद पानी भी उधार न ले सके। यह तो उन भागों की हालत थी जिनके बीच वे बैठे थे, बंगाल, मद्रास, हैदराबाद और बम्बई की आवाज उन तक कैसे पहुँचती ? पर ये हमारे राष्ट्रकवि हैं - हिमालय से कुमारी अंतरीप और कच्छ से कामरूप तक फैले हुए राष्ट्र की भावनाओं को वाणी देने वाले। सारा देश जलने लगा है और नवीन ‘अपलक’ लिखते हैं, गुप्तजी ‘हिडिंबा’ लिखते हैं, दिनकरजी ‘रश्मिर्था’ लिखते हैं- चतुर्वेदीजी रहस्यवादी गीत लिखते हैं। अपनी रचनाओं की भूमिकाओं में ये लोग मानवतावाद का स्वर अलापते हैं, लिखते हैं - ‘मानव के इतिहास को, मानव की संस्कृति को, मानव की अभिव्यक्ति को, जबतक हम मानवतावाद की दृष्टि से नहीं देखेंगे, तबतक काम न चलेगा।’ एक दूसरे राष्ट्रकवि ‘नई मानवता की स्थापना के प्रयास में’ एक ऐसे चरित्र का इस प्रकार से ‘उद्धार’ करते हैं कि वह ‘युद्ध देहि’ का प्रतिनिधि बन जाता है। मानवतावाद की दृष्टि देखकर इन राष्ट्रकवियों की प्रशंसा करनेवाले, राष्ट्रकवि दिनकर की वे पंक्तियाँ ऐसे समय जान-बूझ कर भूल जाया करते हैं -

“चिल्लाते हैं ‘विश्व-विश्व’ कह जहाँ चतुर नर नारी,
बुद्धि-भीरू सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
जहाँ मास्को के रणधीरों के गुण गाये जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख सकुचाते। (सामधेनी)”

इस विडंबना की ओर इशारा करते हुए शर्मा जी ने लिखा कि “1945 में विश्व-विश्व कहने वाले बुद्धि-भीरू 1952 में जहाँ दल का दल बाँध जनता के पास गाँवों में पहुँचने लगे हैं, वहाँ उस समय ‘फलेगी डालों में तलवार’ गानेवाले कवि इस समय सबके साथ दिल्ली पहुँच गए हैं। वे आज मानवतावाद का नारा अलाप रहे हैं और उनका अपना मानव ही उनके चरणों में भूख-प्यास और दैन्य से दम तोड़ रहा है।”

कामेश्वर शर्मा मानवतावाद को बुरा नहीं कहते। लेकिन “यथार्थ से आँखें मूँदकर” भागने को पलायनवादी रवैया करार देते हुए इसकी भर्त्सना करते पूछते हैं- “मानवतावाद का राग ही हमें इस संघर्ष-काल में यदि अलापना था तो हमने एक दिन रवीन्द्र के मानने वाले छायावादियों को उठा-उठा कर क्यों पटक था ? यदि हमें ‘विश्व-विश्व’ ही चिल्लाना था तो हमने मास्को के गीत गानेवालों को गालियाँ क्यों सुनायीं ? एक खरोंच तक नहीं आने पर भी हमने युद्ध और शांति की समस्या पर क्यों विचार किया?” वे इतिहास से पुराण की ओर भागने वाले कवियों से, जो अब “अपने चरित्र-नायकों के मुँह में मानवतावाद का सिद्धांत ठूस” रहे थे, पूछा कि बाल्मीकि ने राम को देखा तो रामायण लिखी, व्यास ने कृष्ण को तो महाभारत। लेकिन हमारे जुझारू राष्ट्रपिता का पाँव छूने वाले हमारे राष्ट्रकवि ने “उनकी हत्या पर प्रबंध काव्य तो क्या, एक मार्मिक पंक्ति तक नहीं लिख सके। विश्व के सबसे बड़े मानवतावादी की मृत्यु पर वे मिर्च खाकर रोएँ और आज प्रासादों में छटपटाती हुई मानवता को छोड़, खंडहरों में चहकती हुई मानवता पर गीत लिखे जा

रहे हैं। यह पलायन नहीं तो क्या है?”

बापू की मृत्यु पश्चात् दिनकर की लिखी कविता में शर्मा जी “कहीं भी कोई मार्मिकता नहीं, सिर्फ अतिशयोक्ति” पाते हैं। वे कहते हैं कि हमारे राष्ट्रकवियों की वास्तविक प्रेरणा और संवेदनशीलता मर गई है और “वे अब कविता लिखने के लिए कविता लिख रहे हैं।”

उन्होंने कहा कि, “आज हम एक ऐसे संधिस्थल पर खड़े हैं ... जिसकी एक ओर विशाल जलती हुई मरुभूमि है और दूसरी ओर अक्षितिज लहलहाते खेत, एक के चेहरे पर मौत की छाया दूसरे के कपोलों पर उल्लास, आशा और उमंग की सतरंगी आभा थिरक रही है। ...संक्षेप में, एक ओर पूँजीवाद के पुराने वर्ग-युक्त सामाजिक ढाँचा चरमराता हुआ टूटता जा रहा है, दूसरी ओर समाजवाद के नये वर्ग-विहीन समाज का बिरवा, निराला के कुकुरमुत्ते की तरह शान से सीना तानता हुआ धरती से ऊपर उठता जा रहा है।”

वे साफ-साफ कहते हैं कि हमारे राष्ट्रकवियों में इतनी शक्ति आज नहीं रह गई है कि वे हमारा प्रतिनिधित्व कर सकें, उनकी वाणी में वह प्रकाश नहीं, जो हमें इस कुहासे में राह दिखा उस मंजिल तक पहुँचा दें, जिसे चूम लेने को हम तड़प रहे हैं। लेकिन आज “वे जिन मूर्तियों का निर्माण कर रहे हैं- वे मूक हैं, घृणित हैं और अपूर्ण हैं।” गुप्त जी और चतुर्वेदी जी को उन्होंने वृद्ध मान कहा कि वे अपनी “जनता की प्रगतिशील शक्तियों का साथ देकर अपना दायित्व, पूर्ण ईमानदारी से निभाया।” लेकिन वे नवीन और दिनकर को दोषी करार देते हैं और खासकर “नवीन से अधिक दिनकर” को। वह इसलिए कि “वे एक ऐसे कवि थे, जिनकी भाषा को हमने प्रकृति का दिया हुआ वरदान समझा था, जिनके ओज और पौरुष को हम निरीह, मूढ़ और असभ्यों ने अपने लिए नियामक समझा था, जिनपर हमारे रोगग्रस्त जर्जर जीवन के भविष्य की आशाएं टिकी थीं। वे एक ऐसे दीपक थे जिसे जनता अपने फटे अंचल की ओट में आंधी के झोंकों से बचाती हुई अपने गृह-देवता के पूजन को बढ़ती जा रही थी।”

शर्मा जी कहते हैं कि इस राष्ट्रकवि की मौत नहीं हुई, बल्कि उन्होंने आत्महत्या की। जनता उन्हें माफ कर उनके पास हाथ पसारती हुई दौड़ती रही, पर वह पल्ला छुड़ा भागते रहे हैं और जनता अनाथ की तरह रोती पुकार रही है- “वर्तमान के बैताली, लौटो, एक बार उलट कर देख तो लो।”

और अंत में लेखक ने दिनकर से गुहार लगाई कि “तीस करोड़ भूखी, नंगी, मूढ़, असभ्य, अशिक्षित और निर्धन” जनता आपसे उम्मीद लगाए बैठी है “जो दूध के लिए कभी स्वर्ग लूटने गया था पर स्वयं लुट गया।” वह हाथ फैला “उस राष्ट्रकवि की भीख माँग रही है, जिसने उसे जंजीरों में बंधे देखकर भीषण हुंकार किया था और उसके चरणों पर फूल रख सच्चे हृदय से गाया था- ‘के बोले मा ! तुमि अबले’ - जिसने उत्साह की प्रबलता में हिमालय को ललकारा था -

“याद हिमालय को, भिड़ना
कितना है कठिन जवानी से।”

उन दिनों मैं रामदयालु सिंह कॉलेज में विज्ञान का छात्र था और प्रो. कामेश्वर शर्मा एल.एस. कॉलेज के हिन्दी प्राध्यापक। इसलिए उनसे पढ़ने का मौका तो नहीं मिला किन्तु वहाँ का हिन्दी डिपार्टमेंट हर समय चर्चा के केन्द्र में होता। इसलिए वहाँ की हलचल की सूचना शहर भर में चल चल कर चलती हुई हम तक भी पहुँचती रहती थी। उनके शिष्य रहे डॉ. श्यामनंदन किशोर उनको सरपास कर जब डिपार्टमेंट के हेड हुए तो उस समय यह चर्चा का विषय बना कि शर्मा जी के भी वे हेड हो गए !

उनके छात्र रहे मनोज मोहन कहते हैं कि “शर्मा जी एक नेक इंसान थे। उन्होंने जाति के नायक कवि (उनका इशारा दिनकर की ओर है) की आलोचना कर डाली थी, इसका उन्हें आजीवन मूल्य चुकाना पड़ा।”

उसी कॉलेज के हिन्दी विभाग में यूनिवर्सिटी हेड रह चुके डॉ. महेन्द्र मधुकर कहते हैं कि शर्मा जी का व्यक्तित्व अतुलनीय था। उनको सबसे अधिक कष्ट हिन्दी विभाग के कुछ सदस्यों ने दिया। उन्हें प्रोफेसर नहीं बनने दिया। उनसे कहा गया कि कुलपति से मिलें। पर वे झुकने और याचना के विरुद्ध थे।”

कामेश्वर शर्मा जी पर जब काम करने चला तो उस दौरान उनके छोटे पुत्र इत्यलम (हर्षवर्धन) से मिला और इस

सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने कहा कि कॉलेज की कोई बात वे घर पर किसी से शेयर नहीं करते थे, इसलिए कुछ नहीं बता सकता। लेकिन एक बात उन्होंने बताई कि जब 'नई धारा' के सम्पादक रामबृक्ष बेनीपुरी थे तो मेरे पिता उसके सहायक सम्पादक हुआ करते थे। बेनीपुरी जी की अनुपस्थिति या उनके गाँव रहने पर पत्रिका का सम्पादकीय भी शर्मा जी ही लिखा करते थे। उनके नहीं रहने पर सम्पादकीय लिखने का निर्देश बेनीपुरी जी का ही रहता था। उन दोनों के बीच पिता-पुत्र जैसा रिश्ता रहा। उनकी अनुपस्थिति में एक बार उन्होंने राजेन्द्र प्रसाद सिंह की आई 'भूमिका' शीर्षक कविता को श्रेष्ठ जान पत्रिका में प्रकाशित कर दी तो बेनीपुरी जी उस कविता को देख बहुत प्रसन्न हुए और कविता के प्रति उनकी आलोचकीय समझ पर आश्चर्य भी। इसलिए उनसे सम्पादकीय भी लिखने को कहकर निश्चित रहते। इस तरह उस पत्रिका के अनेकों अंक का सम्पादकीय उन्हीं का लिखा है।

आगे उन्होंने बताया कि एक बार इसी पत्रिका के लिए कोई आलेख धर्मवीर भारती जी ने भेजा, जिसे पढ़ने के बाद कामेश्वर शर्मा ने उसे रिजेक्ट कर वापस कर दिया। कामेश्वर शर्मा कविताएँ भी लिखते थे और जब बाद में धर्मयुग के सम्पादक धर्मवीर भारती बने तो कामेश्वर शर्मा की भेजी कविता नहीं छापते और वापस भेज देते थे। तब शर्मा जी ने अपना नाम बदल कर मल्लिनाथ तो कभी मनमथ मिश्र नाम से कविताएँ भेजने लगे तब वहाँ छपने लगी थी।

कल्याणी चौक पर एक खपरैल चाय की दुकान हुआ करती थी जिसके ऊपर मथुरा प्रसाद का हर महीने एक कार्टून चस्पा होता। अपने समय इस कार्टून की खूब चर्चा थी, लोग इसके टंगने-देखने का इंतजार करते थे। यह दुकान शहर के बुद्धिजीवियों के चाय-चूँ-चपड़ का अड्डा हुआ करता था। आजीवन साइकिल से चलने वाले प्राध्यापक कामेश्वर शर्मा अक्सर वहाँ दिख जाते। घर से कॉलेज और कॉलेज से घर के बीच यही दुकान उनका ठहराव स्थल था, जहाँ रुककर वे चाय की चुस्कियों संग खामोशी से थोड़ा वक्त बिताते। गहरा सांवला रंग, अच्छी डील डौल काया, धोती या पायजामा, कुर्ता या कमीज के साथ बदन पर स्वेत चादर तथा पाँव में पतला खराऊँ, यही वेशभूषा थी उनकी। कॉलेज के बारह उन्हें वाचाल होते शायद ही किसी ने देखा हो। धीर-गंभीर और घर में भी कम बोलने वाले।

रामबृक्ष बेनीपुरी जब 'नई धारा' के सम्पादक थे तो कामेश्वर शर्मा उसके सहायक सम्पादक थे और बेनीपुरी जी की अनुपस्थिति या उनके गाँव रहने पर पत्रिका का सारा कार्य ही नहीं देखते बल्कि सम्पादकीय भी लिखते थे। उन दोनों के बीच पिता-पुत्र जैसा सम्बन्ध था। उनके नहीं रहने पर सम्पादकीय लिखने का निर्देश भी बेनीपुरी जी का ही था। उनकी अनुपस्थिति में एक बार उन्होंने राजेन्द्र प्रसाद सिंह की आई श्रुमिकाश शीर्षक कविता को श्रेष्ठ जान पत्रिका में प्रकाशित किया तो बेनीपुरी जी उस कविता को देख बहुत प्रसन्न हुए और कविता के प्रति उनकी आलोचकीय समझ पर आश्चर्य भी। इसलिए उनसे सम्पादकीय भी लिखने को कहकर निश्चित रहते। इस तरह उस पत्रिका के अनेकों अंक का सम्पादकीय उन्हीं का लिखा हुआ है।

इसी पत्रिका के लिए कोई आलेख कभी धर्मवीर भारती ने भेजी थी, जिसे पढ़ने के बाद कामेश्वर शर्मा ने उसे रिजेक्ट कर वापस कर दिया। उन्होंने पता करवाया रिजेक्ट करने वाले का नाम और गाँठ बाँध ली। कामेश्वर शर्मा कविताएँ भी लिखते थे और जब बाद में धर्मयुग के सम्पादक धर्मवीर भारती बने तो कामेश्वर शर्मा की भेजी कविता नहीं छापते, वापस भेज देते थे। तब शर्मा जी ने अपना नाम बदल कर मल्लिनाथ तो कभी मनमथ मिश्र से भेजने लगे तब वहाँ छपने लगी थी।

मल्लिनाथ और मनमथ मिश्र नाम से कविताएँ लिखने वाले कामेश्वर शर्मा की लिखी कोई कविता तो कहीं मिल न सकी किन्तु कॉलेज के दिनों की स्मृति में एक पंक्ति आज तक फंसी है। वह भी इसलिए कि जब महिला दर्शन दास कॉलेज की बस हमलोगों के करीब से गुजरती तब आहें भर हमलोग गुनगुनाया करते थे। बाद में जाना कि ये उन्हीं की लिखी बिंदास पंक्ति है -

“लो आ गई महिला कॉलेज की बस
इधर चाँद उधर चाँद, चाँद ठसाठस”

(नोट : “दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि” पुस्तक के लिए उनके पुत्र श्री हर्षवर्धन जी से सम्पर्क कर सकते हैं।
उनका नंबर है - 9006485733)

कहाँ छुपे हो, हे न्याय के देवता ! (जनजातीय जीवन और जोराम यालाम की कहानियाँ)

○ अभिषेक कुमार यादव*

[जोराम यालाम नाबाम के कहानी संग्रह 'साक्षी है पीपल' को केंद्र में रखकर लिखे गए लेख की दूसरी और आखिरी किस्त। पहले हिस्से का शीर्षक है, 'मदद मांगती हैं ये दोन्य की बेटा- जनजातीय औरतें और जोराम यालाम की कहानियाँ]

दुनिया में दुख का इतना बड़ा साम्राज्य फैला हुआ है। इसके देवता की सब तरफ जय-जयकार है। इसका देवता इस नीली सपनीली दुनिया का सबसे बड़ा सम्राट है, समुद्रों और भीमकाय पर्वतों से भी ज्यादा विशाल। क्षुद्र से क्षुद्र और बड़े से बड़े 'कुछ' और 'सबकुछ' में शामिल है दुख का देवता। सच्चे अर्थों में सर्वव्यापी.. इसकी सर्वव्यापकता को भेद सकने की क्षमता सिर्फ न्याय के देवता में ही है। वही ऐसा है जो उन तमाम दुखियारे लोगों को राहत पहुँचा सकता है जो मांगते कुछ नहीं लेकिन उनके हिस्से ही सबसे ज्यादा दुख आता है। जो सब कुछ मांगते हैं वे ही सदा ठिठुरते समंदरों में लाइफ जैकेट पाते हैं। यह एक ऐसी गुत्थी है जिसमें इतनी सिलवटें हैं कि अपार गर्मी और तपन भी उसे सुलझा नहीं पा रही हैं। इस प्रचंड विपर्यय की गुत्थी को तो न्याय का देवता ही सुलझा सकता है।

लेकिन आखिर हो कहाँ तुम न्याय के देवता ! उस पेड़ की सूखी और सूखती चली जा रही डाली में जिसे पेड़ निश्चल देखने के सिवा कुछ नहीं कर पाता है। क्या तुम उस बच्चे के बदन में हो जो एक रात सोते-सोते 'विकास' की हवा सूँघकर अपनी पथरीली आँखों से दुनिया को देखता हुआ दफन है! या उस अफ्रीकी बच्चे की धनुषाकार रीढ़ में जो मनुष्य की सबसे आदिम 'दुश्मन' भूख से लड़ रहा था और उसकी हार इस भूख की लड़ाई में एक गिद्ध की जीत होने जा रही थी। भूख की जलन और तितास में बैठे हुए तुम कब तक चुपचाप रहोगे न्याय के देवता? उस लड़की की आंत की गिरहों में लिपटे हुए हो क्या तुम जिन्हें वहशियों ने सड़कों पर बिखेर दिया था। दुनिया की सभी सभ्यताएं और संस्कृतियाँ, सभी मंत्र और प्रार्थनाएँ बौनी हैं इन गिरहों के सामने। आखिर तुम हो कहाँ.....?

न्याय के देवता..... ! बहुत पहले दुनिया में तुम्हारे विचरने के लिए बहुत भूमि थी लेकिन तुमने दड़बानशीं

☆ असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजीव गांधी विश्वविद्यालय, अरुणाचल प्रदेश; पूर्व फेलो, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, हिमाचल प्रदेश।

होना कुबूल किया। दुख का देवता आता, जलवानशीं होता और लोग तुम्हें पुकारते, तुम आते और शरमाकार रह जाते। दुनिया बनी तो यूँ ही नहीं थी। जंगल हुए, नदियाँ बहीं, एक चूहे की बिल से लेकर एक केंचुए का भुरभुराता घर, सब कुछ बना लेकिन दुख के देवता के प्रताप के आगे तुम्हारे नत मस्तक ने सब कुछ बदल दिया। सो दुनिया बदल गई। अन्याय हुए, गरीब-अमीर बने, नर, नर हुए, मादा, मादा होती गई, कोड़े मारने वाले हुए, कोड़े खाने वाले हुए, उपवास करने वाले हुए भूख से बिलबिलाने वाले हुए, सछूत हुए, अछूत हुए... कितनी लंबी फेहरिस्त है यह, सो सिर्फ तुम्हारी खामोशी की वजह से....

सोचता हूँ कि एक 'कुन' में कितनी ताकत है कि उन्होंने कहा कि 'हो जाओ' और 'हो गया'। लेकिन क्या उन्होंने कभी यह जाना कि क्या से क्या हो गया यहाँ...? जब तुम ही सिसक रहे हो न्याय के देवता, जब तुम ही खामोश हो न्याय के देवता, तब यामी से यापी तक पसरे दुख की अंतहीन धारा को काटने वाला किधर होगा...? एक दुनिया कितनी दुनियाओं में बदल गई है और हर ताकतवर, कमजोर को लीलने की हाहाकारी प्यास से भरा हुआ है। ऐसे में चाहे बात किसी जनजातीय समाज की हो, गैर जनजातीय समाज की हो, औरतों की बात हो या कमजोरों की बात हो, सब तरफ एक ही हाल दिखता है।

अरुणाचल प्रदेश के मुख्य जनजातीय समाजों में वधू-मूल्य की परंपरा है। यह बात इस शृंखला के अन्य लेखों में भी बार-बार सामने आई है। इस प्रथा के भयावह परिणामों के बारे में अरुणाचल प्रदेश के रचनाकारों ने बहुत ही सचेत आलोचनात्मक रुख अपनाया है जो आवश्यक भी है। हर समाज में औरतों-लड़कियों को लेकर विभिन्न प्रकार के 'टोटेम' प्रचलित रहे हैं। 'शक्ति' से 'भोग' तक इसके अनेक रूप हैं। समाजों की विभिन्न विकास अवस्थाओं के अनुसार यह रूप बदलता रहता है। अरुणाचल प्रदेश के जनजातीय समाजों में काम-काज का बहुत बड़ा हिस्सा औरतों के माथे पर होता है। घर और घर से संबंधित सभी कामों के साथ-साथ खेती का काम और बच्चों को जनने से लेकर उन्हें पालना, कामों का एक सिलसिला है। ऐसी स्थिति में वे एक 'श्रमिक' के रूप में 'मूल्यवान' हो जाती हैं। खासतौर पर एक ऐसे समाज में जहाँ संतान केवल टोटेम नहीं बल्कि सामाजिक जरूरत है और जहाँ तकनीकी की आधुनिक सुविधाएँ हासिल नहीं रही हैं, वहाँ ये कामगार औरतें बहुमूल्य हो जाती हैं। इसीलिए इस बहुमूल्य का 'मूल्य' लगने लगता है। शादी के लिए लड़के वाले लड़की के परिवार वालों को विवाह के एवज में कुछ मूल्य चुकाते हैं। हालांकि यह सब परंपरा और संस्कृति के चोले में ही होता है। यह परंपरा भारत के कई जनजातीय समाजों में चलन में है। जहाँ-जहाँ यह एक रूढ़ संस्था बन गई है वहाँ इसका भीषणतम रूप देखने को मिलता है। जब यह नियम मान्य हो जाता है तो लड़की का पिता परिस्थितिजन्य मजबूरी या लालच में या स्वाभाविक रूप से लड़के के परिवार वालों से लड़की के बदले में 'मूल्य' ले लेता है। यह कभी ताकत, कभी प्रदर्शन, कभी कमजोरी तो कभी विवशता के रूप में प्रकट होता है। अब इन नियमों या मर्यादाओं का बोझ तो लड़कियों को ही ढोना पड़ता है। जबरन वैवाहिक संबंध एक ऐसा घाव है जिसके साथ पूरी उम्र जीना पड़ता है जो जीवन भर टीसता, चुभता और सड़ता रहता है। ऐसे नियमों का विरोध भी स्वाभाविक है इसीलिए इनके तोड़ने पर दंड का विधान भी समाज में किया जाता है। बलात्कार भी एक ऐसा ही दंड है। इसको हम इस कहानी- संग्रह की कई कहानियों में देख सकते हैं। इसका विस्तृत विवेचन पिछले लेख में किया गया है।

इस संग्रह की आखिरी कहानी भी स्त्री जीवन पर ही केन्द्रित है लेकिन उसका कथानक बहुत भिन्न है। 'क्या कहेंगे लोग!' कहानी गुवाहाटी के एक प्रसिद्ध व्यवसायी मिस्टर दत्ता और उनकी बेटी की कहानी है। कहानी की शुरुआत इस बात से होती है कि मिस्टर दत्ता की हृदयगति रुकने से मृत्यु हो गई है और इसके बाद कहानी फ्लैश बैक में चली जाती है। मिस्टर दत्ता के घरेलू बगीचे में एक बड़ा सा गुलमोहर का पेड़ लगा

हुआ है जिसके नीचे एक पट्टे पर लिखा हुआ है 'पापा एंड रूनु'। रूनु, दत्ता साहब की इकलौती बेटी है जिस पर वे जान न्यौछावर करते हैं। बिटिया बी.ए. प्रथम वर्ष में ही थी कि उसके लिए कलकत्ता के बहुत बड़े व्यवसायी के यहाँ से रिश्ता आया। बेटी बिल्कुल भी शादी नहीं करना चाहती थी लेकिन दत्ता के मन में अपने बेटों के व्यवसाय के विस्तार का ख्याल आ गया। उन्होंने इस रिश्ते में अपना फायदा देखा और रूनु की शादी कर दी। समय के साथ रूनु ने भी खुद को स्थिति के अनुरूप ढाल लिया कि एक दुर्घटना में उसके पति की मृत्यु हो गई। इस दुर्घटना के कुछ दिनों के बाद ही उसके ससुराल वालों ने कहा कि उसे अपने पिता के घर लौट जाना चाहिए। अभी उसकी उम्र ही क्या है। मिस्टर दत्ता सारी धन-दौलत और बेटी के प्रति प्यार के बावजूद बेहद कट्टर मगज आदमी थे। उन्हें लगा कि विधवा बेटी को घर ले जाने पर जमाने के लोग क्या कहेंगे। उन्होंने रूनु को अपनी एक बहन (रूनु की बुआ) जो कलकत्ते में रहती थी, उसके पास रख दिया और उसकी पढ़ाई शुरू करवा दी। शुरू में तो सब ठीक था लेकिन बाद में बुआ ने रूनु पर बहुत सारी पाबन्दियाँ लगानी शुरू कर दी। रूनु के पास पैसे नहीं होते थे। दत्ता, अपनी बहन को पैसे भेजते और वह रूनु को केवल गिन चुनकर ही पैसे देती थी।

दत्ता बाबू धीरे-धीरे पैसे भेजना भूलने लगे। इधर रूनु की स्थिति बद से बदतर होती गई। उसके पास अपनी फीस चुकाने भर को भी पैसे नहीं होते थे। फोन करती तो दत्ता बाबू कहते कि व्यस्त हैं। रूनु के पास एक मोबाइल फोन तक नहीं था। ऐसे में एक दिन दत्ता बाबू ने अपनी बहन को फोन किया कि वे कलकत्ता आए हैं। कोई जरूरी मीटिंग है इसलिए आज होटल में ही रुकेंगे। उनके आने की सूचना रूनु को न दें, वे कल आकर बेटी को 'सरप्राइस' देंगे।

मिस्टर दत्ता होटल के अपने कमरे में दारू की हल्की खुमारी में थे कि दरवाजे पर दस्तक हुई। उन्होंने हल्की मुस्कुराहट के साथ कमरे की लाइटें बंद की और दरवाजा खोला। एक लड़की तेजी से अंदर आई। दत्ता ने लड़की को बाहों में भर लिया। उसका नाम पूछा तो लड़की को लगा कि जैसे वह इस आवाज को पहचानती हैं। उसने जवाब दिया कि नाम में क्या रखा है तो दत्ता को लगा कि वे भी इस आवाज को पहचानते हैं। लाइट ऑन हुई तो बाप-बेटी सामने थे। "बाप लड़खड़ाकर बिस्तर पर धम्म से बैठ गए। बेटी उस तरफ मुँह किए काँपती हुई-सी खड़ी थी। कोई कुछ नहीं बोल रहा था। लेकिन उस होटल का वह कमरा शरम से चीख रहा था। बहुत देर चुप रहने के बाद वह बोली, 'मेरे पास और कोई चारा नहीं था। मुझे कुछ भी करके अपनी पढ़ाई पूरी करनी थी'। यह कहते हुए वह तेजी से बाहर निकल गई"।

मिस्टर दत्ता गुवाहाटी लौट आए। सोचते रहे। अपने को कोसते रहे और 'मिस्टर दत्ता को चक्कर आने लगा। आँखों के आगे अंधेरा छा गया। वह गुलमोहर के पेड़ के नीचे गिर गए' और मर गए।

यह कहानी वर्तमान समय के समाज की कई परतों को खोलती है। यह कहानी बताती है कि वर्तमान समाज जो आधुनिकता के मूल्यों और आधुनिक शिक्षा का दावा करता है, असल में उसकी जड़ें पुरातनपंथी विचारों में ही छुपी हुई हैं। यह आधुनिकता का दावा पूरी तरह खोखला है। इस नए उपभोक्तावादी समाज ने आधुनिक मूल्यों के साथ एक अजब सी संगत बिठा ली है। यह आधुनिकता का प्रदर्शन करता है लेकिन आधुनिकता विरोधी पुरातनपंथी मूल्यों के साथ जीता है। यह नैतिकता की बात करता है लेकिन अनैतिक रूप से अपना फायदा कमाने और बनाने की जुगत में लगा रहता है। रूनु इसी दोहरेपन का शिकार हो गई थी।

इस संग्रह की दो कहानियाँ 'कामेश्वर बरुआ हालुआ बन गया' और 'वह बरसात की एक रात' अरुणाचल प्रदेश में मजदूर के रूप में काम करने वाले बाहरी लोगों को केंद्र में रखकर लिखी गई हैं। 'कामेश्वर बरुआ हालुआ बन गया' कहानी एक मजदूर स्त्री के जीवन की त्रासदी को भी चिह्नित करती है। कामेश्वर बरुआ,

असम का रहने वाला है और अरुणाचल प्रदेश में घर बनाने वाले मिस्त्री के रूप में काम करता है। यह कहानी शुरू होती है एक घटना से। ताज ताकार नाम के आदमी ने कामेश्वर बरुआ को इतना मारा कि उसकी हड्डी-पसली जैसे एक हो गई। कारण यह था कि कामेश्वर ने उससे बीस हजार रुपए एडवांस यह कहकर लिए थे कि वह मकान बनाने वाला मिस्त्री है और असम से मजदूर लाकर उसका घर बना देगा। लेकिन उसने वह पैसा बिहू² मनाने और दारू पीने में खर्च कर दिया। आखिरकार कामेश्वर ने अपने मकान-मालिक से विनती की कि अगर वे ताज ताकार का कर्ज चुका दें तो वह उनके खेत पर हालुआ³ बन जाएगा।

अब यहाँ से कहानी फ्लैश बैक में चली जाती है। वह नाबाम तादो के यहाँ मिस्त्री था। उसके नीचे पंद्रह मजदूर काम करते थे। तादो के यहाँ चम्पा नाम की एक लड़की नौकरानी थी। वह भी असम के ही किसी समुदाय की थी। कामेश्वर ने उस पर डोरे डालना शुरू कर दिया। मालिक ने इस बात को समझ लिया और दोनों की शादी करा दी। अब कामेश्वर, अपने मजदूरों के हिस्से का पैसा चम्पा पर खर्च करने लगा। मालिक को जब तक यह पता चला तब तक मामला लाख रुपए के पार पहुँच चुका था। मालिक ने उसे भगा दिया। चम्पा को कामेश्वर ने पहले ही अपने किसी दोस्त के यहाँ पहुँचा दिया था। उसे कुछ पता नहीं चला। जब उसने इस बारे में पूछा तो कामेश्वर उसे पीटने लगा। मार खाती चम्पा ने सोचा, “वह तो सौभाग्यवती थी कि उसकी शादी हो गई, वरना अनेक बदनसीब औरतों को तो पति की मार ही नहीं मिलती। मिले भी कैसे, शादी ही नसीब नहीं होती। उसका विवाह तो मिस्त्री के साथ हुआ है, किसी ऐसे-वैसे मजदूर के साथ नहीं। उसने रोते-रोते बड़े गर्व से अपने मंगलसूत्र पर हाथ फेरा और चिंता करने लगी पेट की”⁴। चम्पा का यह सोचना अरुणाचल प्रदेश में काम करने वाली स्त्री-मजदूरों की दर्दनाक स्थिति को बयान करता है। असम के विभिन्न क्षेत्रों से गरीब घरों की लड़कियाँ इस पहाड़ी राज्य में घरों में काम करने के लिए आती हैं। कम पैसों में बिना किसी सामाजिक सुरक्षा के काम करना हर समय ही बहुत कठिन होता है। यह कई तरह की समस्याओं को जन्म देता है। यह एक बड़ी बहस है। मजदूरों को काम के बदले में मिलने वाले वेतन का प्रश्न तो महत्वपूर्ण है ही, इसके साथ ही यह बात भी बहुत मायने रखती है कि काम करने की परिस्थितियाँ कैसी हैं? क्या उसे कोई सामाजिक, कानूनी या राजनीतिक सुरक्षा मिलती है या नहीं? भारत में संगठित क्षेत्र से ज्यादा लोग असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं। संगठित क्षेत्र में तो कम से कम कुछ कानूनी प्रावधान होते हैं लेकिन असंगठित क्षेत्र में तो खुले तौर पर मानवीय गरिमा और मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता है। सबसे कठिन बात यह है कि समाज इन मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा देने को तैयार नहीं है। कानून और उसके प्रावधान तो बनाए ही जाने चाहिए लेकिन एक समाज के तौर पर हम यह नागरिक-बोध प्राप्त करने में असफल रहे हैं कि इन मजदूरों को कम से कम मानवीय गरिमा हासिल हो सके।

पत्रकार प्रियंका दुबे ने 2013 में बहुत परिश्रम से एक रिपोर्ट⁵ तैयार की थी जिसके अनुसार असम के उत्तरी लखीमपुर जिले (यह अरुणाचल प्रदेश की राजधानी ईटानगर के क्षेत्र से बिल्कुल सटा हुआ है।) से करीब 5000 लड़कियाँ गायब हैं। ये लड़कियाँ बहुत गरीब पृष्ठभूमि से आती हैं और इन्हें अपना और अपने परिवार का पेट पालने के लिए बिना किसी शर्त और सामाजिक सुरक्षा के काम करना पड़ता है। दलालों के माध्यम से ये देश के विभिन्न हिस्सों में ले जाई जाती हैं। इसी क्रम में वे अरुणाचल प्रदेश में भी पहुँचती हैं। इन लड़कियों के जीवन की सुरक्षा का कोई बंदोबस्त नहीं होता है। ऐसे में ये बहुत बड़ी संख्या में होने के बावजूद बिल्कुल अकेली होती हैं। मजदूर लड़कियों की इस आबादी में सबसे बड़ी संख्या उन लड़कियों की होती है जो नाबालिग होती हैं। काम करने के लिए कम उम्र की तथा अविवाहित लड़कियों की मांग सबसे ज्यादा होती है जो हर तरह से कमजोर होती हैं। ये सारी परिस्थितियाँ उन्हें एक ऐसी स्थिति में पहुँचा देती हैं जहाँ जीवन ही

अनिश्चितता का शिकार हो जाता है। ऐसा जीवन जिसका कोई किनारा नहीं होता है। चम्पा ऐसी ही एक लड़की है इसीलिए उसके पास इतनी भी ताकत नहीं है कि वह अपने साथ हो रही हिंसा का प्रतिकार कर सके।

कामेश्वर उसे एक दूसरी जगह ले गया। वहाँ उसने अपने एक दोस्त की मदद से बांस का एक घर किराए पर ले लिया। मालकिन ने जब पैसा मांगा तो उसने कहा कि वह मिस्त्री है, कमाकर दे ही देगा। समय के साथ हालत यह हो गई कि चम्पा को मालकिन के घर पर बेगार ही करना पड़ता। ऐसे में ही ताज ताकार के साथ रुपयों के लेन-देन की घटना घटी थी। उससे निपटने के लिए अब वह अपने मकान मालिक के घर हालुआ बन गया। एक ऐसा मजदूर जो जब तक बकाया पैसा चुका नहीं देता, तब तक उसे मालिक के घर पर ही काम करना पड़ेगा।

इन्हीं दिनों एक संभ्रांत सी दिखने वाली महिला चम्पा के घर आई। चम्पा से उसने कहा कि वह कामेश्वर की रिश्तेदार है। चम्पा को आश्चर्य और गुस्सा दोनों हुआ कि कामेश्वर ने उसे इस बारे में कभी नहीं बताया। जब कामेश्वर आया तो वह उस महिला को देखकर सन्न रह गया लेकिन चुपचाप पड़ा रहा। अगले दिन महिला ने चम्पा को अपने साथ दुलियाजान (असम का एक स्थान) चलने के लिए कहा। चम्पा के पास इससे बचने का कोई उपाय नहीं था क्योंकि कामेश्वर ने भी उसे जाने के लिए कह दिया। दुलियाजान पहुँचकर चम्पा को पूरी कहानी पता चली। वह महिला रूनु दास थी जो कामेश्वर की ब्याहता थी। उसके दो जवान बच्चे थे जिनकी शादी भी हो चुकी थी। उसने बताया कि कामेश्वर शुरू से ही बहुत कामचोर और उजड़ू मिजाज का रहा है। परिवार वालों को उम्मीद थी कि शादी के बाद सुधर जाएगा लेकिन ऐसा नहीं हुआ। वह हर समय कोई-न-कोई बखेड़ा खड़ा करता रहता था। शादी में लाये रूनु दास के गहने बेच दिये उसने। अपने माता-पिता और रूनु की भी पिटाई करता रहता। इस बीच रूनु के दो बच्चे हो गए। कामेश्वर को पी.डबल्यू.डी. विभाग में चपरासी की नौकरी भी मिली लेकिन अपने इसी स्वभाव के कारण उसे भी उसने छोड़ दिया। रूनु ने कहा कि बाद में कामेश्वर गायब हो गया। पता चला कि वह याजाली में है और तुम्हारे साथ रह रहा है तो मैं वहाँ आई और तुम्हें यहाँ ले आई। मुझे यह कहना था कि मेरे सास-ससुर ने कामेश्वर को अपनी संपत्ति से बेदखल कर दिया है। इसलिए यहाँ की संपत्ति में से तुम्हें और तुम्हारे बच्चे को कुछ भी नहीं मिलेगा।

अगले दिन चम्पा बस में बैठी और वापस याजाली के लिए चल दी। रास्ते भर वह अपने जीवन के बारे में सोचती रही। अब वह, “कहाँ जाए? किसके घर के जाए? अनाथ थी बचपन से। मामा ने महज पाँच हजार लेकर नाबाम तादो की पत्नी को सौंपा था उसे। उस वक्त शायद वह पाँच-छः साल की रही होगी। काम, काम, बस काम ही करती रही। उसने कभी भी बचपन देखा ही नहीं था”⁶। उसका जीवन जो कि मानवीय गरिमा से अछूता था, जिसमें सिर्फ अपमान, तिरस्कार और शोषण ही था, उस जीवन के प्रति उसमें वितृष्णा भर गई। कारण भले ही अलग रहे हों लेकिन यह वितृष्णा वैसी ही थी जैसी आमिन के मन में भर गई थी। “अब वह पहले वाली चम्पा नहीं रही। वह भी पीने लगी है। कामेश्वर को अब वह खूब जवाब देने लगी है। उसे खुद को भी यकीन नहीं आ रहा है कि वह इतना क्यों बोलने लगी है। कामेश्वर ने एक दिन उसे मारने की कोशिश ही की थी, चम्पा लाठी लेकर धड़ाधड़ उसे ही पीटने लगी”⁷।

यह कहानी कई स्तरों पर चलती है। एक तरफ वह एक नकारा पुरुष और उसकी शिकार स्त्रियों की कथा कहती है तो दूसरी तरफ अरुणाचल प्रदेश जैसे क्षेत्रों में मजदूरों की स्थिति को भी बयान करती है। यह कहानी स्त्री-मजदूरों की असहाय स्थिति को भी पाठकों के सामने रखती है तो बाल-मजदूरी और बाल-तस्करी की समस्या से भी रु-ब-रु कराती है। इसे इन सतहों के साथ देखा जाना चाहिए।

इस संग्रह की एक अन्य कहानी ‘वह बरसात की एक रात’ भी अरुणाचल प्रदेश में काम कर रहे मजदूरों

की स्थिति की भयावहता को चित्रित करती है। कथानक, राजीव गांधी विश्वविद्यालय में बन रही किसी इमारत में काम कर रहे मजदूरों पर केन्द्रित है। मजदूरों के 'मोहरी'⁸ पर काम पूरा करने का बहुत दबाव है। रात के दस बजे भी मजदूर काम कर रहे हैं। बारिश और ठंड का मौसम है। मजदूर बहुत थक गए हैं और अंधेरे तथा बारिश में वे ठीक से काम भी नहीं कर पा रहे हैं। एकाएक सबसे ऊपर टिन लगा रहे दो मजदूर गिर पड़ते हैं। उनके साथ ही उनके नीचे काम कर रहे मजदूर भी गिर पड़ते हैं। "किसी की टांगें टूट गईं, किसी के सिर पर चोट आई। तामाड़ का सारा शरीर मानो टुकड़ों में बंट गया। साँस लेना कठिन हो गया। मानो किसी ने फलों से लदे नाशपाती के पेड़ को जोर-जोर से हिला दिया था- और फल ठपाठप-ठपाठप करके एक के ऊपर एक गिर गए हों"⁹। मजदूर, मोहरी को बुलाने लगे और अस्पताल ले जाने के लिए कहने लगे। उस बारिश की रात में मोहरी के पास कोई साधन नहीं था। उसे कुछ सूझ ही नहीं रहा था। साधन की उपलब्धता और मजदूरों के प्रति सामान्य लोगों के दृष्टिकोण के बारे में लेखिका लिखती हैं, "ऑटो मिलना भी मुश्किल है यहाँ! रात का तो और कहना ही क्या ! ऊपर से मजदूर। कौन अपनी गाड़ी गंदी करे। दिन को समय-समय पर बसें चलती हैं। उनमें भी पढ़े-लिखे लोगों के बीच चलने से अच्छा है पैदल चलो। लोग घृणा से नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं। आखिर सबको अपनी इज्जत प्यारी लगती है। दुत्कार वाला भाव आदमी के मन पर गहरा घाव करता है। उसी की खातिर विश्वविद्यालय की उस पहाड़ी सड़क पर अक्सर उन्हें पैदल चलते हुए देखा जा सकता है। ठेकेदार को जब उनकी जरूरत होती है तो वह उन्हें अपनी गाड़ी से पहुँचाते हैं। काम हो जाने के बाद कहाँ और किस तरह वापस जाएँ, ये सोचना उनका काम नहीं है। इस तरह की आपातकालीन घटनाओं में भी अपना इंतजाम खुद ही करो"¹⁰। लेखिका का यह बयान ही बता देने के लिए पर्याप्त है कि उस बारिश की सर्द रात में उन मजदूरों के साथ क्या हुआ होगा।

मोहरी के पास कोई उपाय नहीं था। अंत में उसने ताज ताकार के पास जाने का निश्चय किया। ताज ताकार के पास एक ऑटो था लेकिन उसका व्यवहार बहुत खराब था। वह शाम से ही दारू पीने लगता था और अपने मन का ही मालिक था। कोई रास्ता न देख मोहरी उसके पास गया। पहले तो वह तैयार नहीं हुआ लेकिन जब मोहरी ने उसकी बहुत तारीफ की तो वह मान गया। बड़ी मुश्किल से उस छोटे से ऑटो में इतने सारे घायल लोग बैठ पाए। 'बैठना' कहना यहाँ गलत क्रिया होगी। जैसे-तैसे बोरियों की मानिंद वे ठुंस गए उस ऑटो में। ऑटो स्टार्ट नहीं हुआ तो कुछ लोगों ने उसे धक्का दिया। किसी तरह वे चल पड़े। विश्वविद्यालय पहाड़ी पर बसा हुआ है और सबसे नजदीकी दोईमुख अस्पताल पहाड़ी के नीचे है। रास्ता बहुत ही खतरनाक तरीके से टेढ़ा-मेढ़ा है। रास्ते में मोड़ पर गाड़ी के तेजी से मुड़ने पर घायल मजदूर चिल्ला पड़े। ताज ताकार ने गुस्से में ऑटो रोक दिया। वह मजदूरों को गाली देने लगा। बड़ी मुश्किल से उसे फिर तैयार किया गया। "दोईमुख सरकारी अस्पताल के गेट पर पहुँचे। ताला लगा हुआ मिला। बहुत पुकारा कोई नहीं निकला। रात के एक-दो बजे इस महान अस्पताल में कहाँ से कोई मिलता! मिल भी जाए तो इतनी गालियाँ पड़ती कि पूछो मत!"¹¹ अब क्या हो...? अब तो 7-8 किलोमीटर दूर नाहरलागुन के सरकारी अस्पताल में जाना पड़ेगा। गाड़ी आगे चल पड़ी। सड़क की स्थिति बहुत बुरी थी लेकिन ताज ताकार के गुस्से के डर से कोई बोल नहीं रहा था। गाड़ी दोईमुख पुलिस स्टेशन के सामने पहुँची कि सड़क पर एक औरत, एक पाँच-छः साल की लड़की के साथ जाती हुई दिखी। उसे देखते ही ताज ताकार ने इतने जोर से ब्रेक मारा कि गाड़ी पलटते-पलटते बची। मजदूरों की कराह निकल गई। ताज ताकार को देखते ही वह औरत दौड़कर पुलिस थाने में घुस गई। वह उस औरत को गालियाँ देते हुए पुलिस थाने में चला गया। वह औरत, ताज ताकार की पत्नी थी जो उसके साथ रहने के लिए तैयार नहीं थी। असल में ताज ताकार दूसरी पत्नी लाना चाहता था लेकिन उसकी पहली पत्नी इसके लिए

तैयार नहीं थी। ताकार उसे छोड़ भी नहीं सकता था क्योंकि उसके पिता ने उसे 'दस मिथुन में खरीदा' था। उसे ऐसे कैसे जाने देता। समाज के लोगों ने स्थानीय नियमों के अनुसार कई बार सुलह कराने का प्रयास किया लेकिन बात बन नहीं पाई। लोग उसकी बीवी को समझाते कि ताकार को दूसरी पत्नी लाने का अधिकार है लेकिन वह मानने को तैयार नहीं थी। जब बात पुलिस वालों को समझ में आई तो उन्होंने अस्थायी हल निकालते हुए ताज ताकार को उस रात के लिए थाने में बंद कर लिया और उस औरत और बच्ची को जाने दिया।

यहाँ बाहर घायलों की हालत बिगड़ती जा रही थी। जब ताज ताकार बहुत देर तक नहीं आया तो उन्होंने किसी और उपाय के बारे में सोचा। घायलों में से एक राजू क्षेत्री को ऑटो चलाना आता था। 'वह पहले असम में ऑटो चलाया करता था। मजबूरी के चलते ऑटो बिक गया और काम की तलाश में वह अरुणाचल आ गया'। उसने कोशिश की लेकिन ऑटो स्टार्ट नहीं हुआ। फिर से घायलों ने जैसे-तैसे धक्का देकर उसे स्टार्ट कराया। वे चल पड़े। नाहरलागुन पहुँचने से पहले एक पुल है। वहाँ ऑटो फिर से बंद हो गया। इस बार धक्का मारने से भी वह स्टार्ट नहीं हुआ। उसका तेल खत्म हो गया था। उसके बाद क्या हुआ, यह रचनाकार के शब्दों में ही देखा जाय, "सुबह के पाँच बज चुके थे। आसमान भी पूरी तरह साफ हो चुका था। लोग सैर को निकलने लगे थे। जमीन अब भी भीगी हुई थी। जगह-जगह पानी दिख रहा था। लोगों ने देखा- सड़क के एक तरफ एक ऑटो औंधे मुँह पड़ा हुआ है। दूसरे तरफ सात लोग आराम से हाथ-पाँव फैलाकर हैंड्स अप की मुद्रा में लेटे हुए हैं। लगता था बरसों से शरीर को अपने हिसाब से फैलाकर लेटने का मौका उन्हें नहीं मिला था! सैर को निकले लोग हँसते-हँसते लोटपोट हो रहे थे, लेकिन वे दयालु थे। पता-वता करने के बाद ठेकेदार को फोन लगाया गया। और इस तरह सुबह हो गई.....!"¹²

यह कहानी अरुणाचल प्रदेश में मजदूरों की दुर्दशा को दर्शाती है। केवल बरसात की उस रात की ही बात नहीं है। यह कहानी रोजमर्रा के जीवन में मजदूरों के साथ क्या व्यवहार होता है, इसको भी चिह्नित करती है। यह उस सामाजिक असुरक्षा की भयावहता को हमारे सामने एक अनुत्तरित प्रश्न की तरह रखती है जिसकी शिकार 'चम्पा' भी हुई है। ये मजदूर जीवन से पराजित लोग हैं या यूँ कहें कि व्यवस्था और लाचारी ने उन्हें एक पराजित जीवन जीने के लिए अभिशप्त कर दिया है। "आदमी पेट को लेकर जन्मता है। इसी ने प्रेम का भी गला घोंटा है। इसी ने आदमी को कहीं का नहीं छोड़ा"¹³। कालू के माध्यम से लेखिका द्वारा कही गई यह बात इस विकराल समस्या का सरलीकरण कर देती है। उस बरसात की रात या उसके जैसी अनेक रातों और दिन के उजालों में मजदूरों के साथ जो हो रहा है, वह केवल पेट का सवाल नहीं है। पेट और भूख तो पूरे जीव-जगत में व्याप्त है। जीव-जगत स्वाभाविक तरीकों से इस भूख से लड़ता है और पेट का निर्वाह करता है। मनुष्यों की सभ्यता ने इसमें मजबूरी जोड़ दी है। मजबूरी इसलिए क्योंकि मनुष्यों की सभ्यता, केवल पेट का निर्वाह करने और भूख से लड़ने की व्यवस्था नहीं बनाती है बल्कि वह कुछ लोगों की अतिशय भूख का शिकार हो गई है। इस अतिशय भूख को मिटाने के लिए ताकतवर लोग दूसरों को भूखा रखते हैं। यही बात जीवन के सभी दूसरे पक्षों पर लागू होती है। कुछ लोगों की कभी न पूरा होने वाली इच्छाओं के लिए, ज्यादा लोगों को तकलीफ में रखना हमारी मानवी-सभ्यता की सबसे भीषण 'उपलब्धि' है। यही कारण है कि उस रात की त्रासदी एक रात की त्रासदी नहीं है बल्कि वह हर रोज, हर कहीं, किसी न किसी रूप में घटित होने वाली त्रासदी है।

यालम की ये कहानियाँ न्याय और अन्याय के सार्वभौमिक प्रश्न को बहुत ही संवेदनशीलता लेकिन उतनी ही प्रखरता के साथ हमारे सामने रखती हैं। यह प्रश्न दुनिया की सारे समाजों, सभ्यताओं, संस्कृतियों का मूलभूत प्रश्न रहा है लेकिन इसी प्रश्न की सबसे अधिक अवहेलना की गई है। कभी तमाम पदों का निर्माण करके इसे

ढंकने का प्रयास किया गया है तो कभी इसे मिटाने के लिए खून बहाया गया है। लेकिन सदियों से यह प्रश्न अभी भी हमारी सभ्यताओं, समाजों और संस्कृतियों के सामने वैसे ही निपट असहाय सा खड़ा है और अब भी हम या तो इससे मुंह चुराने की कोशिश करते हैं या फिर उसे अनैतिक और गैर-वाजिब साबित करने पर तुले रहते हैं। यह भी मानव-सभ्यता और संस्कृति की विडम्बना ही है कि उसे जिन आधारों पर खड़ा होना था उसने उन्हीं आधारों को सदैव दरकिनार किया। ये कहानियाँ समाज के उपेक्षित वर्गों के जीवन की कथा के माध्यम से इस शाश्वत प्रश्न से मुठभेड़ करती हैं।

इस कहानी-संग्रह की कहानियों के कथा-विन्यास में जो कमियाँ हैं उन्हीं के साथ इसकी विशिष्टताएं भी गुथी हुई हैं। इन दोनों को अलग करके समझने की हम कोशिश करेंगे लेकिन इनको ठीक-ठीक अलग करके देखना इन कहानियों की न्यायोचित साहित्यिक आलोचना नहीं होगी। ऐसे में इन कहानियों के पहले पाठक¹⁴ प्रोफेसर देवराज का यह कथन हमें इन कहानियों को समझने के लिए एक रास्ता सुझाता है। वे लिखते हैं कि “बाह्य संरचना की दृष्टि से मैंने पाया कि ये (कहानियाँ) बतकही के काफी करीब हैं। रचना के ढाँचे के बारे में कोई खास सावधानी दिखाई नहीं देती- ऐसी तो बिल्कुल नहीं, जो किसी लेखक को आशंका से भरे रखती है कि कहीं कोई उसकी कलात्मकता में कोई कमजोरी न खोज ले। यालाम को इसकी चिंता नहीं है”¹⁵। हमने पहले ही यह स्पष्ट किया है कि लेखिका जिस जनजातीय समाज से ताल्लुक रखती हैं, उसमें लोक-साहित्य की वाचिक परंपरा बहुत समृद्ध है। इन कहानियों के शिल्प के मामले यही बात आधारभूत तत्व की तरह काम करती है। ये किसी लोक-कथा की मानिंद ही लगती हैं। ये साधारण बातचीत और वर्णन के माध्यम से कथावस्तु को प्रस्तुत करती हैं।

इस कहानी-संग्रह की कोई भी कहानी, संवाद-शैली में नहीं कही गई है। सामान्य तौर पर संवाद कम ही हैं और जहाँ हैं भी तो बहुत छोटे हैं। हालांकि यह भी सच है कि जब कोई संवाद आया है तो वह बहुत प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत हुआ है। उदाहरण के लिए ‘चुनौती’ कहानी में बंदरों का अहंकार और क्रोध दिखाने वाला यह संवाद छोटा होने के बावजूद अपनी प्रभावोत्पादकता में कम नहीं है, “हमारे नाखून के बराबर भी नहीं और हमें ही ललकार रहा है? यह तो हद्द है”¹⁶। ऐसा ही एक संवादात्मक वाक्य यासो कहती है। ताना तामिन के लिए वह कहती है कि, “मैंने आपका वरण किया था, आपने मेरा नहीं”¹⁷। यासो का यह एक वाक्य ही उसके जीवन के सार को समझा देता है। उसने किसी के सहारे से नहीं बल्कि अपनी मेहनत से बनाया था अपना जीवन। ‘साक्षी है पीपल’ कहानी में संवादों का प्रयोग अधिक हुआ है। इस संग्रह की कहानियों में संवादों का प्रयोग कम होने का कारण यह है कि ये कहानियाँ वर्णनात्मक शैली में लिखी गई हैं। लेखिका एक किस्सागो की तरह इनका वर्णन करती है। ये ऐसी शैली में लिखी गई हैं जैसे कि इन्हें पाठकों को पढ़ने के लिए नहीं लिखा गया है, बल्कि इन्हें श्रोताओं को सुनाया जा रहा हो। पात्रों की बजाय रचनाकार ही स्थितियों का बयान करती है। ऐसे में कहीं-कहीं यह वर्णन बहुत ही रोचक हो उठा है। उदाहरण के लिए ‘चुनौती’ कहानी में यह वर्णन अपने सर्वोत्तम रूप में सामने आता है लेकिन ‘नदी’ कहानी में यह अपना ताप खोता हुआ लगता है।

कुछ कहानियों में घटनाएँ इतनी तेजी से घटती हैं कि वे बहुत बार रोचकता में व्यवधान पैदा कर देती हैं। ‘क्या सच में वे कभी मिले भी थे!’ कहानी में घटनाएँ इतनी तेजी से घटती हैं कि पाठक के पास पात्रों की मनःस्थिति समझने का भी अवकाश नहीं मिल पाता है। ऐसे में कहानी की मार्मिकता प्रभावित होती है। इसकी बजाय घटना बहुलता के बावजूद ‘मैं यामी हूँ’ कहानी ज्यादा प्रभाव छोड़ती है। एक घटना से दूसरी घटना के बीच में केवल निरंतरता ही आवश्यक नहीं होती है बल्कि उनमें एक तारतम्यता भी होनी चाहिए। कहने का

अर्थ यह है कि पाठक के पास एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने का अवकाश होना चाहिए।

इन कहानियों के पात्र बेहद साधारण लोग हैं। साधारण इस अर्थ में कि ये कहानियाँ असामान्य जीवन की कथा बयान नहीं करती हैं बल्कि ये उन लोगों की कहानी कहती हैं जिन्हें समाज में अलग से लक्षित नहीं किया जा सकता है या लक्षित नहीं किया जाता है। मुख्य पात्रों के अतिरिक्त जो अन्य पात्र हैं, उनके जीवन को देखने से यह बात और भी ज्यादा स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए ‘यासो’ कहानी में यासो की बचपन की दोस्त ‘याबा’ की कथा को देखा जा सकता है। याबा किसी और से प्यार करती थी लेकिन चूँकि वह परंपरा के तहत सामान लेकर किसी और के साथ बांधी जा चुकी थी इसीलिए उसके अपने माता-पिता ने ही उसके साथ जबर्दस्ती करके उस लड़के से उसे ब्याह दिया जिसके परिवार से वादा किया गया था तथा सामान आदि लिया गया था। ऐसे ही ‘क्या सच में वे कभी मिले भी थे!’ कहानी में मुख्य पात्र आमिन की सबसे छोटी सास जिसके कारण आमिन का जीवन बर्बाद हो जाता है, वह भी परिस्थितियों की मारी हुई है।

‘चुनौती’ कहानी की कथा-शैली बहुत ही रोचक है। हम सब जानते हैं कि हर समुदाय के लोक-साहित्य की परंपरा में रूपक कथाओं का खूब प्रचलन रहा है। इन लोक-कथाओं में मनुष्य समाज, इस विशाल जीव-जगत से एकाकार हो जाता है। दोनों की अपनी-अपनी विशिष्टता के बावजूद कई भेद खत्म हो जाते हैं। लोक-कथाओं की इस शैली का कहानीकारों ने भी खूब प्रयोग किया है। हितोपदेश, पंचतंत्र और जातक कथाओं में इनका जमकर प्रयोग किया गया है। पशु-पक्षियों की दुनिया के माध्यम से मनुष्यों की दुनिया को समझने-समझाने का काम किया गया है। यह कहानी भी इसी शैली में रची गई है। यह शैली इस कहानी को बहुत रोचक बना देती है और श्लाघ्य भी।

इन कहानियों की कथावस्तु की एक विशेषता यह है कि इनमें कथा का तत्व या कथा-रस मौजूद है। ये किसी पात्र के मनोगत भावों के आधार पर नहीं लिखी गई हैं। पात्र के जीवन में जो कुछ घटित होता है, उसके मनोभावों का अभिन्न संबंध होता है। घटने और सोचने या स्थिति और भाव का एक सही ताल-मेल हमें इन कहानियों में दिखाई देता है।

इस संग्रह की कुछ कहानियाँ स्मृति-कथा के रूप में लिखी गई हैं। कथा वर्तमान में शुरू होती है और किसी घटना को आधार बनाकर फ्लैश-बैक में चली जाती है। यह कहानी लिखने की एक प्रसिद्ध शैली रही है। रचनाकार जब भूतकाल में घटी किसी घटना को ही आधार बनाकर कहानी लिखता है तो प्रायः यह शैली अनायास ही प्रकट हो जाती है। ‘मैं यामी हूँ’ कहानी बहुत ही सुंदर तरीके से इस शैली में प्रस्तुत की गई है। ऐसे ही ‘कामेश्वर बरुआ हालुआ बन गया’ कहानी में भी रचनाकार ने इस फ्लैश-बैक शैली का बहुत सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

इन कहानियों में लेखिका की स्थितियों का वर्णन करने की कला निःसन्देह ही प्रशंसनीय है। चाहे वह ‘साक्षी है पीपल’ में उजड़े हुए गाँव का वर्णन हो या फिर ‘नदी’ कहानी में नदी और उसके स्वभाव का वर्णन, लेखिका ने बहुत ही गहरे अंतर्निहित भावों के साथ उनका वर्णन किया है। ‘क्या सच में वे कभी मिले भी थे!’ कहानी में जब आमिन बहुत तकलीफ सहते हुए आओ बाबू से मिलने आलो पहुँचती है और वहाँ आओ बाबू के साथ किसी और स्त्री को देखती है तो उसकी जो दशा होती है, उसका बहुत ही मार्मिक चित्रण लेखिका ने किया है। “आमिन पूरी तरह से भाषा ही भूल गई। वह बिल्कुल मूक बन गई। उसकी आँखों में ऐसी बेबसी बाबूजी ने कभी नहीं देखी थी। बिना कुछ कहे ही वह स्थिति, वह समय बहुत सी कहानियाँ लिख गईं। सबके होंठ सिल गए थे।.... आमिन अपने शरीर को पूरा ढीला करती हुई वहीं बरामदे में बैठ गई। बाबूजी सर पकड़े वहीं पर बैठा था। आमिन की आँखों में बिल्कुल आँसू नहीं थे।..... आमिन के चेहरे पर कोई प्रतिक्रिया नहीं

थी। बाबू अंदर कपड़े बदलने चला गया। आमिन अचानक उठी और काताम को लगभग खींचती हुई बस स्टेशन की तरफ दौड़ी। जीरो जाने वाली अंतिम बस चलने के लिए तैयार थी”¹⁸। यह संवाद जैसे एक युग को घटित होते हुए दिखाता है। एक स्त्री, नाउम्मीद सी उम्मीदी में जीवन को जीना चाहती थी लेकिन वह भी हो न सका। उसका टूटना एक जीवन के भीतर घटे अनेक जीवनो का टूटना है।

भाषा और रूपकों के मामले में भी लेखिका नए प्रयोग करती है। वह कई रूपक या उपमाएँ अपने समाज के जन-जीवन से लेती है। उदाहरण के लिए वह रूढ़ियों से चिपके लोगों की तुलना छिपकली से करती है और कहती है कि जैसे छिपकलियां बहुत देर तक दीवार पर चिपकी रहती हैं और अपने पेट की गंदगी बाहर गिराती हैं, वैसे ही रूढ़ियों से चिपके लोग भी करते हैं। इस संग्रह की कहानियाँ अपनी अंतःवस्तु से लेकर शिल्प तक अरुणाचल प्रदेश के हिन्दी लेखन में एक पैमाना तय करती हैं।

संदर्भ:

1. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, ‘क्या कहेंगे लोग!’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 132-133.
2. बिहू, असम का प्रसिद्ध त्योहार है। यह साल में तीन बार मनाया जाता है। रोंगाली बिहू या बोहाग बिहू अप्रैल में मनाया जाता है। यही सबसे महत्वपूर्ण है जो वसंत का उत्सव होता है। कोंगाली या काती बिहू अक्तूबर में मनाया जाता है। यह उस वक्त को दिखाता है जब अनाज की आपूर्ति कम होती है। भोगाली बिहू या माघ बिहू जनवरी में मनाया जाता है। यह फसलों और खेती के उत्सव के रूप में मनाया जाता है। असम में रहने वाला लगभग हर समुदाय इन्हें मनाता है।
3. खेतों में काम करने वाला नौकर। हलवाहा। कामेश्वर एक बंधुआ हलवाहा बन गया जो जब तक कर्ज का पैसा चुका नहीं देता, तब तक उसे अपने मालिक के खेतों में काम करना ही पड़ेगा।
4. साक्षी है पीपल- जोराम यालाम नाबाम, ‘कामेश्वर बरुआ हालुआ बन गया’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 105.
5. प्रियंका दुबे की यह रिपोर्ट यहाँ देखें, <http://old.tehelka.com/the-missing-girls-of-lakhimpur>- यह रिपोर्ट तहलका के सितंबर 2013 के अंक में प्रकाशित हुई थी।
6. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, ‘कामेश्वर बरुआ हालुआ बन गया’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 109.
7. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, ‘कामेश्वर बरुआ हालुआ बन गया’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 109.
8. 15-20 मजदूरों के समूह का मुखिया। मुख्य ठेकेदार हर काम के लिए ऐसे ही मोहरी को जिम्मा दे देते हैं। ऐसे में ठेकेदारों को कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती है। मोहरी ही काम के लिए जिम्मेदार होता है।
9. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, ‘वह बरसात की एक रात’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 111.
10. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, ‘वह बरसात की एक रात’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 112.
11. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, ‘वह बरसात की एक रात’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 115.
12. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, ‘वह बरसात की एक रात’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 117.
13. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, ‘वह बरसात की एक रात’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ.

111.

14. वे लिखते हैं, “उसी के सहारे मैं यालाम जैसी हिन्दी की एक नवोदित कहानीकार से परिचित हो सका। दूसरे किसी की भी बारी मेरे बाद ही आएगी”। साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, भूमिका, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, पृ. 10.
15. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, भूमिका, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 10.
16. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, ‘चुनौती’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 59.
17. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, ‘यासो’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 53.
18. साक्षी है पीपल, जोराम यालाम नाबाम, ‘क्या सच में वे कभी मिले भी थे!’ कहानी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 78-79.



साहित्य, इतिहास और अस्मितामूलक विमर्श

○ पीयूष राज*

संक्षिप्ति :

पिछले कुछ वर्षों से ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में अस्मितावादी दृष्टि का प्रभाव देखा जा रहा है। खासकर साहित्य, इतिहास और राजनीति में इस दृष्टि का दखल बढ़ा है। अस्मितावादी दृष्टि न सिर्फ परंपरागत साहित्येतिहास के पुनर्मूल्यांकन की माँग कर रही है बल्कि साहित्येतिहास लेखन में लोक-साहित्य की परंपरा को भी समाहित करने की माँग कर रही है। इसका मूल कारण यह है कि उपेक्षित अस्मिताओं के इतिहास या साहित्येतिहास की परंपरा मुख्यधारा के इतिहास की तरह अविरल या अटूट नहीं है। दूसरा कारण है लिखित परंपरा का अभाव। इसी कारण स्मृतियों का अस्मितावादी इतिहास लेखन या साहित्येतिहास लेखन में बहुत महत्व है। हिंदी साहित्य का अभी तक जो भी इतिहास लिखा गया है, उसे अस्मिता-विमर्शकार खारिज करते हैं या अपूर्ण बताते हैं। इसका कारण यह है कि जो भी उपेक्षित अस्मिताएँ हैं; जैसे- दलित, आदिवासी, स्त्री इत्यादि। उन्हें हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में वह स्थान नहीं मिला है, जिनकी वे हकदार थीं। यहाँ तक कि उनके मूल्यांकन में भी उपेक्षा का भाव विद्यमान है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखे गए 'हिंदी साहित्य का इतिहास' इसका उदाहरण है, जिसमें कबीर, रैदास, मीराँ इत्यादि रचनाकारों के मूल्यांकन में उनके पूर्वाग्रह स्पष्ट नजर आते हैं। डॉ. धर्मवीर जैसे दलित आलोचक तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के कबीर संबंधी मूल्यांकन से भी असहमत हैं। इसी तरह सुमन राजे ने हिंदी साहित्य में स्त्रियों के योगदान को रेखांकित करने के लिए 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' लिखा।

बीज शब्द : अस्मिता, साहित्येतिहास लेखन, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, स्त्री विमर्श।

अस्मिता की अवधारणा एक व्यापक अवधारणा है। हिंदी शब्दकोशों के अनुसार 'अस्मिता' का अर्थ आत्मश्लाघा, अहंकार, मोह, अपनी सत्ता का भाव, आपा इत्यादि है। 'अस्मिता' का सीधा संबंध पहचान है। इस पहचान के कई रूप हो सकते हैं। इसमें राष्ट्र, जाति, नाम, क्षेत्र, धर्म, वंश, लिंग, वर्ग, व्यवसाय आदि शामिल होते हैं। यानी 'अस्मिता' व्यक्तिगत भी हो सकती है और सामूहिक भी। हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार राजेंद्र यादव 'अस्मिता' के बारे में कहते हैं- "अस्मिता' जितनी मेरी है, उतनी ही मेरे परिवेश और परंपरा की भी। उसमें

☆ सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, मॉडल कॉलेज दुमका, विजयपुर, सिदो-कान्हु मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका।
email: piyushraj2007@gmail.com, mob: 9868030533

वर्ग, वर्ण, क्षेत्र, धर्म लिंग, परंपराएँ सभी कुछ घुसे और घुले-मिले हुए हैं।” वे ‘अस्मिता’ को एक मानसिक संरचना के रूप में व्याख्यित करते हुए कहते हैं, “अस्मिता अपनी निजी पहचान के साथ-साथ उस क्षेत्र और समाज के पहचान की भी है जो हमारे संदर्भ तय करते हैं। ये संदर्भ जाति, रंग, वर्ग, नस्ल, क्षेत्र, भाषा, जेंडर, पेशे इत्यादि के रूप में हमारे अंतरंग (साइकी) के हिस्से हैं।”²

अस्मिता-बोध की तभी आवश्यकता पड़ती है, जब हमारी पहचान पर खतरा हो। तात्पर्य यह कि अगर किसी व्यक्ति या समुदाय के जाति, धर्म, कुल, वंश, राष्ट्र, भाषा, लिंग आदि पहचानों को मिटाने या हीन साबित करने की कोशिश की जाती है तो वह अमुक व्यक्ति या समुदाय इन पहचानों को बचाने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा आंदोलन, साहित्य, विचारधारा, कला, इतिहास-लेखन आदि अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। ‘अस्मिता’ के इस स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए अभय कुमार दुबे लिखते हैं, “यह (अस्मिता) एक ऐसा दायरा है जिसके तहत व्यक्ति और समुदाय यह बताते हैं कि वे खुद को क्या समझते हैं। ‘अस्मिता’ का यह दायरा अपने-आप में एक बौद्धिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक संरचना का रूप ले लेता है जिसकी रक्षा करने के लिए व्यक्ति और समुदाय किसी भी सीमा तक जा सकते हैं।”³ इस उक्ति की अंतिम पंक्ति गौरतलब है - ‘जिसकी रक्षा करने के लिए व्यक्ति और समुदाय किसी भी सीमा तक जा सकते हैं’; अर्थात् ‘अस्मिता’ की रक्षा करने के लिए व्यक्ति और समुदाय आक्रामक रुख भी अपना सकते हैं। यही कारण है कि अस्मितामूलक-विमर्श का एक गुण इसकी आक्रामक प्रवृत्ति भी है। यहाँ आक्रामकता नकारात्मक अर्थ में नहीं है, यह आक्रामकता किसी के विध्वंस के लिए नहीं बल्कि अपनी ‘अस्मिता’ (व्यक्तिगत या सामुदायिक) की रक्षा के लिए है। ‘अस्मिता’ प्राप्ति के संघर्ष की शुरुआत व्यक्तिगत या सामुदायिक तौर पर अपने वंचित, पीड़ित और प्रताड़ित होने के अहसास से ही होती है। इसमें अपनी पहचान प्राप्त करना ही सबसे बड़ा उद्देश्य हो जाता है। अधिकारों से वंचित वह (व्यक्ति या समुदाय) समाज के द्वारा किए गए अन्याय और सदियों से होते आ रहे शोषण के खिलाफ खड़ा हो जाता है। ‘अस्मिता’ प्राप्ति के लिए किए गए संघर्ष या प्रयास व्यक्ति और समुदाय को जागरूक बनाते हैं और यह जागरूकता उन्हें दिशाहीन होने से बचाती है।

यह जागरूकता बिना इतिहास-बोध के असंभव है। अर्थात् इतिहास-बोध अस्मिता-बोध की प्राथमिक शर्त है। उपेक्षित अस्मिताओं के लिए इतिहास-लेखन का महत्त्व सबसे अधिक होता है। अस्मितामूलक इतिहास लेखन का लक्ष्य होता है- अपनी अस्मिताओं के मानव समाज की प्रगति में अपने महत्त्व को स्थापित करना। उपेक्षित समुदाय अपना सामुदायिक इतिहास लिखकर अपने लोगों के मध्य अस्मिता बोध को जागृत करते हैं। इस तरह के इतिहास लेखन का उद्देश्य उपेक्षित जातियों एवं समुदायों के इतिहास को खोजकर एवं रचकर उनके मध्य आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास पैदा करना होता है। इसे वैकल्पिक इतिहास या प्रति इतिहास भी कहा जाता है। उपेक्षित समुदाय अपने इतिहास के माध्यम से अपने समुदाय एवं मुख्यधारा के समाज को यह बताता है कि मानव समाज के प्रगति में उसका भी उतना ही अंश या योगदान है, जितना मुख्यधारा के इतिहास लेखन में स्थापित किसी राजा या महापुरुष का। दलित, अश्वेत, स्त्री, आदिवासी और इस तरह की अन्य उपेक्षित अस्मिताएँ अपने वर्ग के नायक/नायिकाओं का जीवन चरित या उनका इतिहास लिखते हैं। ऐसा वे इसलिए करते हैं ताकि संबंधित समुदाय के अन्य लोग इन महान लोगों से प्रेरणा ग्रहण कर वर्तमान समय में अपनी बेहतरी के लिए संघर्ष कर सकें।

उपेक्षित अस्मिताओं के इस तरह का इतिहास लेखन सिर्फ सामाजिक इतिहास लेखन तक ही सीमित नहीं होता बल्कि साहित्येतिहास लेखन में भी ये उपेक्षित समुदाय वैकल्पिक इतिहास या प्रति इतिहास की रचना की माँग कर रहे हैं। उदाहरणस्वरूप हिंदी साहित्य में अस्मितावादी विमर्शकारों द्वारा बार-बार इस तरह की माँग हो

रही है। दलित विमर्शकारों ने सिद्ध साहित्य, संत साहित्य आदि से जुड़े रचनाकारों का पुनर्मूल्यांकन दलित विमर्श के दृष्टिकोण से किया है तो सुमन राजे ने हिंदी साहित्य में महिला रचनाकारों के महत्व को स्थापित करने के लिए 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' लिखा है।

स्मृति का संबंध श्रुति परंपरा से होता है जो लोकगीत, लोककथा, श्रमगीत, लोकोक्ति, संस्कार गीत, कहावत, लोकोक्ति आदि के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होते रहता है। वैसे वेद, पुराण, रामायण, महाभारत जैसे धार्मिक ग्रंथ भी अपने वर्तमान रूप को धारण करने से पहले श्रुति परंपरा के ही अंग रहे हैं। इस तरह की श्रुति परंपरा का अस्तित्व प्राचीन एवं मध्यकाल तक विद्यमान रहा है। आज भी किसी भी समाज में इतिहास के साथ-साथ उनके अपने श्रुति परंपरा का अस्तित्व है। यह श्रुति परंपरा उस समाज के इतिहास का भी अंग है। समय के साथ भले ही उसमें कल्पना का समावेश हो गया हो गया है लेकिन किसी भी संस्कृति के लोकगीत, लोककथाएँ, लोकविश्वास आदि उसके इतिहास का ही अंग होते हैं। समय के प्रवाह में जो विजित हुए उन्होंने अपना इतिहास लिखा परंतु इसके साथ-साथ हाशिए पर चले गए उपेक्षित समुदायों ने अपने सुख-दुःख के इतिहास को श्रुति परंपरा के माध्यम से सुरक्षित रखा। लोककथाओं एवं लोकगीतों के संदर्भ किसी उपेक्षित समुदाय के इतिहास को समझने में मदद तो करते ही हैं, साथ ही साथ मौसम, कृषि, शिकार, प्रकृति, संस्कृति, जीवन-शैली इत्यादि के प्रति उनके ज्ञान को द्योतित करते हैं। प्रसिद्ध आदिवासी विचारक ए.के. पंकज लिखते हैं- 'इतिहास को बेजुबान-निष्प्राण जीवाश्मों और पुरातात्विक भग्नावशेषों में नहीं बल्कि जीवित लोगों की स्मृतियों और गीतों-कहानियों में ढूँढा जाना चाहिए।'⁴ यह कथन सिर्फ इतिहास ही नहीं बल्कि उपेक्षित समुदायों के संपूर्ण ज्ञान परंपरा पर भी लागू होता है। उपेक्षित समुदायों और उपेक्षित राष्ट्रों के इतिहास को तथाकथित मुख्यधारा ने मिटाने या बदनाम करने की कोशिश की लेकिन हाशिए के समुदायों ने अपनी लोक-परंपरा में अपने इतिहास को अक्षुण्ण रखा। अतः उपेक्षित समुदायों के इतिहास लेखन में इन स्मृतियों का बहुत बड़ा महत्व है। उपेक्षित समुदायों के इतिहास लेखन में जहाँ ऐतिहासिक तथ्य चूक जाते हैं, वहाँ मिथक ज्यादा संदर्भवान हो जाते हैं।

भारतीय संदर्भ में अगर देखें तो सन् 1960 के बाद रचे गए जातीय इतिहासों में निम्न जातियों के गौरवपूर्ण इतिहास लेखन में ब्राह्मणीय मिथकों, प्रतीकों एवं परंपराओं के साथ-साथ उनकी अपनी लोक-स्मृतियों से उपजे लोक-इतिहास का समावेश मिलता है। यह लोक-इतिहास इन उपेक्षित जातियों के अस्मिता को ज्यादा ताकत प्रदान करता है। आदिवासी विमर्शकार तो अपने लोक-साहित्य को 'पुरखा साहित्य' कहने पर बल देते हैं क्योंकि उनका मानना है कि लोक और शास्त्र का विभाजन गैर-आदिवासी समाज में हैं, उनके यहाँ इस तरह का विभाजन नहीं है- "दुनिया के तमाम समाजों में लिखित से पहले मौखिक साहित्य की परंपरा रही है। उससे अलगाने के लिए आदिवासी चिंतक आदिवासी मौखिक परंपरा को पुरखा साहित्य कहते हैं। इस प्रक्रिया में वे इसे लोक साहित्य से भी अलग बताते हैं। इस संदर्भ में आदिवासी चिंतक वंदना टेटे लिखती हैं कि चूँकि आदिवासी समाज में बाहरी समाज की तरह लोक और शास्त्र का भेद नहीं है, इसलिए साहित्य को भी नहीं बाँटा जा सकता। चूँकि आदिवासी समाज और संस्कृति में पुरखों का बहुत महत्व है और मौखिक परंपरा में मिलने वाले गीत, कथाएँ आदि भी पुरखों ने ही रची हैं, इसलिए इस मौखिक परंपरा को सम्मिलित रूप में पुरखा साहित्य कहना चाहिए।"⁵

आदिवासी एवं दलित इतिहास लेखन में इन स्मृतियों और पौराणिक मिथकों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण है। एकलव्य, शंबूक, राजा बलि, कर्ण जैसे पौराणिक पात्रों से जुड़ी कथाओं के पुनर्पाठ माध्यम से ये उपेक्षित अस्मिताएँ राष्ट्र एवं समाज-निर्माण में दी गई अपनी कुर्बानियों को दिखाते हैं। साथ ही इस तरह के पुनर्पाठ का

उद्देश्य अतीत में अपनी उच्च स्थिति का होना और इस उच्च स्थिति से ब्राह्मणवादी षड्यंत्रों के कारण अपदस्थ हो जाने एवं पीछे रह जाने की पीड़ा का वर्णन करना भी होता है। कई बार इस तरह की व्याख्याओं पर मुख्यधारा के समाज द्वारा तीखी प्रतिक्रिया भी देखने को मिलती है।

उपेक्षित समुदायों के साथ-साथ उपेक्षित राष्ट्रों ने भी अपने इतिहास लेखन में स्मृति को बहुत महत्व दिया है। हिंदी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखें तो अज्ञेय और निर्मल वर्मा भारतीय देशकाल के बोध के लिए स्मृति-बोध को अनिवार्य मानते हैं। दोनों स्मृति को एक शाश्वत तत्त्व मानते हैं। “निर्मल वर्मा इतिहास को स्मृति या परंपरा का विलोम मानते हैं। स्मृति या परंपरा एक शाश्वत वर्तमानता है, जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य का विभाजन नहीं रहता। अतीत में वर्तमान जीवित रहता है, व्यतीत नहीं होता। ठीक उसी तरह भविष्य भी वर्तमानता से अलग कोई सत्ता नहीं रखता। समय की यह अखंडता या संपूर्णता स्मृति से पैदा होती है।”⁶ इसी तरह अज्ञेय भी कहते हैं- ‘स्मृति ही वह गतिशील सजर्नात्मक तत्त्व है, जो काल, इतिहास, साहित्य और भाषा के नये परिदृश्य रचती चलती है।’⁷

अज्ञेय और निर्मल वर्मा भारतीय राष्ट्र की देशज अस्मिता की खोज यहाँ की स्मृति-परंपरा के माध्यम से करते हैं। भारतीय स्मृति परंपरा पर जोर देकर वे पाश्चात्य इतिहास-दृष्टि को ही खारिज कर देते हैं। अज्ञेय और निर्मल वर्मा की स्मृति एवं इतिहास संबंधी अवधारणा को एक उपेक्षित राष्ट्र को उपनिवेशकों की दृष्टि से मुक्त करने के प्रयास के रूप में देखा जा सकता है।

निष्कर्ष

अस्मिताओं का इतिहास एवं स्मृति से संबंध बीज और वृक्ष की तरह है। अस्मिताओं का फलना-फूलना उनके इतिहास पर आश्रित होता है। इस वैकल्पिक इतिहास के माध्यम से ही अस्मिताएँ अपने साथ अतीत में हुए अत्याचारों, षड्यंत्रों, शोषण एवं पीड़ा की कहानी अभिव्यक्त करती हैं और वर्तमान समाज में अपनी समुचित हिस्सेदारी की माँग करती हैं। जहाँ इन अस्मिताओं का इतिहास चूक जाता है, वहाँ स्मृतियाँ इनके इतिहास को पूरा करती हैं। बिना इतिहास-बोध के अस्मिता-बोध का निर्माण असंभव है।

संदर्भ:

1. हंस, जून 2009, पृ. 09
2. वही, पृ. 09
3. भारत का भूमंडलीकरण, संपादक : अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 455
4. अश्विनी कुमार पंकज, भारत का वाचिक आदिवासी इतिहास : महापाषाणकाल, प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन, राँची, पहला संस्करण : 2022, पृ. 09
5. मीणा, गंगा सहाय, आदिवासी चिंतन की भूमिका, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पुनर्मुद्रण : 2019, पृ. 46-47
6. प्रणय कृष्ण, विमर्श और आलोचना, स्पोर्ट्स क्रिएटिव सर्विसेज, इलाहाबाद, संशोधित संस्करण : 2014, पृ. 80
7. वही।



हिंदी रंगमंच और स्त्री

○ पूजा कुमारी*

संक्षिप्ति :

रंगमंचीय जीवन दुख-सुख के बीच घटित क्षणिक घटनाओं का पुनः सृजन है। जीवन के हर एक क्षण का जीवंत चित्र खींचना तथा मनोरंजन के साथ अन्य प्रयोजन जैसे सामाजिक चेतना को सजगता प्रदान करना, राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करना इत्यादि रंगमंच का मुख्य कार्य है। रंगमंच भावों का साधारणीकरण कर, दर्शकगण के भावों का विरेचन करता है। कई बार भावों का विरेचन प्रेक्षकों के मानस पटल पर भिन्न-भिन्न स्तर से कार्य करता है। रंगमंच पर रंगों (मानव क्रियाकलाप) की अभिव्यक्ति प्रेक्षकों को कल्पनाओं के संसार में ले जाता है। परंतु कई बार रंगों की प्रस्तुति, समान दृश्य से प्रेक्षक मन अलग-अलग भावों से निष्प्राणित होते हैं। जैसे एक ही रस के अलग-अलग स्थाई भाव का उत्पन्न होना। यह मानव मन के भीतर छिपे भावों के कारण होता है। उदाहरण शृंगार रस से प्रेम में पड़े युवक की मनःस्थिति में प्रेम ही महसूस होगा। परंतु विरक्त युवक का मन दुख शोक ही महसूस करेगा। रंगमंच मानव मन के आंतरिक स्थिति का पदार्पण करता है। यहाँ मानव प्रत्येक भावों को आत्मसात कर, जीवन को फिर से जीने की कोशिश करता है। परंतु रंगमंच अनंत या सीमाहीन नहीं है। इसकी एक भौगोलिक परिपाटी निश्चित की है। नाट्यशास्त्र में रंगकर्म और दर्शकों की सुविधा का ध्यान रखते हुए भरत मुनि ने प्रेक्षागृहों का आकार और प्रकार तय किए हैं। रंगमंच के आकार और प्रकार का सूक्ष्म विवेचन नाट्यशास्त्र के दूसरे अध्याय में वर्णित है। भरत मुनि ने रंगमंच को तीन प्रकार में बांटते हैं - जेष्ठ, माध्यम, कनिष्ठ। आकारानुरूप - विकृष्ट चतुरस्र और त्रस्त। जिसमें से सर्वमान्य या उत्तम कोटि का रंगमंच 'विकृष्ट माध्यम' को माना गया है।

बीज शब्द : रंगमंच, स्त्री अस्मिता, प्रेक्षक, अस्तित्व, पितृसत्तात्मक मानसिकता, आदर्शवाद।

हिंदी रंगमंच और रंगमंच में स्त्रियों के संबंध का विकास क्रम अतिशय उतार-चढ़ाव का सफर तय करता हुआ आज हमारे सामने स्थापित है। प्राचीन काल में भारतीय नाट्य कला के साथ रंगमंच का भी आरंभ किया गया। रंगमंच की यात्रा विविधताओं से पूर्ण है। प्राचीन काल का रंगमंच जितना समृद्ध और संपन्न था मध्यकाल में उतना ही संकुचित और जर्जर। प्राचीन काल में रंगमंच का नियम पूर्णता नाट्यशास्त्र पर आधारित था। भरत

* शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

मुनि ने शिव के कहने पर अविस्मरणीय ग्रंथ में रंगमंच की नींव को मजबूती देने हेतु गायन, नृत्य, अभिनय, संगीत जैसे बहुमूल्य क्रियाओं को जोड़ा। भरत मुनि ने रंगमंच के लिए अनेक मुद्राओं का नियोजन भी तैयार किया। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में स्त्रियों के योगदान की महत्ता के बारे में भी लिखा है। जिससे प्राचीन कालीन रंगमंच स्त्रियों के महत्व को समझा और रंगमंच पर स्त्रियों को स्थान भी दिया। किंतु रंगमंच पर प्रस्तुत स्त्रियां आमतौर पर अप्सरा या देवी हुआ करती थीं। उन्हें सिर्फ गायन, नृत्य और संगीत में भाग लेने की स्वतंत्रता थी। अभिनय का क्षेत्र पुरुषों के हिस्से में ही था। प्राचीन रंगमंच में स्त्रियों की भूमिका अहम थी परंतु सामाजिक स्थितियों के कारण नारी को सीमित क्षेत्र ही मिल पाया था। हिंदी रंगमंच का आधार प्राचीन रंगमंच अर्थात् संस्कृत रंगमंच को ही माना गया है। जैसे हिंदी भाषा की जननी संस्कृत भाषा को मान लिया गया है वैसे ही संस्कृत रंगमंच की परंपरा में हिंदी रंगमंच को देखा जाता है। भाषा के बदलते स्वरूप की भांति रंगमंच का भी स्वरूप बदलता गया। हिंदी रंगमंच के विकास क्रम में सुसंगतता और विकृतियां भी साथ-साथ चलती रही। प्राचीन काल के महान नाटक कर कालिदास, महाभास, पतंजलि ने स्त्रियों को केंद्र में रखकर अनेक नाटक सृजित किए। जिसमें स्त्रियां महत्वपूर्ण किरदार में दिखती हैं। उदाहरणस्वरूप सीता, शकुंतला, द्रौपदी इत्यादि। इन पत्रों के माध्यम से नाटककारों ने समाज में स्त्रियों की स्थिति और उनके मनोभावों पर प्रकाश डाला है।

समय की सुई बढ़ती गई और परिवेश बदलता गया। मध्यकाल में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों बिल्कुल बदल गई और जनजीवन से नाटक और रंगमंच दोनों विलुप्त होने लगे। या यह मान लिया जाए कि रंगमंच मनोरंजन और सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति न करते हुए, चुनिंदा लोगों की अमानत हो गई। रंगमंच राज दरबारों की चार दिवारी में सिमट कर रह गया। संस्कृत रंगमंच से विकसित रंग परंपरा का पूर्णतः पतन हो गया। रमेश गौतम ने स्पष्ट किया है कि “संस्कृत की विश्व विख्यात उज्ज्वल नाटक परंपरा के बाद हिंदी साहित्य के प्रारंभिक तीन कालों को नाटक का अंधकार काल माना गया। ऐसी धारणा बनी और बनाई गई कि मध्यकाल तक हिंदी नाटक और रंगमंच का बीजवपन तक नहीं हो पाया। इसके कारण राजनीतिक और ऐतिहासिक थे। हैरान करने वाली बात तो यह रही कि जिस संस्कृति निर्माण में नाट्यधर्मी संस्कृत नाट्य की गौरव गरिमा अभूतपूर्व रही, वहां नाटक की उर्वर भूमि कैसे बंजर हो गई?” इस काल में व्यभिचार का बढ़ता ग्राफ स्त्रियों के अस्तित्व को समाज और रंगमंच दोनों जगह से मिटा दिया। स्त्रियों को सुरक्षित और सम्मानित रखने हेतु समाज और परिवार की कई मजबूरियां सामने आने लगीं। परिस्थितिवश स्त्रियों को पर्दे में रखना, घर से बाहर निकलने नहीं देना, सार्वजनिक कार्यों में सहभागिता पर रोक आदि बातों को प्राथमिकता मिलने लगी। ऐसी स्थिति में रंगमंच तक स्त्रियों का पहुंचना मुश्किल ही नहीं अपितु असम्भव सा हो गया। परंतु लोक रंगमंच पर जहां धार्मिक नाट्य कलाओं में जैसे रामलीला कृष्ण लीला रासलीला आदि में स्त्रियों की सहभागिता बनी रही। इन धार्मिक लीलाओं में भी पुरुषों का वर्चस्व अधिक था। परंतु कहीं-कहीं सीता, राधा, गोपियां, मीरा आदि की भूमिका में स्त्री का योगदान देखने को मिलता है। दुखद है कि इन स्त्रियों को समाज ने अच्छी दृष्टि से नहीं देखा। यह साधारणतः निम्न कोटि की या वेश्या समाज की मानी जाती थी। मध्यकाल में रंगमंच की परंपरा पूर्णतः समाप्त हो चुकी थी। परंतु लोक नाटक के द्वारा रंग मंडलियों का अस्तित्व थोड़ा बहुत बचा रहा। जो कि अधिकांशतः पुरुषों द्वारा ही संभाले गए। सार्वजनिक स्थानों पर पुरुष ही स्त्री वेश धारण कर लोकमंच को सजाते रहे। बर्बरता की पराकाष्ठा इतनी अधिक थी कि स्त्री दर्शक भी नहीं बन पा रही थी। रंगमंच या सार्वजनिक क्षेत्र महिला निषेध हो गया था। निजी क्षेत्र में महिलाओं ने अपनी पीढ़ी दर पीढ़ी लोक रंग परंपरा को हस्तांतरित किया। लोकरंजन की रंगशैली महिलाओं के निजी क्षेत्र या धर्मस्थलों तक सिमट कर रह गया। यद्यपि लोक नाटक अधिकांशतः मध्यकाल के भक्त कवियों की रचनाओं से जुड़ी है। इसलिए स्त्रियों का

लोकमंच पर होना सार्थक समझा गया। हिंदी समय पत्रिका में उद्धृत लेख की पंक्तियाँ- “भागवत की स्त्रियाँ और सूर्य की स्त्रियाँ कृष्ण के जीवन का परिष्कार करती हैं, सामाजिक असुर संतुलन को मिटाती हैं, प्रेम परख भक्ति का श्रेष्ठ पद प्रदर्शित करती हैं और एक आध्यात्मिक दृष्टि को मानस में स्थापित करती हैं।”¹²

मध्यकाल के पश्चात आधुनिक काल का दौर आया हिंदी रंगमंच का मूल विकास इस दौर की ही मानी जाएगी। क्योंकि इसके पहले रंगमंच की संस्कृति संस्कृत के अनुरूप थी। हिंदी रंगमंच के पदार्पण को लेकर विद्वानों का मत एक नहीं है। परंतु मैं यह कह सकती हूँ रंगमंच का आरंभ सामाजिक आवश्यकता का द्योतक रहा होगा। निराशा और हताशा से व्यथित समाज में लोक रंजन के साथ जन चेतना में सजगता लाने का प्रयोजन ही रंगमंच को अस्तित्व में लाया होगा। नाटक के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आरंभ भी कुछ ऐसे ही हुआ था। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में यह बताया गया है कि देवों के मनोरंजन हेतु ब्रह्मा के आग्रह पर भरतमुनि ने नाटक का निर्माण किया। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र की रचना पंचम वेद के रूप में किया जिससे सभी वर्ण के मनुष्य आनंदित हो सकें। ठीक वैसे ही आधुनिक हिंदी रंगमंच का अस्तित्व में आना भारतीय समाज की जरूरत थी। लगातार बाहरी आक्रमणों से शोषित जनता में आत्मबल पैदा करने के लिए आधुनिक साहित्यकारों ने इस निष्प्राणित रंगमंच को पुनः स्थापित किया। रंगमंच की शुरुआत नाटक विधा के माध्यम से ही हुई है। नाटक और रंगमंच का संबंध अन्नोन्याश्रित है। आधुनिक युग की शुरुआत नाटक विधा से मानी गयी है। इसके संदर्भ में रामचंद्र शुक्ल कहते हैं, “विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य-साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटक से हुआ।”¹³ परंतु नाटक की समृद्धि रंगमंच को संपन्न नहीं कर सकी। क्योंकि रंगमंच से स्त्रियाँ अभी भी अनुपस्थित थीं। भारतेंदु युग में भारतीय समाज की परिस्थितियों को बदलने हेतु अनेक विद्वानों, समाज सुधारकों ने कई योजनाएं बनायीं एवं आंदोलन किए। स्वयं बहुमुखी प्रतिभा संपन्न भारतेंदु ने नवजागरण और प्रगतिशील चेतना को उद्भाषित करने का सशक्त प्रयास नाटक के माध्यम से ही किया। सर्वविदित है कि नाटक लिखित रूप में अधूरा है नाटक का मंचन ही नाटक को पूरा करता है। इन्होंने नाटक को मंचित करने के लिए जगह-जगह पर रंगमंच की स्थापना की। भारतेंदु तथा उनके साथी अनेक समाज सुधार, राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत नाटक का मंचन कर निराश्रित जनता में उत्साह भरने का कार्य किया। परंतु सामाजिक परिवेश में सांस लेती झूठी आदर्शवादिता और नैतिकताबोध को समाज पीछे नहीं छोड़ पाया। थोथी नैतिकता से ग्रस्त समाज स्त्रियों को रंगमंच पर स्थान नहीं दे सका। जागरूकता के इस दौर में भी आदर्श आड़े आई और स्त्रियों का रंगमंच पर आना भ्रष्ट और तुच्छ समझा गया। भारतेंदु के योगदान से साहित्य और समाज सदैव ऋणी रहेगा। परंतु रंगमंच को समृद्ध करने में भारतेंदु चूक गए। क्योंकि उन्होंने रंगमंच पर स्त्रियों की भूमिका पुरुषों द्वारा ही संभव करवाया। उनके द्वारा रचित मौलिक व अनूदित नाटकों का मंचन पुरुष ही करते रहे। भारतीय समाज पितृसत्तात्मक मानसिकता से कुठित होकर स्त्री जाति को पर्दे में कैद कर दिया। पुरुष प्रधान समाज अपनी सामंती विचार और थोथी नैतिक मूल्यों का त्याग नहीं कर पा रहे थे। इसलिए रंगमंच पर स्त्रियों को भी देख नहीं पा रहे थे। परंतु भारतेंदु मंडली ने हिंदी रंगमंच की बुनियाद तैयार कर दिया था। इस क्रम में अनेक रंगमंचों की स्थापना हुई- नाट्य समाज (1884 ई.) हिंदी नाट्य समिति, नगरी नाटक संगीत प्रवर्तक मंडली आदि। इस दौर में स्त्रियों का संबंध रंगमंच से नहीं जुड़ पाना नाटक के विषय वस्तु को प्रभावित करता रहा। नाटक का विषय मुख्यतः राष्ट्रीय भाव, सामाजिक चेतना, तथा राजनैतिक विचार इत्यादि को केन्द्र में रखकर लिखा गया। नाटक के मूल में स्त्री नहीं दिखी। भारतेंदु ने स्त्री पक्ष में एक प्रयास ‘नीलदेवी’ नाटक से किया। इसके मूल में सशक्त नारी नीलदेवी का चित्रण किया। जिसका मंचन भी देश के अलग-अलग क्षेत्रों में हुआ था। परंतु रंगमंच पर सदैव नीलदेवी की भूमिका में पुरुष कलाकार ही दिखे। स्त्रियों की स्थिति हिंदी रंगमंच के अतिरिक्त गैर हिंदी भाषी रंगमंच पर

भी समान ही थी। प्रायः सभी क्षेत्र में स्त्री की भूमिका पुरुष कलाकार द्वारा निभाया जा रहा था। इस संदर्भ में अपर्णा वेणु लिखती हैं, “19वीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं के रंगमंच में स्त्री पात्रों की भूमिका पुरुष कलाकारों के द्वारा ही निभाई जाती थी।”⁴ ऐसी स्थिति में रंगमंच कैसे समृद्ध हो सकता था? प्रकृति से मिले सहज कोमल नारीत्व भाव का अभिनय पुरुषों द्वारा कैसे संभव हो? भारतेंदु मंडली के सदस्यों के साथ अन्य नाटक-प्रेमियों ने भावों के प्रतिफलन हेतु कई नौटंकी मंडली को स्थापित किए। किंतु स्त्रियों को घर की परिधि पार करा कर रंगमंच तक लाने में सभी लगभग असफल रहे। इस युग के नाट्यविद् नाटक से साहित्य के भंडारण को भर दिया, साथ ही भारतीय मर्यादा को लांगकर नाटक का मंचन भी किया। नाटक में नारियों का स्थान समाज की गरिमानुरूप ही उपस्थित किया। फिर भी नारी को रंगमंच से जोड़ने में असफल रहे। रंगमंच पर स्त्रियों की अनुपस्थिति इन्हें विवश किया कि नाटकों में स्त्री पात्रों की उपस्थिति धीरे-धीरे लुप्त हो गई। हालांकि नारी व्यक्तित्व के विकास में उठे भारतेंदु युगीन कदम का प्रभाव रंगमंच में नहीं किंतु इसका असर महिलाओं के दैनिक जीवन में जरूर दिखने लगा।

भारतेंदु की आदर्शवादी स्त्री के विपरीत, प्रसाद के नाटक ने रंगमंच पर नारी का सशक्त रूप प्रस्तुत किया है। स्त्री चेतना का विकास इनके नाटकों में मुखर हुआ है। प्रसाद ने सशक्त नारी को केंद्र में रखकर ध्रुवस्वामिनी, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त इत्यादि नाटक लिखे प्रसाद का मानना है कि “नाटक के लिए रंगमंच होना चाहिए ना कि रंगमंच के लिए नाटक।”⁵ इनकी यही सोच नाटक की विषय वस्तु में परिवर्तन लाने का कार्य किया। इन्होंने ऐतिहासिक विषय को आधार बनाते हुए वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्त्री अस्मिता को नयी दिशा प्रदान किए। नाटक के केंद्र में सशक्त नारी भारतीय समाज की मिथकीय आदर्शवादिता को छोड़ ‘स्व’ की खुशी चुनती है। नारी केंद्रित नाटक में प्रसाद ने नारी की विभिन्न भावनाओं की रेखा खींची है। प्रेम, तपस्या, त्याग, समर्पण तथा आत्मगौरव, आत्मविश्वास, आत्मखुशी इत्यादि। प्रसाद के नाटकों में उद्धृत नारी मन की विभिन्न भाव रंगमंच पर स्त्रियों को स्थान देने में सहायक सिद्ध हुआ। क्योंकि प्रसाद की नारी पात्र की भूमिका निभा पाना किसी पुरुष के वश का कार्य नहीं था। सशक्त नारी पात्र ध्रुवस्वामिनी हल्का अनंता देवी आदि के मनस्थिति का अभिनय एक स्त्री ही कर सकती थी। नारी केंद्रित नाटक ही रंगमंच का द्वार स्त्रियों के लिए खोलने का कार्य कर सकता था और यह प्रभाव नौटंकी मंडल में देखने को भी मिलने लगा। रंगमंच पर स्त्रियाँ नहीं पहुँच पाई थी। परंतु नौटंकी में स्त्रियों का आना शुरू हो गया। नौटंकी की कार्यरत पहली स्त्री पद्मश्री गुलाबबाई ने 1934 ई. के लगभग से अपनी रंगमंचीय जीवन की शुरुआत की। उनके पीछे-पीछे छोटी-बड़ी भूमिका में स्त्रियाँ दिखने लगीं। गुलाब बाई और अन्य महिलाओं का रंगमंच पर आना, स्त्री वर्ग और रंगमंचीय दुनिया को नई जमीन मिली। निराला कहते हैं, “गुलबिया ने खुद जुड़कर नौटंकी में लड़कियों के लिए रास्ता खोला। देखते ही देखते दूसरी कंपनियों ने लड़कियों की तलाश शुरू कर दी। खुद गुलबिया की सहेलियाँ, बहाने से नौटंकी से जुड़ने लगीं हैं। एक से बढ़कर एक महिलाएं नौटंकी में आने लगीं।”⁶ आगे उन्होंने यह भी कहा है कि “गुलाबो के आने के बाद पहली बार किसी महिला पात्र को महिला ही निभाने लगी।”⁷ रंगमंच से महिलाओं का जुड़ाव रंगमंच के प्रत्येक घटकों के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ। प्रेक्षकों के लिए भावों का आत्मसात होना आसान हो गया। हालांकि प्रसाद के नाटकों पर आरोप लगाया गया है कि इनके नाटक मंचन योग्य नहीं हैं। परंतु नारी दृष्टि से इनके नाटकों ने ही रंगमंच पर स्त्रियों को जगह दी है। प्रसाद के समय से रंगमंच पर स्त्रियों की सुगबुगाहट महसूस होने लगी। बरहाल 20वीं सदी की शुरुआत तक रंगमंच पर पुरुषों का वर्चस्व कायम रहा। परंतु स्त्रियों का रंगमंच पर दिखना शुरू हो गया था।

हिंदी रंगमंच का नवजागरण काल तब प्रारंभ हुआ, जब समाज अपनी मिथ्या नैतिकता आदर्शबोध को छोड़

नवीन विचारों और नव चेतना की ओर अपना उन्मुख हुआ। नई चेतना और नए विचार रंगमंच पर स्त्रियों की संख्या तो बढ़ा रही थी। परंतु पूर्वाग्रह से कुंठित मानव समाज रंगमंच पर स्त्री अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर पा रहा था। रंगमंच से जुड़ी स्त्रियों को समाज लगातार हेय दृष्टि से देखता रहा और कलाकार स्त्रियों को अनेक विशेषणों- कुलटा, चरित्रहीन, वैश्या जैसे शब्दों से सुशोभित करता रहा। दक्ष स्त्रियों की संख्या रंगमंच पर बढ़ी परंतु अपने वह नैसर्गिक स्वत्वों को मंच पर स्थापित नहीं कर सकीं। पितृसत्तात्मक समाज लैंगिक विभेद की जड़ बहुत गहराई तक धंसी हुई है। इसके प्रभाव से रंगमंच पर स्त्री स्मिता नहीं बन पा रही है। स्त्रीत्व की पहचान एवं नारी संवेदनाओं की सटीक प्रस्तुति के बावजूद रंगमंच पर स्त्रियों को स्वीकार कर पाना इस समाज के लिए सहज नहीं हो पाया था।

लगभग 1950 ई. के बाद भारतीय समाज में नारी मुक्ति संघर्ष जोर पकड़ने लगा। इस दौरान नारी मुक्ति के प्रत्येक पक्ष को बहुआयामी धरातल मिला, जिससे रंगमंच भी अछूता नहीं रहा। हिंदी रंगमंच के अतिरिक्त अन्य हिंदी भाषी रंगमंच पर स्त्रियों का अस्तित्व पहले ही दिखने लगा था। स्त्रियों का रंगमंच पर मुखर रूप से आना रंगमंचीय दुनिया के लिए नया प्रयोग था। रंगमंच पर स्त्रियों की उपस्थिति प्रस्तुतियों में भी नजर आने लगी। नाटक के मूल विषय में विभिन्न स्त्री मुद्दों को स्थान मिलने लगा। स्त्रियों ने अपनी सहज भावों से रंगमंच को संवारा। साथ ही परंपरागत चली आ रही पुरुष प्रधान विचारों को तोड़कर स्त्री पक्षीय विचारों से रंगमंच को समृद्ध करने की कोशिश शुरू हुई। 'स्त्री पक्षीय रंगमंच' रूढ़िवादी विचारों को चुनौती देकर नवीन परिकल्पना को स्थान दिया जा रहा है। पहले पहल स्त्रियां रंगमंच पर अधिकांशतः अभिनय क्षेत्र में ही अपना योगदान दे रही थीं। धीरे-धीरे समय के साथ रंगमंच पर स्त्रियों का योगदान भी बढ़ता गया। रंगमंच के प्रमुख घटकों का निर्वाह स्त्रियां सफलता पूर्वक करने लगीं। 20वीं सदी के आखिरी समय में स्त्रियों का अस्तित्व रंगमंच पर स्थापित हो चुका था। धीरे-धीरे पितृसत्तात्मक वर्चस्व ढीली होती गई और 21वीं सदी की स्त्रियाँ रंगमंच के क्षेत्र में अनेक अनूठे प्रयोग कर रंगमंच में क्रांति लाने का कार्य करने लगीं। नवीनतम प्रयोग से स्त्रियों ने रंगमंच को रंगधनी बनाया। सभी तत्व का सूक्ष्म अध्ययन कर उसे सजाया और विकसित भी किया। 21वीं सदी में रंगमंच पर स्त्रियों का स्थान मात्र शो पीस(showpiece) नहीं रहा। बल्कि सशक्त प्रतिभा संपन्न नारी वर्ग अपनी रचनात्मक, सृजनात्मक और कल्पनात्मक दृष्टि से रंगमंच के विकास में अहम भूमिका निभा रही हैं। स्त्री आयाम के इस संदर्भ में अपर्णा वेणु स्पष्ट करती हैं, "किसी भी नाट्य प्रस्तुति के मूलभूत तीन प्रमुख तत्व होते हैं- अंतर्वस्तु, रूप संरचना एवं दर्शकीय अनुभूति। इन तीनों तत्वों के परिपेक्ष्य में स्त्री पक्षीय रंगकर्म पर विचार किया जाए तो जरूर कहा जा सकता है कि महिला रंगकर्मियों ने भारतीय रंगमंच के परिदृश्य को ज्यादा व्यापक संवेदनशील और मानवीय बनाया है।"⁸ रंगमंच पर स्त्रियों की शुरुआत महज अभिनय से हुई थी। परंतु आज रंगमंच के अन्य सजीव घटकों का निर्वाह सफलता पूर्वक करती नजर आ रही है। नाटककार, निर्देशिका, रंगसज्जाकार, प्रकाशयोजिका, ध्वनि आवरण, दर्शकविद में स्त्रियों के योगदान को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। रंगमंच को अपनी प्रतिभा से परिपूर्ण करने वाली कुछ प्रमुख महिलाओं के नाम इस प्रकार हैं- सुरेखा सिकरी, सुषमा सेठ, त्रिपुरारी शर्मा, मन्नू भंडारी, उषा गांगुली, मैत्रेयी पुष्पा, सुरभि राजराजेश्वरी, वर्षा दास, ज्योति डोगरा, मीरा अरुण, संजना झा, डॉ. रमा इत्यादि।

नाटक सृजन में महिलाओं ने पुरुषकृत ढर्रे को बदलकर नारी केंद्रित नाटक का सृजन किया। जब महिलाओं के जीवन का सर्वपक्ष नाटक में लिखा जाएगा, तभी रंगमंच पर स्त्री को जीवंत आकर मिलेगा। महिला नाटककारों ने रंगमंच के परिपेक्ष्य में स्त्री स्मिता की बात छोड़ी। हालांकि स्त्री पक्ष की सशक्त शुरुआत प्रसाद के नाटक ध्रुवस्वामिनी से प्रारंभ हो चुकी थी। यहाँ पहली बार नारी की संचेतना का पदार्पण हुआ है। एक जागरूक और

स्वाभिमान से भरी ध्रुवस्वामिनी का चित्रण उपलब्ध कराकर प्रसाद ने रंगमंच क्षेत्र में स्त्री विमर्श छेड़ दिया था। रंगमंच पर स्त्री पक्षीय परंपरा को आगे बढ़ाने का कार्य कुछ संवेदनशील पुरुष नाटककार कर रहे थे। उनमें मोहन राकेश, भुवनेश्वर, भीष्म साहनी इत्यादि महान नाटककार शामिल हैं। अब पुरुषों के साथ महिला नाटककारों ने स्त्रीत्व भाव को पुनर्निर्मित करने का कार्य अपने हाथों में ले लिया। उनके नाटकों में स्त्रियों के पक्ष में उद्धृत बातें स्त्रियों को ज्यादा आकर्षित करने लगीं। स्त्री नाटककारों में कुसुम कुमार का नाम शीर्ष पर आता है। इनकी नाट्य कृति गिने-चुने लोगों में से एक है। इनके नाटकों के शिल्पगत और तथ्यगत दोनों रूप से दर्शक और निर्देशक बराबर आकर्षित होते रहे। मन्नू भंडारी का नाटक 'बिना दीवारों का घर' समाज में व्याप्त स्त्री पुरुष की लैंगिक समीकरण को तोड़ती है। हिंदी नाटककार का प्रसिद्ध नाम विभा रानी। इन्होंने बेहतर कल के लिए बहुदेशीय कल्पना के साथ स्त्री जीवन से जुड़ी समस्याओं का चित्रण अपने नाटकों में करते हैं। महिला नाटककारों के उद्धृत विविध विषयों लिए अपर्णा वेणु ने लिखा है- “महिला नाटककारों ने शारीरिक शोषण, स्त्री स्मिता के प्रश्न, रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था, नैतिक कुरीतियां, पारिवारिक समस्याएं, स्त्री पुरुष संबंध, मजदूर स्त्री की समस्याएं, समकालीन जीवन के तनाव यदि स्त्री जीवन से संबंधित मार्मिक विषयों को अपनी रचनाओं में शामिल करने की कोशिश की है।”

नाटककार की भांति निर्देशन के क्षेत्र में भी महिलाओं ने अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया है। अभिनय क्षेत्र तक सीमित स्त्रियां महज एक उपकरण की भांति मंच पर प्रस्तुत होती थी। जिसकी बागडोर पुरुष के हाथों में ही थी। निर्देशिका के रूप में महिलाओं की भागीदारी पुरुष केंद्रित रंगमंच को प्रश्नीकृत करती है। स्त्री पक्ष में उद्धृत बातों का निर्देशन स्त्रियों द्वारा ही होना स्त्री भावों में सार्थकता ले आई। हिंदी रंगमंच पर निर्देशिका के रूप में कार्यरत प्रथम महिला विमल गांगुली हुई। इन्होंने निर्देशन कार्य से हिंदी रंगमंच को नई दिशा प्रदान की। सामाजिक मुद्दों से जुड़ी स्त्री चेतना पर आधारित नाटकों का निर्देशन कर, हिंदी रंगमंच को नई चेतना, नई पहचान इन्होंने दिया। इस परंपरा को आगे बढ़ते हुए उनकी बहन उषा गांगुली ने भी अपना योगदान निर्देशन क्षेत्र में दिया। निर्देशिका के रूप में अन्य नाम मनीषा के० गोस्वामी, दीपाली बर्नार्ड जैसी अनेक महिलाएं सामने आईं। जिन्होंने हिंदी रंगमंच को स्त्री संवेदनाओं से जोड़कर रंगमंच को नई भूमि प्रदान किया। भारतीय रंगमंच में नयापन लाकर इसे वैश्विक स्तर पर पहचान दिलाने में महिलाओं ने अपनी प्रतिभा का योगदान किया है।

नाटककार, निर्देशिका के रूप में महिलाओं के योगदान सम्माननीय है। वर्तमान में महिलाओं ने अपनी भागीदारी प्रकाश योजना, ध्वनि अवतरण, मंच सज्जा, रंग सज्जा में दे रही हैं। कलात्मक दृष्टि से नाटक के प्रस्तुति में उपयुक्त अनिवार्य अंग के बारे में रीतारानी पालीवाल रहती है, “अभिनय-कला तथा उसके मध्यम गति को पूर्णतः व्यंजित करने के लिए पर्याप्त तथा समुचित प्रकाश की आवश्यकता होती है। प्रकाश-व्यवस्था के माध्यम से दृश्यात्मक रूप में चाक्षुष संरचना तथा देश काल एवं घटनास्थल को व्यंजित करने में सहायता ली जाती है। प्रकाश व्यवस्था का प्रयोजन दृश्य बोध का सर्जन है। उसके द्वारा घटनास्थल, संरचना एवं मनोभाव की सृष्टि के साथ ही नाटकीय शैली-तत्व का व्यक्तीकरण किया जाता है।”¹⁰ इसके अलावा आज रंगमंच की दुनिया में कुछ ऐसी स्त्रियां भी देखी जा रही हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से अपना पूरा जीवन रंगमंच को समर्पित कर चुकी हैं। उनमें से एक है संजना दीदी। मंडी हाउस अर्थात् 'नाटकों की दुनिया' परंतु अत्यंत दुख की बात यह है कि इस नाटकीय संसार में नाटक का मूल प्रति ही उपलब्ध नहीं हो पाता है। इस कार्य को सहज बनाने में संजना दीदी का योगदान महत्वपूर्ण है। इन्होंने दिल्ली में 'श्रीराम सेंटर' रंगमंच के सामने एक पेड़ के नीचे बैठकर नाटक से संबंधित पुस्तकें उपलब्ध करा रही हैं। संजना दीदी ने रंगमंच को स्त्री पक्ष से समृद्ध करने के लिए अपना संपूर्ण जीवन रंगमंच को समर्पित कर दिया है। वर्तमान में साहित्यिक संसार में नाटक से संबंधित

पुस्तकों का संचयन करने में अपनी रुचि नहीं दिखा रही है। नाटक की मूल प्रतियां साहित्यिक बाजार में दुर्लभ होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में संजना दीदी रंगकर्मियों की सहजता हेतु निरंतर नाटक प्रतियों का संकलन कर उसे उपलब्ध कराती हैं। रंगमंच पर स्त्री पक्ष में लिखें नाटक या रंगमंच पर स्त्रीत्व पक्षीय को प्रस्तुत करने में संजना दीदी का अप्रत्यक्ष योगदान भी ऐतिहासिक है। महिला नाटककारों के द्वारा रचित नाटकों का संचयन कर उसे नाटकीय दुनिया में सहज उपलब्ध कराने कार्य रही हैं। रंगमंच में स्त्रियों की भूमिका को समाज में प्रस्तुत करने का कार्य संजना दीदी के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किया जा रहा है।

नाटक प्रदर्शन की सार्थकता दर्शक वर्ग से ही होती है। दर्शन की उपस्थिति ही रंगमंच को गौरवान्वित बनाती है। दर्शक वर्ग की अनिवार्यता को लेकर महान रंग आलोचक देवेंद्र राज अंकुर बताते हैं, “किसी और कला और विधा में दर्शक की जरूरत भले ही ना हो लेकिन रंगमंच की कल्पना उसकी जीवंत उपस्थिति के बिना ही नहीं की जा सकती। देखा जाए तो दर्शकों की जीवंत उपस्थिति फिल्म अथवा दूरदर्शन जैसे माध्यमों में भी होती है लेकिन उसका अभिनेता से प्रत्यक्षतः कोई संबंध नहीं है। यही बात साहित्य के पाठक और चित्रकला के दर्शक के लिए भी कही जा सकती है। क्योंकि यहाँ भी रचनाकार और उसके भोक्ता के बीच कोई सीधा रिश्ता नहीं होता। लेकिन रंगमंच में अभिनेता और दर्शक की पारस्परिक सहभागिता वस्तुतः रंगमंच के जन्म और आदिकाल से चली आ रही है।”¹¹

आज रंगमंच में दर्शक के रूप में स्त्रियों की भागीदारी भी देखी जा रही है। 21वीं सदी स्त्रियों को आदर्श और नैतिकता के बंधन से थोड़ी छूट भी देती है परंतु सुरक्षा की दृष्टि से उसे फिर से बांधती हुई नजर आती है। रंगमंच में प्रस्तुति का समय सामान्यतः रात्रि का होता है और भारतीय सामाजिक और पारिवारिक संरचना में स्त्रियों की स्वतंत्रता दिन के उजाले तक ही सीमित है। संध्या काल होते ही उन्हें अपने-अपने बसरे पर लौटना होता है। ऐसी स्थिति में रंगमंच में दर्शक के रूप में स्त्रियों की उपस्थिति थोड़ी मुश्किल जान पड़ती है। वर्तमान में स्त्रियां अपना योगदान हर एक क्षेत्र में कर रही हैं परंतु स्त्रियां सुरक्षित नहीं हैं। रंगमंच का आयोजन गांव-ग्राम में हो तब वहां की स्त्रियां अपने परिवार के सदस्यों के साथ रंगकला को देखने पहुंच पाती हैं। किंतु रंग आयोजन घर से दूर या दुर्गम स्थान पर हो तब स्त्रियां वहां नहीं पहुंच पाती हैं। वर्तमान में सामाजिक बुनावट ही स्त्रियों की स्वतंत्रता तय कर रही है। क्योंकि दिल्ली जैसे महानगरों में भी स्त्रियों का दर्शक रूप में उपस्थिति बहुत कम है। दिल्ली महानगर में स्थापित NSD जैसे बड़े संस्थान में भी प्रस्तुति कलाओं में स्त्रियों की उपस्थिति की समस्या को लेकर आशा शर्मा कहती हैं, “दिल्ली की सीमा के भीतर भी महिलाएं अभी अपने आप को पर्दा-प्रथा से मुक्त नहीं कर पाई हैं। उन्हें नाटक दिखाने तक के लिए मंडी हाउस के किसी थिएटर तक जाना संभव नहीं तो मुश्किल जरूर है। इसका ठोस कारण यह है कि दिल्ली में अधिकांश नाटकों का मंचन 6 या 7 बजे रात में होता है और ग्रामीण परिवेश में रहने वाली लड़कियों को दिन ढलने के बाद घर से निकलने की सख्त मनाही होती है।”¹²

इस तरह से हम देखे तो हिंदी रंगमंच पर स्त्रियों की उपस्थिति वर्तमान में भी सामाजिक, पारिवारिक संरचनाओं के अनुरूप ही है। हिंदी रंगमंच के उद्भव और विकास क्रम में स्त्रियों की भूमिका सराहनीय रही है। किंतु भारतीय समाज में लैंगिक समीकरण की बुनावट अत्यंत गहरी है। इससे निजात पाना मुश्किल जान पड़ती है। बड़े-छोटे शहरों में नाट्य संस्थानों की स्थापना से स्त्रियां रंगमंच पर सक्रिय हो पाई हैं। NSD (नयी दिल्ली), MPSD (मध्य प्रदेश), रविंद्र भवन (कोलकाता), प्रेमचंद रंगशाला (पटना) जैसे संस्थान हिंदी रंगमंच को स्त्रियों के लिए सहजता प्रदान करती है।

संदर्भ:

1. रमेश गौतम, हिंदी रंगमंच का लोक पक्ष, स्वराज प्रकाशन, 4648/1, 21, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2020, पृ. 6
2. किरण कुमारी, मध्यकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श, हिंदी समय पत्रिका(ऑनलाइन)
3. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रयाग पुस्तक सदन, इलाहाबाद, 2019, पृ. 310
4. अपर्णा वेणु, भारतीय रंगमंच की महिला परंपरा, लोकभारती प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2023, 57
5. जयशंकर प्रसाद, काव्य कला तथा अन्य निबंध, <https://www.hindisamay.com/content>
6. निराला, इस्स! नौटंकी की पहली स्त्री गुलाबबाई, रंग वार्ता त्रैमासिक पत्रिका, वर्ष 1 अंक 1 नवंबर-जनवरी 2011-12, पृ. 16
7. निराला, इस्स! नौटंकी की पहली स्त्री गुलाब बाई, रंगवार्ता, त्रैमासिक पत्रिका, वर्ष 1, अंक 1, नवंबर -जनवरी, 2011-12, पृ. 15
8. अपर्णा वेणु, भारतीय रंगमंच की महिला परंपरा, लोकभारती प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, पहला संस्करण : 2023, पृ. 96
9. अपर्णा वेणु, भारतीय रंगमंच की महिला परंपरा, लोकभारती प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2023, पृ. 94
10. अपर्णा वेणु, भारतीय रंगमंच की महिला परंपरा, लोकभारती प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, पहला संस्करण : 2023, पृ. 118
11. देवेंद्रराज अंकुर, रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2023, पृ. 117
12. आशा शर्मा, रंगमंच पर अदिति की दस्तक, रंगवार्ता, त्रैमासिक पत्रिका, वर्ष 1, अंक 1, नवंबर -जनवरी, 2011-12, पृ. 78



भारत का राष्ट्रीय आंदोलन और 'विशाल भारत' : सामाजिक व राजनीतिक सरोकार

- नेहा कुमारी*
- डॉ. कुलभूषण शर्मा**

संक्षिप्ति :

विशाल भारत का प्रकाशन ऐसे समय में हुआ था, जब देश गुलामी की त्रासदी झेल रहा था। तत्कालीन व्याप्त सामाजिक कुरीतियां, देश में हो रहे राजनीतिक उलटफेर, अंग्रेजों द्वारा निर्मित नीतियों के दुष्परिणामों से जनता अनभिज्ञ थी। ऐसी विषम परिस्थितियों में तत्कालीन प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं द्वारा जनसमुदाय को देश में घट रही घटनाओं के विभिन्न पक्षों से परिचित कराने का प्रयास किया गया। प्रकाशित पत्रिकाओं के माध्यम से स्वतंत्रता आंदोलन को वैचारिक बल मिला। 'विशाल भारत' जैसी पत्रिकाओं ने देश के लोगों को जागरूक किया और आंदोलन की ज्योति को घर-घर में जलाने का प्रयास किया। इस पत्रिका के द्वारा अंग्रेजों के अत्याचारों को उजागर किया गया और जनता में स्वातंत्र्य चेतना जगाई गई। प्रस्तुत शोधालेख में विशाल भारत की उन रचनाओं को समझने का प्रयास किया गया है जिसमें भारतीय समाज व राजनीति की हलचल दिखाई पड़ती है।

बीज शब्द : सामाजिक सरोकार, स्वातंत्र्य चेतना, जागरूकता, आंदोलन, कुरीतियाँ।

1 जनवरी 1928 को कलकत्ता से रामानंद चट्टोपाध्याय ने हिंदी मासिक पत्रिका 'विशाल भारत' का प्रकाशन शुरू किया जिसके प्रथम संपादक बनारसीदास चतुर्वेदी थे। पत्रिका के प्रथम पृष्ठ पर ही "सत्यम शिवम सुंदरम, नायमात्मा बलहीनेन लब्ध छपता था जिसका अर्थ है, जो सत्य है वह शिव है और जो शिव है वह सुंदर है। इस संसार में दुर्बलता सबसे घोर पाप है।" उपर्युक्त श्लोक भारत की पराधीनता एवं उसकी मनः स्थिति को देखते हुए लिखना आरंभ किया गया था। पराधीन भारत की विविध समस्याओं, उसकी दुर्बलताओं, उसकी असहाय स्थिति को देखते हुए पत्रिकाओं में ऐसे विषयों को ही प्रकाशित किया जाता था जिसके माध्यम से

☆ शोधार्थी, हिंदी विभाग, पंजाब केंद्रीय विश्वविद्यालय, बठिंडा, चलभाष-9060801650

☆☆ सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, पंजाब केंद्रीय विश्वविद्यालय, बठिंडा, चलभाष-9811765083

समाज में हो रही समस्याओं के कारणों से जनता अवगत हो सके और जनसमुदाय में चेतना का संचार हो। देश के प्रति जनसमुदाय को जागरूक करना पत्रिकाओं का मुख्य उद्देश्य रहा है।

पत्र-पत्रिकाएँ केवल समाचारों का साधन नहीं रही, बल्कि वे क्रांति का सशक्त माध्यम बनीं। इसके माध्यम से जनमानस न केवल सूचना प्राप्त करता था बल्कि उनमें चेतना, आत्मगौरव और संघर्ष की भावना का विकास हुआ। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जनता अंग्रेजों के अत्याचारों, नीतियों और दमनकारी कानूनों से अवगत हो पाई और राजनीतिक मुद्दों से जुड़ने लगी। विशाल भारत में प्रकाशित अनेक रचनाओं में हमें तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल देखने को मिलती है।

गुजरात के बारदोली नामक स्थान पर ब्रिटिश सरकार ने 30% भूमि कर बढ़ा दिया था, जिससे किसानों की आर्थिक स्थिति खराब होती चली गई, किंतु सरकार ने राहत नहीं दी। सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में इसके विरुद्ध आंदोलन किया गया जिसे लक्ष्य करके मैथिलीशरण गुप्त ने 'ओ वारडोली' नामक कविता लिखी-

“आज महात्मा-द्वारा तूने, आत्मा का बल जाना है।
परमात्मा ने दिया जिसे यह, सत्याग्रह का बाना है।”²

‘विचित्र संग्राम’ शीर्षक कविता में गुप्त जी ने असहयोग और सत्याग्रह की रणनीति का समर्थन करते हुए लिखा है-

“अस्थिर किया तोप वालों को, गांधी टोपी वालों ने
शस्त्र बिना संग्राम किया है इन माई के लालों ने”³

साइमन कमीशन के विरोध प्रदर्शन के दौरान अंग्रेजों द्वारा किए गए लाठी चार्ज में घायल लाला लाजपत राय की मृत्यु हो जाती है। विशाल भारत में जगन्नाथ प्रसाद ‘मिलिंद’ की कविता ‘भारत माता के आंसू’ छपी। इस कविता में लाजपत राय की मृत्यु का कारुणिक वर्णन है, इसमें यह भी दिखाया गया है कि अपने बेटे को खोकर एक माँ की क्या दशा हो जाती है वह खुद को निःसहाय महसूस करने लगती है -

“मेरा लाल! लाजपत मेरा! किस कुसमय में आया काल
खेल-खेल में लूटा मुझको! हाय कलेजा लिया निकाल।”⁴

सुभद्रा कुमारी चौहान की ‘झांसी की रानी’ शीर्षक कविता 1857 के गदर से संबंधी साहित्य की प्रतिनिधि रचना है। (फरवरी, 1928) इसमें 1857 के संघर्ष को स्पष्ट रूप से स्वतंत्रता का युद्ध कहा गया है-

“गुमी हुई आजादी की कीमत सब ने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी
चमक उठी सन सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी...।।”⁵

पराधीन भारत में कवि अपनी कविताओं के माध्यम से युवाओं को क्रांति के लिए प्रेरित कर रहे थे। ‘विशाल भारत’ 1928 के जून अंक के प्रथम पृष्ठ पर रामनरेश त्रिपाठी की कविता ‘क्रांति कामना’ प्रकाशित कर चतुर्वेदी जी ने क्रांति की मशाल को और प्रज्वलित किया-

“रहेंगे क्या यों ही भगवान, चित्त के चित्त में सब अरमान?
क्या न मचेगा महाक्रांति का कभी यहाँ घमसान?
क्या न कभी कौंधेगी फिर इस नभ में सत्य-कृपान?
विधे! है क्या यह ठानी ठान?”⁶

सरदार सिंह 'सैनिक' द्वारा रचित कविता 'उपकारी किसान' पराधीन भारत की दुःख, निर्धनता और किसानों की करुण व्यथा को दर्शाती है-

“ भारत में दुःख दे रही, निर्धनता सब ठौर।
श्रमजीवी और कृषक जन, बने काल के कौर।

* * * *

तापसी किसान उपकारी वीर भारत के
दुःख सह दूसरों को सुख पहुंचाते हैं।”⁷

हरिशंकर शर्मा द्वारा रचित निम्न कविता में मातृभाषा के प्रति प्रेम दिखाई देता है। पराधीन देश में जहाँ सर्वत्र अंग्रेजियत व्याप्त हो तब ऐसी कविताओं का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है-

“ बिहरो बिहारी की बिहार वाटिका में चाहे
सूर की कुटी में अड़ आसन जमाइए।

* * * *

भिन्न भाषा भाषियों मिलेगा मनमाना सुख,
हिंदी के हिंडोले में जरा तो बैठ जाइए।”⁸

तत्कालीन व्याप्त सामाजिक विषमताओं एवं कुप्रथाओं को रचनाओं के माध्यम से पत्रिका में प्रकाशित कर जनसमुदाय को उनके प्रभाव से अवगत कराने तथा उनके विरुद्ध आवाज उठाने के लिए प्रेरित करने का कार्य पत्रिकाओं ने किया है।

जाति व्यवस्था हमारे समाज की सबसे पुरानी और जानलेवा बीमारी है जिसकी जड़ें आज भी समाज को जकड़े हुए हैं। जाति किसी मनुष्य की पहचान नहीं हो सकती; यह तो उसके अंदर के संस्कार और उसकी इमानदारी है जो समाज में उसे पहचान दिलाती है। विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' की कहानी 'सम्पत पासी' (फरवरी 1928) इसका सटीक उदाहरण है। जमींदार द्वारा नौकरी से निकाले जाने के बावजूद संपत किसी भी परिस्थिति में अपने मालिक से दगा नहीं करना चाहता। वह जमींदार के पक्ष में गवाही देता है। तत्कालीन समाज में सवर्ण पासी जाति के प्रति क्रूर व्यवहार रखते थे किंतु इस कहानी के माध्यम से कौशिक जी ने पासी जाति की ईमानदारी और समर्पण को दिखाया है। “हम लोगन की परिपाटी यहै है कि जेहिका नमक याकौ दांय खाय लीन ओहते जनम भर दगा नहीं किन, तौन यह परिपाटी मेट देतु ? पर मालिक के साथ कबहूँ दगा न करब। चाहै कोनौ सोने के सिंहासन पर बैठाय दे।”⁹

पत्रिका के प्रथम अंक (जनवरी, 1928) में प्रकाशित प्रेमचंद द्वारा रचित कहानी 'अग्नि समाधि' के माध्यम से एक स्त्री के निःस्वार्थ प्रेम को दर्शाया गया है। कहानी का नायक पयाग अपनी मड़ैया बचाने के दौरान जल कर बेहोश हो जाता है। पयाग की पत्नी रुक्मिन पयाग द्वारा प्रताड़ित होने के बावजूद उसे आग से बचाते हुए खुद को समाप्त कर लेती है। “रुक्मिन उस अलाव को लिए हुए एक सेकेंड में खेत के डांडे पर आ पहुंची, मगर इतनी दूर में उसके हाथ जल गए, मुंह जल गया... रुक्मिन हाथ-पांव फेंकती रही फिर अग्नि ने उसे निगल लिया! रुक्मिन ने अग्नि समाधि ले-ली।”¹⁰

जैनेंद्र कुमार की कहानी 'चोरी' (विशाल भारत जून, 1929, पृ. 755-59) एक किसान की कारुणिक स्थिति को दर्शाता है। कहानी का नायक लक्खू खेती करने के लिए महाजन से 8 रुपये की दर से आलू लेता है ब्याज जोड़-जोड़ कर यह कीमत 50 रुपये हो जाते हैं जिसे लक्खू चुकाने में असमर्थ होता है। महाजन उसे घर नीलाम करने की स्थिति में ला देता है। कोर्ट से भी उसे डिग्री मिल जाती है और लक्खू का घर नीलाम

हो जाता है। एक दिन वह अपने दोस्त धन्नू से मिला और धन्नू ने लक्खू की सारी कहानी सुनी और कहा – “पर कहाँ है यह तुम्हारी मेहनत और उसका फल। सूखकर तुम कांटा हो गए हो, पैसे-पैसे के तुम मोहताज हो।... वह महाजन बड़ी मेहनत करता है ना, फूल के बोरा बन रहा है।”¹¹ लक्खू के माध्यम से हम जमींदार द्वारा किए गए शोषण और अत्याचार को देख सकते हैं। जमींदारों का शोषण इस हद तक बढ़ जाता है कि वह किसानों को बेघर होने की स्थिति में ला देता है। जो किसान दिन-रात मेहनत करता है जमींदारों के अत्याचार सहता है इसके बावजूद वह दाने-दाने का मोहताज हो जाता है। उससे उसकी जमीन और उसके सिर से छत दोनों ही छीन लिए जाते हैं। लक्खू आम तोड़ने के जुर्म में पकड़ा जाता है और उसे 2 साल की सजा होती है। कहानी के अंत में लक्खू चोर बन जाता है। यह कहानी समाज के शोषण व्यवस्था पर टिकी है जिसके परिणामस्वरूप एक किसान को चोर बनने पर मजबूर कर दिया जाता है। इस समाज में एक मनुष्य को इस प्रकार तोड़ा जाता है कि उसकी सारी नैतिकता, सारे मूल्य धरे के धरे रह जाते हैं। लक्खू का चोर बनना हमारे समाज की विफलता और शोषण का परिणाम है।

सुदर्शन की कहानी ‘कायापलट’ (विशाल भारत, फरवरी 1930) पर्दा प्रथा को आधार बनाकर लिखी गई है। इस कहानी में रक्षा और सावित्री दो नारी पात्र हैं, जिसके इर्द-गिर्द पूरी कहानी चलती है। सावित्री पर्दा प्रथा की बुराइयों को समझती है और इसके खिलाफ है, जबकि रक्षा पर्दा प्रथा को आत्मसात किए हुए है। कहानी के अंत में रक्षा को पर्दा प्रथा की बुराइयों का एहसास होता है- “सावित्री ने कुछ भी आपत्ति न की, चुपचाप उसके साथ चल दी।.. यहीं पर मुझे स्वतंत्रता से सांस लेने का वरदान मिला। यह जगह मेरे लिए मंदिर से भी बढ़कर है।”¹² इस प्रकार रक्षा के हृदय परिवर्तन द्वारा पर्दा प्रथा की बुराइयों को उजागर किया गया है।

रवींद्रनाथ ठाकुर की कहानी ‘लेन-देन’ मानवीय संबंध को अर्थ के बटखरे से तौलने के विरुद्ध एक करारा व्यंग्य है। कहानी की नायिका निरुपमा अपने पिता की 6वीं संतान है। वह पांच भाइयों के बाद उत्पन्न हुई है। पिता ने निरुपमा का विवाह एक संपन्न परिवार के इकलौते लड़के से 10 हजार में तय किया है। किंतु बाद में समझी ने इतनी कम राशि लेने से इंकार कर दिया। दवा के अभाव में वह अधिक दिनों तक जीवित न रह सकी। “घर की बड़ी बहू मरी है, खूब धूमधाम के साथ अंत्येष्टि क्रिया की गई।... रामसुंदर को तसल्ली देते वक्त लोग, उनकी लड़की का कैसे धूमधाम के साथ दाह हुआ था, इसी बात की तारीफ के पुल बांधते गए।”¹³ इस कहानी में लेखक ने अर्थ के समक्ष मानव के मूल्य को दो कौड़ी का बताया है। हमारे समाज में बस इतना ही महत्व एक मनुष्य के जीवन का है। यह कहानी हमारे सामाजिक व्यवस्था पर एक धारदार वार है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पत्रिका में प्रकाशित विभिन्न विधाओं के माध्यम से सामाजिक कुप्रथाओं, महिलाओं की दशाओं एवं राजनीतिक उलटफेर के प्रति जनसमुदाय को सचेत एवं जागरूक करना संपादक का उद्देश्य रहा है। चतुर्वेदी जी का उद्देश्य केवल साहित्य निर्माण का नहीं था बल्कि वे साहित्य निर्माण के साथ-साथ राष्ट्र का निर्माण भी करना चाहते थे। उनके इस उद्देश्य को पूर्ण करने में पत्रिका सबसे सशक्त साधन बनी और घर-घर को देश में हो रहे परिवर्तनों से अवगत कराया। इस प्रकार पत्रिकाओं द्वारा उठाए गए विभिन्न मुद्दों के प्रति जनसमुदाय जागरूक हुआ और अपने देश के उद्धार के लिए अग्रसर हुआ।

संदर्भ:

1. जयप्रकाश मिश्र, हिंदी पत्रकारिता और विशाल भारत, प्रेसिडेंसी विश्वविद्यालय, 2021, तीसरा अध्याय, पृ. 104
2. विश्वमित्र उपाध्याय, भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन और हिंदी साहित्य, प्रगतिशील जन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1989, पृ. 330
3. वही, पृ. 330

4. बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत, नवंबर, 1928, प्रवासी प्रेस, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता, पृ. 668
5. बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत, फरवरी, 1929, प्रवासी प्रेस, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता, पृ. 145
6. बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत, जून, 1928, प्रवासी प्रेस, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता, पृ. 713
7. बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत, सितंबर, 1928, प्रवासी प्रेस, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता, पृ. 382
8. बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत, अप्रैल, 1932, प्रवासी प्रेस, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता पृ. 305
9. बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत, फरवरी, 1928, प्रवासी प्रेस, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता, पृ. 190
10. बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत, जनवरी, 1928, प्रवासी प्रेस, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता, पृ. 23
11. बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत, जून, 1929, प्रवासी प्रेस, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता, पृ. 758
12. बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत, फरवरी, 1930, प्रवासी प्रेस, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता, पृ. 268
13. बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत, अप्रैल, 1929, प्रवासी प्रेस, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता, पृ. 469



सुरेन्द्र सिन्ध के संस्मरणात्मक आलेख तथा रचनात्मक संघर्ष और सांस्थानिक उपेक्षाओं के प्रश्न

- पंकज कुमारी चौधरी*
- रमेश कुमार गुप्ता**

संक्षिप्ति :

सुरेन्द्र सिन्ध के संस्मरण इस बात की तस्दीक करते हैं कि एक ओबीसी (अन्य पिछड़ा वर्ग) को भी जाति-दंश का सामना कमोबेश दलित जातियों में जन्म लेने वाले व्यक्तियों की तरह करना पड़ता है। यह जाति-दंश व्यक्ति के कॉलेज, विश्वविद्यालय, नौकरी, करियर, लेखकीय जीवन को तबाह कर सकता है; अगर उसके पास अपने परिवार, समाज और समुदाय के लिए कुछ करने का जज्बा नहीं हो। ये संस्मरण एक ओर यदि हमें दुखी करते हैं कि जीवन कितना कठिन है, तो वहीं दूसरी ओर प्रेरित भी करते हैं कि इन्हीं के बीच से जीवन का निर्माण करना मानीखेज और महत्वपूर्ण है।

बीज शब्द : जाति, ओबीसी, दलित-बहुजन, सामाजिक न्याय, उपेक्षा, कॉलेज, विश्वविद्यालय, अस्मिता।

संस्मरण गद्य की एक ऐसी नई विधा है जिसे लेखक अपनी यादों और अनुभवों के आधार पर लिखता है। यह आत्मकथा से भिन्न होता है क्योंकि इसमें लेखक के पूरे जीवन की कथा नहीं कही जाती है बल्कि इसे किसी विशेष घटना, व्यक्ति, विषय, परिवेश, दृश्य या विशेष कालखंड पर केंद्रित करके लिखा जाता है। संस्मरण इतिहास से भी अलग है। इसमें लेखक के नितांत निजी अनुभव, भावनाएं, संवेदनशीलता और दृष्टिकोण मायने रखते हैं न कि सिर्फ तथ्यों का संकलन।

“संस्मरण’ शब्द का संबंध स्मृति से है। सम्यक स्मृति की वह अमिट छाप जिसे शब्दों द्वारा साहित्यिक ढंग से अभिव्यक्त किया जाए, संस्मरण कहलाती है। किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, दृश्य और परिवेश को जब आत्मीयतापूर्ण रूप से याद किया जाए और उसका विवेचन कलात्मकता के साथ हो तो वह संस्मरण बन जाता है। दूसरे शब्दों में, अनुभव और स्मृति के आधार पर रचित साहित्य को संस्मरण कह सकते हैं। भावाभिव्यक्ति संस्मरण को अधिक रोचक और भावपूर्ण बना देती है। ‘अतीत का अनुभव’ रोचक प्रसंग के रूप में वर्णित किया जाए तो वह संस्मरण की संज्ञा पाता है। हिंदी में संस्मरण लेखन बहुचर्चित और लोकप्रिय विधा रही है।”

☆ शोधार्थी, हिंदी विभाग, बाबासाहेब भीमराव अम्बेदकर, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

☆☆ शोध पर्यवेक्षक, आरडीएस कॉलेज, बाबासाहेब भीमराव अम्बेदकर, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

सुरेंद्र स्निग्ध के कवि, उपन्यासकार और आलोचक को बगैर उनके संस्मरणात्मक आलेखों को पढ़े नहीं जाना जा सकता। स्निग्ध के रचना संसार को जानने-समझने और उसका मूल्यांकन करने के दृष्टिकोण से भी उनके संस्मरणात्मक आलेखों से गुजरना जरूरी है। उनके संस्मरणात्मक आलेखों को पढ़ने पर पता चलता है कि उनकी कविताओं, उपन्यासों और आलोचनात्मक समझ एवं उसकी वैचारिकी की जड़ कहाँ है। उनके संस्मरण इतने शक्तिशाली हैं कि उनकी रचनाओं के उत्स को समझने के लिए ये टॉर्च का काम करते हैं।

हमारी दृष्टि का निर्माण हमारा अतीत, जीवन और परिवेश करते हैं और इसका निर्माण बहुत हद तक तभी हो जाता है जब हम बचपन को जी रहे होते हैं। स्कूल तथा कॉलेजों की शिक्षा प्राप्त कर रहे होते हैं। इसके बाद का जीवन जिसमें अनुभव और अध्ययन दोनों शामिल हैं, हमारी दृष्टि को मजबूती, प्रखरता और परिपक्वता प्रदान करता रहता है। सुरेंद्र स्निग्ध के बचपन का जीवन जिस सामाजिक पिछड़ेपन और अभावों के परिवेश में गुजरा वह स्कूल और कॉलेजों की शिक्षा के दौरान ओबीसी पृष्ठभूमि के कारण और ज्यादा कटु एवं कठिन हो गया। लेखकीय जीवन में उनकी प्रतिभा और उनके रचनासंसार की घनघोर उपेक्षा इसलिए की गई क्योंकि वे ओबीसी समुदाय की यादव जाति से आते थे। यही वह आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक संघर्ष था जिसने सुरेंद्र स्निग्ध की दृष्टि के निर्माण में अभूतपूर्व भूमिका निभाई और जिसका दर्शन हम उनके कविता संग्रहों, उपन्यासों और आलोचनात्मक ग्रंथों में कर सकते हैं। उनके साहित्य में सामाजिक न्याय के जिस दर्शन को हम केंद्र में पाते हैं दरअसल वह उनके जीवन का निचोड़ है। इसलिए सुरेंद्र स्निग्ध का साहित्य सच्चा, प्रामाणिक और विश्वसनीय होने का पता देता है।

सुरेंद्र स्निग्ध अपने संस्मरणात्मक आलेखों में जाति के आधार पर उनके साथ हुए अन्याय का खुलकर वर्णन करते हैं। उनका उपन्यास 'छाड़न' जब प्रकाशित हुआ, तब पटना के लेखकों ने जाति दुर्भावना की आड़ में उस पर पोर्नोग्राफी का आरोप लगाकर उसकी उपेक्षा करने की कोशिश की। उपन्यास के प्रकाशक पर कुछ पेशेवर उपन्यासकारों ने उसके वितरण को रोक देने का दबाव बनाया। प्रकाशक को उन्होंने कहा- "आप पोर्नोग्राफी क्यों पसार रहे हैं।"²

सुरेंद्र स्निग्ध उपन्यास 'छाड़न' की उपेक्षा का दूसरा उदाहरण देते हुए लिखते हैं- "अपने उपन्यास की पहली प्रति लेकर मैं बड़े उत्साह से अपने एक वरिष्ठ रचनाकार साथी को देने गया था। इस उपन्यास को करीब-करीब लेने से इनकार करते हुए कहा था कि वे इन दिनों हिंदी के उपन्यासों को नहीं पढ़ते हैं। वे या तो फूटपाथी उपन्यासों को पढ़ते हैं या विश्व के क्लासिक को। मैं रूआंसा-सा हो गया था। मैंने कहा था-आप भले न पढ़ें, आप इसे किसी दूसरे सामान्य पाठक को दे दें या रद्दी में बेच दें।' ये दो प्रसंग ऐसे हैं जिसने मुझे भीतर से झकझोर दिया था।"³

सुरेंद्र स्निग्ध का यह अपमान इस बात का संकेत है कि दलित-बहुजन समाज से आने वाले प्रायः कवि-लेखकों को इस अपमान के दौर से गुजरना पड़ता होगा। यह अपमान और उपेक्षा उनके मनोबल को तोड़ने में बड़ी भूमिका निभाती होगी। हिंदी का लेखक समाज इस कदर जातिवादी और संकीर्ण है कि वह दलित-बहुजन समाज से आने वाले लेखकों के साथ परोक्ष रूप से छुआछूत का व्यवहार करते हुए उनको आगे बढ़ने से रोकने के लिए सारी तिकड़मों का इस्तेमाल कर जाता है। सुरेंद्र स्निग्ध का यह संस्मरण हमें बताता है कि यह भी एक बड़ा कारण है जिसकी वजह से दलित-बहुजन समाज में इतनी बड़ी संख्या में लेखकों के होने के बावजूद उनको वह मान-सम्मान नहीं मिलता जो एक द्विज लेखक को सहज ही प्राप्त हो जाता है।

सुरेंद्र स्निग्ध अपने संस्मरणों में दलित-बहुजन लेखकों के प्रति द्विज लेखकों के मन में घृणा के उमड़ते सैलाबों का एक-से-एक दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। उन्हें मधुबनी की एक संस्था ने जब नागार्जुन पुरस्कार से

सम्मानित करने का निर्णय लिया, तो उसके आयोजक के भोलेपन का पटना के एक चर्चित और महत्वपूर्ण कवि ने मजाक बना दिया था- “सलाहकार कवि ने आयोजक के भोलेपन का मजाक बना दिया था। सलाह दी थी कि नागार्जुन के नाम पर नहीं बल्कि कवि शिरोमणि, कथा सम्राट और गीत सिरमौर जैसी उपाधि से पटना के तीन रचनाकारों को अलंकृत कर दें। जाहिर तौर पर जिन तीन रचनाकारों का नाम सुझाया गया था उनमें से सभी पिछड़ी जाति के थे। एक तो उसमें रचनाकार थे ही नहीं।”⁴

सुरेंद्र स्निग्ध अपने संस्मरणों के जरिए पटना के लेखकों के असली चरित्र और व्यवहार का भंडाफोड़ करते हैं। यहाँ इस बात को कहने की जरूरत है कि वे जिन लेखकों के चरित्र और व्यवहार को उजागर करते हैं वे सभी के सभी हिंदी के राष्ट्रीय स्तर पर स्वनामधन्य चेहरे हैं। वे अपने इस चरित्र और व्यवहार का इस्तेमाल देश के सभी कोनों के दलित-बहुजन लेखकों पर करते हैं। इतना ही नहीं उनकी रचनाओं को पढ़ने पर पता चलेगा कि दलित-बहुजन अस्मिता, अधिकारों, आंदोलनों और उनके नायकों के प्रति उनके मन में हिकारत है। उनके यहाँ सामाजिक न्याय और उनके नायकों के प्रति व्यंग्य और कटुक्तियों की भरमार है। सुरेंद्र स्निग्ध के ये संस्मरण ऐसे लेखकों, कवियों की प्रगतिशीलता, जनवादिता को सवालों के घेरे में खड़े करते हुए उनके दोहरे चरित्र को बेनकाब करने का काम करते हैं।

सुरेंद्र स्निग्ध को पग-पग पर उपेक्षाओं का घूंट पीना पड़ा है। उनकी उपेक्षा और अपमान उन सभी दलित-बहुजनों की उपेक्षा और अपमान है जो एक कवि-लेखक के रूप में संघर्ष करते हैं। पटना में दिवंगत कहानीकार नरेन की ‘संवेदना’ संस्था के बैनर तले उनका जब एकल काव्य-पाठ आयोजित किया गया था, तब उनकी कविताओं पर टिप्पणी करने की बजाय वहाँ उपस्थित कवियों ने दुनिया-जहान की बातों में ज्यादा दिलचस्पी ली थी- “मैंने अपनी कुछ चुनी हुई मंज़ौले कद की कविताओं का पाठ किया था। पाठ के बाद एक छोटा-सा वक्तव्य- मैं आज की हिंदी कविता के ‘महामहौच्छव’ में बाहर खड़ा टकटकी लगाए खाते और डकारते लोगों को देख रहा हूँ।” मेरे इस काव्य वक्तव्य से पूरी गोष्ठी में सन्नाटा जैसा पसर गया था। बाद में जिन कवियों ने मेरी कविताओं पर बातचीत की उनमें से किसी ने मेरी कविता पर एक पंक्ति नहीं कही। वे सिर्फ इधर-उधर, दुनिया-जहान और व्यक्तिगत संबंधों की बातें करते रहे। यह मेरे प्रति उनका उपेक्षा भाव था।”⁵

सुरेंद्र स्निग्ध के संस्मरणों के जरिए हम समझ सकते हैं कि माहौल कितना संगीन और भयावह है। आज के साहित्यकार कितने टुच्चे, दुष्ट और संवेदनहीन हैं। वे अपने जातिवादी चरित्र को हरेक जगह कैसे अप्लॉय करते हैं। उनके चरित्र और व्यवहार स्निग्ध जैसे कवि-लेखकों को संवेदित, दुखी और आक्रोशित करते हैं। दलित-बहुजन समाज से आने वाले प्रतिभाशाली कवियों-लेखकों को कैसे किल कर दिया जाता है और उनके प्रति द्विज लेखकों का कैसा रवैया और एट्टीट्यूड होता है सुरेंद्र स्निग्ध के संस्मरण उसकी शिनाखा करते हैं।

बहुजन समाज से आने वाले कवि-लेखक सुरेंद्र स्निग्ध ने जैसा जीवन जीया वैसा उन्होंने लिखा। ऐसा जीवन कमोबेश सभी दलित-बहुजन लेखकों को जीना पड़ता है लेकिन उसके दश को लिखने का साहस स्निग्ध जैसे बिरले लेखक ही कर पाते हैं। स्निग्ध ने जाति दश को अपने कॉलेज के दिनों से ही झेलना शुरू कर दिया था। एमए में उनके सर्वप्रथम आने पर एक प्रोफेसर की टिप्पणी थी कि विभाग की गरिमा नष्ट हो गई-पता नहीं कहाँ का है वो बैकवर्ड लड़का, टॉप कर गया- “हिंदी विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष जाने-माने कवि भी थे, चाहते थे उनका कोई सजातीय छात्र परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान पाए, यह नहीं हो पाया था। मैं एम.ए. में सर्वप्रथम आ गया था। मुझे अच्छी तरह याद है इस परीक्षाफल पर एक शिक्षक ने टिप्पणी की थी कि विभाग की गरिमा नष्ट हो गई-पता नहीं कहाँ का है वो बैकवर्ड लड़का, टॉप कर गया। वे मुझे पहचानते नहीं थे और मैं उनके बगल में खड़ा था। पहली बार मुझे अहसास हुआ एक बैकवर्ड के रूप में मुझे चिह्नित किया जा रहा

है। यह दंश बाद में भी मैंने झेला।”⁶

प्रसिद्ध कथाकार और संपादक राजेंद्र यादव ने एक बार ‘हंस’ के अपने संपादकीय में लिखा था कि विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग ज्ञान की कब्रगाह हैं। उनके कहने का मतलब था कि यहाँ ज्ञान की कोई पूछ नहीं है। यहाँ पढ़ने-लिखने और शोधकार्य से किसी शिक्षक का कोई लेना-देना नहीं है बल्कि यहाँ जाति, धर्म और धन-बल की पूछ है। विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में ज्ञान की यदि पूछ होती तो वहाँ किसी खास जाति के ही शिक्षक पिछले 30-40 वर्षों से विभागाध्यक्षों की कुर्सी पर विराजमान नहीं होते। हिंदी विभागों में यदि ज्ञान की पूछ होती तो वहाँ से एक-से-एक शोध प्रबंध निकलकर लोगों के सामने होते। वहाँ यदि ज्ञान और प्रतिभा की पूछ होती तो सुरेंद्र स्निग्ध जैसे प्रतिभाशाली और टॉपर छात्र को सम्मानित करने की बजाय जातिसूचक कटुक्तियों से अपमानित नहीं किया जाता। भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों के हिंदी और अन्य विभागों का यही हाल है। वहाँ रोहित वेमुला जैसे दलित-बहुजन छात्रों का इतना अपमान और उपेक्षा होती है कि उसे आत्महत्या के लिए मजबूर होना पड़ता है। आज शायद ही कोई दिन ऐसा होता होगा जब दलित-बहुजन छात्र-छात्राओं की खुदकुशी की खबरें नहीं आती होंगी।

विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में नियुक्ति का भी बुरा हाल है। सुरेंद्र स्निग्ध को एम.ए. में टॉप करने के बाद भी नौकरी के लिए दर-दर की ठोकें खानी पड़ीं। वे नौकरी के लिए भी जहाँ आवेदन करते, उनकी जाति का भूत उससे पहले ही वहाँ पहुँच चुका होता। एक वाक्या बताते हुए वे कहते हैं- “मगध विश्वविद्यालयों में नियुक्ति के लिए विज्ञापन निकला था। तीस से अधिक रिक्तियाँ थीं। मैं इंटरव्यू देने गया था। गया मैं पहली बार जा रहा था। मेरे कवि मित्र अरुण कमल मेरे साथ थे। इंटरव्यू के पूर्व जब कागजों की जांच हो रही थी, उस कर्मचारी ने मेरी ओर आश्चर्य से देखा था और मेरे नाम के साथ जातिसूचक शब्द को देखकर टिप्पणी की थी-शेरा के जंगल में आप कहाँ घुसे आ रहे हैं? बोर्ड में इंटरव्यू चल रहा था। एक्सपर्ट थे हमारे वि.वि. के ही तत्कालीन अध्यक्ष। मुझसे किसी सदस्य ने कोई सवाल नहीं पूछा। एक्सपर्ट ने सिर्फ इतना कहा-यह विद्यार्थी मेरे वि.वि. का टॉपर है, मैं कोई सवाल नहीं पूछूंगा। मेरा इंटरव्यू समाप्त हुआ। मेरा इंटरव्यू समाप्त हुआ। किसी ने कोई सवाल नहीं पूछा। कुछ दिनों के बाद पैनल प्रकाशित हुआ। मेरा चयन नहीं हुआ था।”

पिछले दिनों एक समाचार प्रकाशित हुआ था जिसमें बताया गया कि देश की राजधानी और केंद्रीय विश्वविद्यालय दिल्ली में एक भी प्रोफेसर ओबीसी वर्ग से नहीं है। समाचार में यह भी बताया गया था कि वि.वि. में अनुसूचित जनजाति-जाति और ओबीसी बैकलॉग के हजारों पद खाली हैं। इस समाचार से पता चलता है कि ज्ञान के मंदिर में कितना अन्याय और अंधकार पसरा हुआ है। सुरेंद्र स्निग्ध का एक अदद प्राध्यापक पद के लिए दर-दर की ठोकें खाना इस समाचार का एक जीता-जागता प्रमाण है। ज्ञान के दरवाजे को दलित-बहुजन वर्ग के लिए किस तरह बंद किया जाता है सुरेंद्र स्निग्ध की कहानी उसकी पुष्टि करती है। आज तो स्थिति और भी विकट तथा भयावह हो चुकी है। कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के दरवाजे दलित-बहुजनों के लिए नॉट फाउंड सुटेबल (एनएफएस) बताकर बंद किए जा रहे हैं। कांग्रेस के मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह ने देश के शिक्षा संस्थानों में जब अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) को प्रवेश और नौकरी में आरक्षण व्यवस्था को लागू किया था, तब उसका सबसे अधिक विरोध जेएनयू के एक प्रोफेसर ने किया था। अब सवाल यह पैदा होता है कि इन स्थिति-परिस्थितियों में विश्वविद्यालयों में कोई ओबीसी कैसे प्रोफेसर पद तक पहुँच पाएगा? कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में अनुसूचित जनजाति, जाति और ओबीसी के बैकलॉग के हजारों पदों को क्या वहाँ बैठे प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, कुलपति और प्रशासक कभी भरने देंगे? सुरेंद्र स्निग्ध के संस्मरणात्मक आलेखों में इन सारे सवालों के जवाब छुपे हुए हैं।

सुरेंद्र स्निग्ध कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में जातीय भेदभाव की कितनी अनुल्लंघनीय दीवारें खड़ी हैं इसका अपने संस्मरणों में एक-से-एक दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। उनके प्राध्यापक बनने में उनकी दलित-बहुजन पृष्ठभूमि कैसे बार-बार आड़े आती रही, उसका उन्होंने अपने संस्मरणों में पूरी बेबाकी और तल्ख अंदाज में वर्णन किया है- “पटना विश्वविद्यालय में नियुक्ति के लिए विज्ञापन निकला। सिर्फ दो रिक्तियाँ थीं। मैं आश्वस्त था कि यहाँ तो मेरी बहाली हो जाएगी। मैंने इंटरव्यू दिया। बोर्ड में हमारे विभागाध्यक्ष बैठे थे। एक्सपर्ट के रूप में रांची विश्वविद्यालय के हिंदी के अध्यक्ष बैठे थे। ये रांची से पहले पटना कॉलेज में हिंदी के अध्यक्ष थे। जहाँ मैं छात्र था। एक प्रतिकूल टिप्पणी के कारण मेरे साथ वे पहले से खार बैठे थे। खैर, यहाँ का भी पैनाल प्रकाशित हुआ और दोनों अध्यक्ष और विशेषज्ञ ने अपनी-अपनी जाति के अभ्यर्थियों के लिए बांट ली। यह था मेरे जीवन का एक ऐसा पक्ष जिससे जातीय भेदभाव के प्रति मेरे मन में नफरत की भावना घर कर गई।”⁸

भारत की जाति-व्यवस्था ने पूरे देश को लील लिया। इस देश की सारी फसाद की जड़ जाति है। हजारों सालों से दलितों-बहुजनों की अस्मिता और उनके बुनियादी अधिकारों तक को कितनी बेदर्दी और बेरहमी से कुचला गया है उसका लेखा-जोखा करने के लिए कोई भी संख्या कम पड़ जाएगी। इसके बावजूद जब किसी स्वनामधन्य और महान कवि-लेखक-बुद्धिजीवी के मुखारबिंद से यह सुनने को मिलता है कि कहां है जाति, जाति तो कब का मिट गई, तब शर्म और ग्लानि से मुंह छिपाने को मन करता है। संविधान निर्माता बाबासाहेब भीमराव आम्बेडकर ने कहा है कि दुनिया में क्रांतियों का नेतृत्व बुद्धिजीवियों ने किया है लेकिन बुद्धिजीवी दुष्ट भी होते हैं। बाबासाहेब आम्बेडकर का भारत के संदर्भ में यह मंतव्य है कि यहाँ कोई क्रांति तो नहीं हुई है लेकिन यहाँ के बुद्धिजीवी दुष्ट हैं और इसका साक्ष्य उनके द्वारा रचित ‘मनुस्मृति’ जरूर दे देती है। ब्राह्मणों ने मनुस्मृति के जरिए इस देश के दलित-बहुजनों को सदियों से गुलाम बनाने का उपक्रम किया है। सुरेंद्र स्निग्ध के संस्मरणात्मक आलेख भारतीय समाज, शिक्षा संस्थानों और लेखकीय दुनिया में पसरे वर्णाश्रमी व्यवस्था और मनुवाद की पोल-पट्टी खोलने का काम करते हैं।

सुरेंद्र स्निग्ध के पूरे जीवन में संघर्ष है। वे गांव, परिवार, समाज, स्कूल, कॉलेज, नौकरी, लेखकीय जीवन हरेक जगह संघर्ष करते हैं। उनकी अत्यधिक संवेदनशीलता उनके संघर्ष को मार्मिक बनाकर पेश करती है। माता-पिता का साया बचपन में उठ जाने के कारण उनकी पढ़ाई-लिखाई का बंदोबस्त उनके बड़े भाई ने किया, जिनके प्रति उनसे जितना हो सका, कृतज्ञ रहने की कोशिश की। अपने भतीजे की कैसर से मृत्यु हो जाने पर वे बहुत भावुक हो जाते हैं। एक तरफ अपने करियर का संघर्ष और दूसरी तरफ 13-14 साल के भतीजे का कैसर से मौत के गाल में समा जाना उन्हें तोड़ने की कोशिश करता है- “तेरह-चौदह साल का मेरा भतीजा रक्त कैसर से पीड़ित था-एक्यूटल्यूकीमिया-मेरे साथ मेरे छोटे से कमरे में अपनी लाइलाज बीमारी से जूझता था और प्रत्येक दिन पटना मेडिकल कॉलेज अस्पताल का चक्कर लगाता था। मुझे पता था कि वह धीरे-धीरे मृत्यु के करीब पहुंच रहा है। उसी समय मैंने कहानी लिखी थी ‘सेमल के फूल’। आपातकाल की एक रात थी। देर रात तक वह बच्चा लौटकर नहीं आया था कमरे तक। सड़कों पर सन्नाटा पसरा रहता था। मैं बाहर निकलकर उसकी प्रतीक्षा कर रहा था कि अचानक देखा ‘सारिका’ पत्रिका का अंक लिए डरा हुआ और सहमा हुआ आ रहा था। कमरे की ओर। पूछने पर उसने कहा कि उसके हाथ से वह प्रति गिर गई थी और पानी में भीग गई थी। वह सड़क के किनारे किसी अंगीठी में उसे सुखा रहा था, ‘सारिका’ के सेंसर्ड पन्ने। इसीलिए देर हो गई। मैं करीब-करीब फफक उठा था। उसका शरीर तवे की तरह तपता था रात में। वह अकेले ही अस्पताल जाता था और मैं चला जाता था पटना कॉलेज।”⁹

सुरेंद्र स्निग्ध के संस्मरणों को पढ़ने पर निराला की काव्य-पंक्तियां याद आती हैं- ‘दुख ही जीवन की कथा

रही, क्या कहूँ आज जो नहीं कही।' सुरेंद्र स्निग्ध के दुखों को महसूस कर दलित-बहुजन समाज में जन्में अन्य कवि-लेखकों के दुखों और संघर्षों का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है। दलित-बहुजन समाज में जन्में कवि-लेखकों के पास एक तो उनके स्वयं का दुख होता है, दूसरा परिजनों का दुख, तीसरा समाज और देश का दुख और चौथा जाति-जनित दुख होता है। ये सारे दुख उनके संघर्ष को सामान्य लोगों की अपेक्षा कई गुना ज्यादा बढ़ा देते हैं जिससे वे दोहरा, तिहरा अभिशाप को झेलते रहने को संतप्त रहते हैं। इसलिए सुरेंद्र स्निग्ध के इन संस्मरणों को कमोबेश सम्पूर्ण दलित-बहुजन समाज के संवेदनशील और पढ़े-लिखे लोगों का संस्मरण समझना चाहिए।

सुरेंद्र स्निग्ध आजीवन एक प्रतिबद्ध कवि-लेखक और संस्कृतिकर्मी की भूमिका में रहे। वे मजदूर-किसानों और दलित-बहुजन वर्ग के प्रति मरते दम तक आबद्ध, सम्बद्ध और प्रतिबद्ध रहे। उन्होंने उन आंदोलनों और संगठनों से किनारा कर लिया जिन्होंने मूल्यों और व्यवस्था से समझौता किया। वे प्रगतिशील लेखक संघ से इसलिए अलग हो गए क्योंकि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) ने तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी द्वारा लागू किए गए आपातकाल का समर्थन किया। सुरेंद्र स्निग्ध का जयप्रकाश नारायण के सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन से इसलिए मोहभंग हो गया क्योंकि उन्हें लगा कि जेपी आंदोलन की केंद्रीय धुरी दक्षिणपंथ की है।

“प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े साहित्यकारों ने इस आंदोलन का समर्थन नहीं किया था। इस लेखक संगठन का यह कदम अंततः सत्ता के पक्ष में चला गया था। मेरे जैसे कई रचनाकार प्रगतिशील लेखक संघ के इस कदम से सहमत नहीं थे और धीरे-धीरे जेपी आंदोलनों के अंतर्विरोधों पर टिप्पणी करने लगे थे और सांस्कृतिक संगठन के तीसरे विकल्प पर गंभीरतापूर्वक सोचने लग गए थे। नचिकेता, भोजपुर के विजेंद्र अनिल, दिल्ली के गोरख पांडेय, उत्तर प्रदेश के अजय सिंह, कथाकार विजयकांत, अरुण प्रकाश, केशव रत्नम, राजकुमार, रवि भूषण जैसे दर्जनों रचनाकार थे जो इस किसान संघर्ष को अग्रगति प्रदान करने के लिए एक सांस्कृतिक धारा विकसित करने की कोशिश में लगे हुए थे। हम समझने लगे थे कि जेपी आंदोलन की केंद्रीय धुरी दक्षिणपंथ की थी। तमाम प्रतिक्रियावादी शक्ति इस आंदोलन से जुड़ गई थीं और प्रगतिशील सोच पार्श्व में चली गई थी। हमें अच्छी तरह याद है इस आपातकाल के दरम्यान अभिव्यक्ति की मौलिक स्वतंत्रताएँ छीन ली गई थीं। हिंदी की कई महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ संसरशीप का दंश झेल रही थीं। ‘दिनमान’ और ‘सारिका’ जैसी पत्रिकाओं के उस समय के अंक देखे जा सकते हैं।”¹⁰

सुरेंद्र स्निग्ध और उनके समानधर्मा लेखक प्रगतिशील लेखक संघ से मुक्त होने के बाद उसके ठोस और मजबूत विकल्पों पर सोचने लगे थे। वे एक ऐसे विकल्प की तलाश में थे जिसे सीधे-सीधे जनता से कनेक्ट किया जा सके। वे लेखकों, बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों को बिहार के गांवों में चल रहे किसान आंदोलन के पक्ष में खड़ा करना चाहते थे। वे लेखकों और बुद्धिजीवियों को वातानुकूलित कमरों से निकालकर खेत-खलिहानों में किसानों और मजदूरों की चल रही लड़ाई से सम्बद्ध करना चाहते थे। इस कार्य में उन्हें सफलता मिली और ‘नवजनवादी सांस्कृतिक मोर्चा’ के नाम से एक सांस्कृतिक संगठन के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई-

“आपातकाल की अवधि में ही प्रगतिशील लेखक संघ से मेरा वैचारिक मतभेद बढ़ गया था। 1977 में महेश्वर जैसे पॉलिटिकल एक्टिविस्ट पटना विश्वविद्यालय के बी.एन. कॉलेज में प्राध्यापक बनकर आ चुके थे। बी.एच.यू. से आए महेश्वर राजनीतिक रूप से नक्सलवादी आंदोलन की विचारधारा से जुड़े हुए थे और पटना आने के बाद इस तरह की विचारधारा वाले लेखकों से संपर्क साध रहे थे, इसी समय मेरे छोटे-से आवास पर इनका आना-जाना शुरू हुआ था। वैकल्पिक रूप से एक नई धारा की तलाश शुरू हो गई थी। हमलोगों ने

मिलकर इस धारा की शक्तियों की तलाश शुरू कर दी और 'नवजनवादी सांस्कृतिक मोर्चा' के नाम से एक ढीले-ढाले सांस्कृतिक संगठन के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो गई। इस संगठन का उद्देश्य था बिहार के गांव के निर्णायक किसान आंदोलन के पक्ष में बुद्धिजीवियों की जमात को खड़ा करना।¹¹

'नवजनवादी सांस्कृतिक मोर्चा' कालांतर में एक ऐसा मोर्चा साबित हुआ जिसने राजनीतिक संगठनों से लेकर कई सांस्कृतिक संगठनों के निर्माण में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। इस मोर्चे से सबसे पहले 'हिरावल' नामक सांस्कृतिक संस्था का उद्भव हुआ जिसने नुक्कड़ नाटकों के मंचन का कार्यभार संभाला और कई प्रतिभाशाली कलाकारों का निर्माण करते हुए उन्हें राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाई। 'हिरावल' ने पूरे देश में, खासकर बिहार में खेत-खलिहानों और मजदूर-किसानों के बीच जाकर हजारों नुक्कड़ नाटकों का मंचन किया। हिरावल की टीम ने गीत-संगीत की रचनाओं में भी सराहनीय योगदान दिया है। नवजनवादी सांस्कृतिक मोर्चा की प्रेरणा से ही पटना में नक्सलवादी आंदोलन से जुड़े नेताओं का भी जमावड़ा होना शुरू हुआ। इसी मोर्चे से जन संस्कृति मंच (जसम) जैसे एक बड़े लेखक संगठन का उदय हुआ। मोर्चे ने ही इंडियन पीपुल्स फ्रंट (आईपीएफ) और सीपीआई (एमएल), माले जैसे राजनीतिक संगठनों को जन्म दिया-

"मेरी रचना की गति यहीं से बदली। लेखकों के एक नए संगठन निर्माण की तैयारी लोगों ने मिलकर की। महेश्वर अब (स्वर्गीय), नचिकेता, राणा प्रताप, जितेन्द्र राठौर आदि ने मिलकर 'नवजनवादी सांस्कृतिक मोर्चा' बिहार का गठन किया। इस संगठन के माध्यम से हमने संस्कृति-कर्मियों का एक नया 'हिरावल' तैयार करने की कोशिश की। रचनाकारों को जनसंघर्षों से जोड़ने का मुहिम तेज किया। हम पटना में नक्सलवादी आंदोलन से जुड़े नेताओं के धीरे-धीरे केंद्र के रूप में विकसित होने लगे। राष्ट्रीय स्तर पर जन संस्कृति मंच का गठन और देशभक्त जनवादी मोर्चा से लेकर इंडियन पीपुल्स फ्रंट होते हुए सीपीआई (माले) के निर्माण के बीज बिंदुओं में से छोटा-सा कण कहीं मैं भी था। जीवन के दस खूबसूरत वर्ष इस संगठन के निर्माण में लगाए। यहाँ भी घोर अंतर्विरोध थे। राजनीति और संस्कृति के अंतर्संबंधों पर लगातार बहसें होती रहीं- निष्कर्ष वही ढाक के तीन पात। यह लेखक संगठन भी पार्टी का एक सांस्कृतिक संगठन बनकर रह गया। कई तरह की संकीर्णताएँ, गुटबाजी तथा संवेदनहीनता ने इस संगठन को निरंतर संकुचित ही बनाया। दस वर्ष की सांगठनिक सक्रियता ने लेखन के स्तर पर मुझे कुंद बना दिया था।' हम आपसी विवाद संगठन में सुलझा नहीं सके। मेरे जैसे कई लोग जो इस संगठन के निर्माण के बीज बिन्दु थे, संगठन से हट गए या हटा दिए गए।¹²

कवि-लेखक सुरेंद्र स्निग्ध का जीवन उस नदी की तरह रहा जिसका प्रवाह कभी रुकता नहीं। उनको जितनी उम्र मिली जीवन की खोज में उन्होंने एक से एक प्रयोग किए। वे कभी बैठे नहीं। वे सदैव चलते रहे। समाज और देश को बदलने के लिए उन्हें दूसरों को जितनी जरूरत थी उससे कहीं अधिक दूसरों को उनकी जरूरत थी। वे एक ठस बुद्धिजीवी नहीं थे जो साहित्य को राजनीति से निरपेक्ष मानते हैं। वे साहित्य में राजनीतिक दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण मानते थे इसलिए उन्होंने एक बुद्धिजीवी के नाते उस राजनीतिक पार्टी का साथ लेने से कभी परहेज नहीं किया जो जनवादी, प्रगतिशील, सामाजिक न्याय और धर्मनिरपेक्षता की राजनीति में विश्वास करती है। सुरेंद्र स्निग्ध को जब लालू प्रसाद यादव के नेतृत्व वाले 'राष्ट्रीय जनता दल' से जोड़ा जाने लगा और उनकी सम्बद्धता को लेकर कई तरह के कयास लगाए जाने लगे, तो उनका जवाब होता था-

"मैं निरंतर राजनीतिक सोच में जनसंघर्षों के साथ रहा हूँ। किसी मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य नहीं होने का मतलब व्यवस्था से जुड़ी हुई पार्टी का सदस्य हो जाना नहीं है। प्रेम और अपनी प्रेयसी/पत्नी आलोका बनर्जी का जिक्र आते ही वे कहते हैं- प्रेम जीवन संघर्ष का ही एक अंग है। जो संघर्षों से जुड़ा होगा वही प्रेम की संवेदना को समझेगा भी। मेरे दूसरे संकलन 'कई कई यात्राएँ' में संकलित कविताओं का एक

खंड अपनी पत्नी के लिए भी है, जिसमें जीवन और मौत से जूझती हुई वह किस तरह मृत्यु पर विजय पा सकी। मेरी कविता इसी विजय की कविता है। मेरी कविताओं में मृत्यु अब मुझे डराती नहीं बल्कि वह अधिक ऊर्जा प्रदान करती है। मेरा दाम्पत्य जीवन प्रेम की इसी ऊर्जा का जीवन है। शुरू-शुरू आलोका भी नक्सली संगठन से जुड़ी रहीं। मेरा घर कभी राजनीतिक सेंटर हुआ करता था। मेरी पत्नी ने कई मित्रों के साथ संघर्ष के इलाकों में कविता यात्रा भी की है। थाने में बंद भी रही हैं। लेकिन जब मैं और मेरी पत्नी गंभीर रूप से बीमार हुए इस राजनीतिक संगठन के एक भी नेता को फुर्सत नहीं थी कि वे आकर हमारा हाल-चाल पूछें। डॉ. स्निग्ध कहते हैं- मेरी जीवन दृष्टि और जीवन-दर्शन यहाँ से भी बदलता है।”¹³

सुरेंद्र स्निग्ध सीपीआई (एमएल), नक्सली संगठन और जन संस्कृति मंच से अलग होने के कई कारण बताते हैं। इन संगठनों के नेताओं और कार्यकर्ताओं के व्यवहार भी उन्हें बहुत दुखी करते हैं। स्निग्ध कवि-लेखक-बुद्धिजीवी बाद में हैं लेकिन उसके पहले वे भी हाड़-मांस का पुतला हैं। उनकी भी भावनाएँ हैं, संवेदना है, गुस्सा है और वे एक मानवीय जीव हैं। वे इस बहाने सांस्कृतिक संगठन और राजनीतिक पार्टियों की संवेदनहीनता और मूल्यहीनता को भी उजागर करते हैं जिसका आरोप आए दिनों उन पर लगता रहता है। उनके जीवनानुभव उनके जीवन-दर्शन का निर्माण करते हैं। वे उन्हें तोड़ते नहीं बल्कि उनकी सोच और दृष्टि को परिमार्जित और परिपक्व करते रहते हैं। जिसका दर्शन हम उनकी कविताओं में, खासकर प्रेम कविताओं में कर पाते हैं। निजी सुख-दुख, उपेक्षाओं, अपमानों और पराजयों से संघर्ष करते हुए वे अपनी सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों और साहित्यिक लेखन को जारी रखते हैं।

निष्कर्ष

कवि, उपन्यासकार, आलोचक सुरेंद्र स्निग्ध के संस्मरण आगाह करते हैं कि अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) समाज में जन्में उन सभी सार्वजनिक व्यक्तित्वों को अपने जीवनानुभवों को संस्मरण के रूप में दर्ज करना चाहिए, जिन्हें पग-पग पर जाति दंश का सामना करना पड़ता है। अभी तक हम यही पढ़ते आए हैं कि जाति दंश के भुक्तभोगी सबसे अधिक अनुसूचित जाति में जन्में नागरिक होते हैं, इसलिए उनका साहित्य जाति के आधार पर किए गए अपमानों, उपेक्षाओं, अन्याय, भेदभाव, शोषण, अत्याचारों से भरा होता है। लेकिन सुरेंद्र स्निग्ध को पढ़कर इस बात की तस्दीक होती है कि ओबीसी समाज में जन्में नागरिकों को भी जाति के आधार पर भेदभाव का कम सामना नहीं करना पड़ता है। यह बात अलग है कि अनुसूचित जातियों के साथ भेदभाव आनुपातिक रूप से अधिक होता होगा। सुरेंद्र स्निग्ध को इस उपेक्षा और भेदभाव का सामना कॉलेज, विश्वविद्यालय, नौकरी, सांस्कृतिक और राजनीतिक संगठन सब जगह करना पड़ता है। एक समय तो उन्हें ऐसा लगने लगा कि ओबीसी समाज में जन्म लेना कहीं अभिशाप तो नहीं है। लेकिन जीवन की राहों में आयी बाधाओं और रुकावटों से वे पार पाते गए। यह सोचकर कि प्रकृति उनसे कोई बड़ा काम करवाना चाहती है और उसके लिए वह मुझे तैयार कर रही है। वह आश्वस्त हो जाना चाहती है कि आगे जो चुनौतीपूर्ण काम मुझे सौंपने जा रही है उसके लायक मैं हूँ कि नहीं। सुरेंद्र स्निग्ध को उनके जीवन-संघर्ष और सांस्थानिक उपेक्षाओं ने ऐसा फौलाद बना दिया कि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उनके रचनाकार ने अपने आप को सींचने का काम किया। उनके रचनात्मक संघर्ष और सांस्थानिक उपेक्षाओं का ही परिणाम है उनका महत्वपूर्ण और साहसिक साहित्य, जो 6 कविता संग्रहों, 2 उपन्यासों, 3 आलोचनात्मक कृतियाँ और कई पत्रिकाओं के संपादन में अनुस्यूत है।

संदर्भ:

1. प्रो. असद माजदा, गद्य की नई विधाओं का विकास, ग्रंथ अकादमी, पुराना दरियागंज, नई दिल्ली, 1986, पृ.

2. रमणिका गुप्ता (सं.), युद्धरत आम आदमी, रमणिका फाउंडेशन, 1516 पहली मंजिल, वजीर नगर, कोटला मुबारकपुर, नई दिल्ली-03, अंक-37, सितंबर-2016, पृ. 83
3. वही, पृ. 82
4. वही, पृ. 83
5. वही, पृ. 83
6. वही, पृ. 78
7. वही, पृ. 78
8. वही, पृ. 78
9. वही, पृ. 77
10. वही, पृ. 76-77
11. वही, पृ. 79
12. जागत नींद न कीजै, सुधा प्रकाशन, कैलाश मार्केट, दरियापुर, पटना, 2008, पृ. 13
13. वही, पृ. 13-14



मोन्पा भाषा की समृद्ध लोककथाओं का समाज-सांस्कृतिक अनुशीलन

○ पेमा छोइकी लामा*

संक्षिप्ति :

यह लेख अरुणाचल प्रदेश की एक प्रमुख जनजाति मोन्पा जनजाति की भाषा में उपलब्ध लोककथाओं के समाज-सांस्कृतिक अनुशीलन पर केन्द्रित है। भाषाएँ हमेशा पुल का काम करती हैं, यानि जोड़ती हैं। भाषा विभिन्न संस्कृतियों को जोड़ती हैं। भाषा एक देश से दूसरे देश को जोड़ने का काम करती है। इस प्रकार भाषा एक सेतु का कार्य करती है। मोन्पा लोगों के पास भोटी भाषा है परन्तु इसमें केवल धार्मिक ग्रंथों का संकलन मात्र है। भोटी भाषा में धार्मिक साहित्य ही सुरक्षित है परन्तु मोन्पा समुदायों का लोक साहित्य इस भाषा में संग्रहीत नहीं है। सभी आदिवासी समाजों के वाचिक या मौखिक साहित्य में हजारों वर्षों का लोक ज्ञान संचित है तथा दुनिया भर के जनजातीय समाजों में लोक-साहित्य की विपुल परंपरा मौजूद है। इस लोकसाहित्य के माध्यम से हम मोन्पा समाज की सामाजिक संरचना, भाषा की समृद्धि, सांस्कृतिक मूल्य तथा धार्मिक महत्व को समझ सकते हैं।

बीज शब्द : मोन्पा भाषा, लोकसाहित्य, लोककथा, बौद्ध धर्म, समाज, संस्कृति, धर्म धार्मिक अनुशीलन।

मोन्पा भाषा अरुणाचल प्रदेश के तवांग और पश्चिम कामेंग जिले में बोली जाने वाली एक प्रमुख जनजातीय भाषा है। यह भाषा तिब्बती-बर्मी भाषा परिवार से संबंधित है। तीन अलग क्षेत्रों में रहने के कारण मोन्पा लोगों को तीन नामों से जाना जाता है। तवांग क्षेत्र में रहने वाले मोन्पा लोगों को तवांगपा नाम से संबोधित करते हैं, दिरांग में रहने वाले मोन्पा लोगों को दिरांगपा तथा कलकतांग क्षेत्र में रहने वाले मोन्पा लोगों को कलकतांगपा या छांगला नाम से संबोधित किया जाता है। ये सभी बौद्ध धर्म के विभिन्न मतों के अनुयायी हैं। इनकी भाषा में भिन्नता देखने को मिलती है। मोन्पा समुदाय के पास कहने को भोटी भाषा तो है और इसमें लेखन कार्य भी हो रहा है किन्तु यह धार्मिक क्षेत्र में ही सीमित है। यह भोटी असल में किसी एक समुदाय की भाषा नहीं है बल्कि यह पूरे हिमालय क्षेत्र में बौद्ध धर्म की भाषा है। इसमें केवल धार्मिक ग्रंथों का संकलन ही उपलब्ध है। भोटी भाषा, धर्म, अध्ययन, अध्यापन और दर्शन की भाषा तो बन गयी लेकिन इतने बड़े हिमालय के इस

☆ शोधार्थी, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोईमुख, अरुणाचल प्रदेश।

विराट क्षेत्र में रहने वाले लोगों की बोलचाल की भाषा नहीं बनी। लोग बोल-चाल के लिए अपने-अपने समुदायों की पारंपरिक रूप से विकसित हुई भाषा का ही प्रयोग करते हैं।²

मोन्पा जनजाति अरुणाचल प्रदेश की एक प्रमुख जनजाति है। ये तवांग और पश्चिम कामेंग जिले में निवास करते हैं। ये बौद्ध धर्म की महायान शाखा में आस्था रखते हैं। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि मोन्पा नाम तिब्बतवासियों का दिया हुआ है। उन्होंने दक्षिणी क्षेत्र में रहने वाले लोगों को मोन्पा नाम से संबोधित किया। भोटी भाषा में मोन्पा का अर्थ है निम्न भूमि का निवासी। 'मोन'- यानि 'नीचे की भूमि' और 'पा' यानि 'संबंधित'। ये मंगोल नस्ल के लोग हैं। लामा इनके आध्यात्मिक गुरु तथा दिशानिर्देशक होते हैं। मोन्पा लोग अनेक त्यौहार मनाते हैं। लोसर और छोइखोर इनका प्रमुख त्यौहार है। रहने का क्षेत्र भिन्न होने के कारण इनकी भाषा में भी भिन्नताएं देखने को मिलती हैं। तवांग क्षेत्र के लोगों द्वारा तवांगपा बोली, बोली जाती है, दिरांग के लोग दिरांगपा बोली तथा कलकतांग में रहने वाले कलकतांगपा बोली बोलते हैं। दिरांगपा बोली और कलकतांगपा बोली में समानताएं देखने को मिलती हैं। साथ ही कलकतांग क्षेत्र में बोली जाने वाली मोन्पा भाषा पूर्वी भूटान में बोली जाने वाली भाषा से मिलती-जुलती है।

मोन्पा समुदाय की सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक चेतना, धार्मिक विश्वास आदि का सजीव चित्रण उनके लोकसाहित्य में देखने को मिलता है। मोन्पा लोकसाहित्य अत्यंत समृद्ध, विविधतापूर्ण और जीवन से गहराई से जुड़ा हुआ है। इसके अंतर्गत लोककथाएं, लोकगीत, लोकगाथाएं, कहावतें, पहलियाँ, लोकोक्तियाँ, मिथक, किंवदंतियाँ तथा अनुष्ठानिक प्रक्रिया प्रमुख रूप से शामिल हैं। ये मौखिक परंपरा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही है। यदि हम मोन्पा लोककथाओं का गहनता से अध्ययन करें तो हमें पता चलता है कि इन कहानियों में बौद्ध दर्शन, नैतिक मूल्य, करुणा, अहिंसा शुभ-अशुभ और सत्य की विजय की भावना देखने को मिलती है। इनमें से अधिकांश चीजें केवल मोन्पा लोक-साहित्य में ही नहीं अपितु सभी आदिवासी लोक-साहित्य में देखने को मिलती हैं। हर लोकसाहित्य में एक दर्शन, नैतिक मूल्य तथा एक उद्देश्य निहित होता है। हर लोक-कथा सही-गलत, नैतिक-अनैतिक और कुछ न कुछ विशेष शिक्षा दे जाती है। ये लोक-कथाएं वर्तमान को अतीत से जोड़ती हैं।³ लोक-कथाओं के रचनाकार अज्ञात होते हैं। वे असंख्य हैं। मौखिक परंपरा में प्रचलित, राजा-रानी, पशु-पक्षी, देव-दानव, चमत्कार आदि, अंत में कोई न कोई नीति या संदेश, स्थानीय भाषा और लोकसंस्कृति की सरल अभिव्यक्ति होते हैं।

कहानी उन महत्वपूर्ण चीजों में से एक है जिसने मनुष्य-सभ्यता की स्मृति और बुद्धिमत्ता को जीवित रखने में सहायता की है। यह मानव मूल्य की पहचान को सुरक्षित रखती है। यह मौखिक रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही है। कहानी मनुष्य सभ्यता की सबसे पुरानी अभिव्यक्ति रही है। कहानियों का जन्म तो मनुष्य से भी पुराना है।⁴ हम असल में कहानियों से घिरे हुए हैं। बिना कहानियों के मानव-सभ्यता की कल्पना करना ही असंभव है। मनुष्य के मनुष्य बनने की भी एक कथा है।⁵ कहानियां, पहले से ही मनुष्य की संगी-साथी रही हैं और आज तक कायम हैं। मनुष्य अपनी खुशियाँ, अपने दुखों, हार, जीत, पीड़ा और उल्लास के क्षणों को इन्हीं कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त करता आया है और उसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया है।

अरुणाचल प्रदेश के जनजातीय समाज में लिपि के अभाव के कारण ये कहानियां स्मृति के रूप में ही सुरक्षित रहती हैं और समयानुकूल परिवर्तित और परिवर्धित भी होती रहती हैं। सभी समाजों के लोकसाहित्य में आलस्य से बचने के लिए कहानी कही जाती है। आलस्य, मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है। मोन्पा समाज में एक कहावत है जो आलसी लोगों को संबोधित करके कही जाती है, 'फक्पा दका हंगया कदोंग' अर्थात् 'सूअर की तरह आलसीपन' यानि मोन्पा समाज में आलसी व्यक्ति की सूअर से तुलना की जाती है। इसलिए जो व्यक्ति

आलसीपन में ज्यादा सोए रहते हैं, उन्हें यह कहकर सजग किया जाता है कि 'उठो वरना आने वाले जन्म में सूअर के रूप में पैदा होंगे'। एक सुस्त व्यक्ति जब कर्मठी होने लगता है तो उसके साथ सकारात्मक चीजें घटित होती हैं। इसे एक कहानी के माध्यम से बताया गया है। कहानी का नायक 'थांगशिंग योन्तन' एक बहुत ही आलसी व्यक्ति था। उसकी माँ हमेशा उससे कहती थी कि सोए रहने से कुछ नहीं होने वाला, सोये रहने से अच्छा है उठ जाओ, उठकर बैठने से अच्छा है चल-फिर लो। यह सुनकर थांगशिंग योन्तन एक सुबह उठकर बाहर झाँकता है तो उसे कौओं का झुण्ड दिखाई पड़ता है तो वह वहाँ जाकर देखता है तो वहाँ उसे घी (बटर) रखा हुआ मिलता है। वह उस घी को पाकर बहुत खुशी से अपनी माँ के पास जाकर यह सारा प्रकरण कह सुनाता है। माँ अपने बेटे की प्रसन्नता को देखकर फूले न समाती है, मगर दिखाती नहीं है। अब थांगशिंग योन्तन खुशी और उत्साह में आकर हल जोतने खेत में जाता है और वहाँ जैसे ही हल जोतता है, वहाँ एक 'नायु' (एक प्रकार का नीले रंग का मोती) उसके हाथ लगता है। उसे लेकर वह घर पहुँचता है और माँ से कहता है कि वह इस मोती को बेच कर आएगा। वह निकल पड़ता है- रास्ते में उसकी मेन्छा त्सोंगपा (मिथुन बेचने वाला) से मुलाकात होती है। वह अपने मोती का उस मेन्छा त्सोंगपा के साथ अदान-प्रदान कर लेता है। फिर मेन्छा को घोड़े से, घोड़े को बकरी से, बकरी को मुर्गी से और अंत में एक तोक्ची लुंग (ओखली का पत्थर) लेकर घर पहुँचता है। इससे माँ नाराज हो जाती है और माँ के मुँह से अपने बेटे के लिए नालायक शब्द निकल जाता है। इससे थांगशिंग योन्तन गुस्से में आकर अपनी माँ पर अपने लाये तोक्चीलुंग को फेंक देता है जो सीधा उसकी माँ के घुटनों पर जाकर लगता है। घुटनों से एक तक्ताक्पा (मेंढक) निकलकर आग के चूल्हों के पास जाकर बैठ जाता है। माँ के घुटनों में सूजन होकर कई दिनों से दर्द रहता था। तक्ताक्पा के निकल जाने से वह दर्द एकदम ठीक हो जाता है। अब तक्ताक्पा माँ से यह कहकर निकलता है कि 'मैं आपके लिए बहू लेने जा रहा हूँ'। दूर दराज के एक गाँव में एक राजा की तीन राजकुमारियाँ होती हैं। तक्ताक्पा को छोटी वाली दूंगी ल्हामो पसंद आती है। वह राजा के महल के बाहर के बरामदे से कहता है "खुची खुची ग्यालपो नागा जामिन फुन्दोंग"⁵ जब राजा अपनी बेटी देने से इंकार कर देता है तो तक्ताक्पा रो पड़ता है। उसके रोने से तेज बारिश होने लगती है और बारिश रुकते ही जोरों का तूफान आ जाता है। जब राजा अपनी छोटी बेटी को देने के लिए राजी हो जाता है तब तक्ताक्पा रोना बंद कर देता है तो बारिश और तूफान थम जाते हैं। फिर राजा के मुकर जाने से तक्ताक्पा हंसने लगता है, तक्ताक्पा के हंसने पर बहुत तेज धूप होकर जमीन से आग निकलने लगती है। इस तरह अंत में ग्यालपो अपनी छोटी बेटी का हाथ तक्ताक्पा के हाथ में देने को बाध्य हो जाता है। अब तक्ताक्पा अपनी बहू को साथ लेकर घर पहुँचता है। एक दिन तक्ताक्पा अपनी माँ से कहता है कि सुना है गाँव में तीन दिनों के लिए नृत्य आयोजन किया गया है। क्यों नहीं आप और छिमिन (बहू) उसमें हो आते हैं। तक्ताक्पा उन्हें जाने का रास्ता बता देता है और दोनों सास-बहू उस कार्यक्रम में जाते हैं। कार्यक्रम तीन दिन का होता है। तीसरे दिन पता चलता है कि जो नृत्य दिखा रहा है, जो दिखने में सबसे सुंदर है वह तक्ताक्पा ही है। अब दूंगी ल्हामो को गुस्सा आ जाता है कि इसने अपना अस्तित्व हमसे छिपा कर रखा। इसी गुस्से में घर आकर वह तक्ताक्पा की खाल जला देती है। अब तक्ताक्पा वहाँ से नाच-गान छोड़-छाड़ के आता है और कहता है कि इसे जलाओ नहीं, इसे यब (ऊपरी छत) में फेंको। ऐसा करने से छत पूरा अनाज से भर जाता है। फिर खाल को पंगथांग (आंगन) में फेंकने से पूरा पंगथांग गाय-घोड़े से भर जाता है। इस तरह वह अत्यंत अमीर व्यक्ति बन जाता है। असल में तक्ताक्पा एक संज्ञे (भगवान/देवता) का रूप होता है। इसीलिए तक्ताक्पा को मोन्पा समाज में शुभ माना जाता है। इस कहानी से यह सीख मिलती है कि मनुष्य को आलस्य नहीं करना चाहिए। इसके साथ ही यह बात स्पष्ट होती है कि संज्ञे किसी भी रूप में आ सकते हैं। मनुष्य को जीवन में कभी भी किसी के

भी द्वारा शिक्षा मिल सकती है। यदि मनुष्य अपने जीवन में घटित होने वाली घटनाओं पर गौर करे और चिंतन करे तथा कर्मठ रहे तो उसका जीवन सकारात्मक रूप से बदल सकता है।

इसी तरह की एक कहानी है 'छालूम बुमो'। इस कहानी में भी एक व्यापारी छालूम (संतरा) लेने जा रहा है, तभी रास्ते में एक बूढ़ी औरत को मदद की आवश्यकता होती है। व्यापारी उसकी मदद करता है। इसी से खुश होकर बूढ़ी उसे आशीर्वाद देती है कि 'छालूम बुमो नोंगचो न' अर्थात् तुम्हें छालूम बुमो मिले। फिर वह छालूम बुमो को लेने जाता है। वहां देखता है कि संतरे के पेड़ से बहुत सारे संतरे नीचे की ओर आकर कहते हैं 'मैं हूँ छालूम बुमो, मैं हूँ छालूम बुमो'। मगर उसी बीच में एक संतरा यह कहती है कि 'मैं नहीं हूँ, मैं नहीं हूँ'। यह कहकर वह ऊपर की ओर जाती है (यहाँ छालूम बुमो स्त्रीलिंग है)। उसी को पकड़कर 'छालूम छोंगपा' (व्यापारी) अपने साथ लाता है। छोंगपा उसे नहीं खाता है। उस संतरा यानि छालूम बुमो को देखकर वह मार्मिक प्रेम की भावना से भर जाता है और वह उसे लाकर अपने घर के 'छोइषम' (पूजा घर) में धूप (अगरबत्ती) दिखाकर उसकी पूजा करता है। दिन-ब-दिन उस व्यापारी की आर्थिक स्थिति ठीक होती जाती है। असल में 'छालूम बुमो' एक देवी का रूप होती है। इसीलिए मोन्या लोक में यह कहा जाता है कि जो फल सबसे ऊपर और अकेला होता है उसे पहले भगवान को चढ़ाना चाहिए।

इस तरह की एक अन्य कहानी में संतरे का एक व्यापारी संतरे का व्यापार करता था। एक रोज सुबह एक अजगर उसका रास्ता रोक देता है और वह अजगर उस व्यापारी से उसकी बेटी की मांग करता है और निस्सहाय पिता यह प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है। घर आकर वह ये सारी बातें अपनी पत्नी और बेटी से कहता है। बेटी अपने पिता का मान रखते हुए उस अजगर के साथ रहने चली जाती है। वहां अजगर उसे बहुत खुश रखता है। अंत में यहाँ भी वही होता है जैसा 'दूंगी ल्हामो' के साथ हुआ था। यहाँ भी अजगर एक संगजे का ही रूप होता है, एक मनुष्य होता है। इस तरह दोनों खुशहाल जिन्दगी व्यतीत करने लगते हैं।

मोन्या जनजाति की इन लोक-कथाओं में दैवीय चरित्र दिखाई देते हैं। साथ ही ये दैवीय चरित्र मनुष्य और मनुष्येतर चीजों से बहुत गहरे से जुड़े हुए हैं। ऐसे मिथकीय चरित्र अरुणाचल प्रदेश की दूसरी जनजातियों की लोक-कथाओं में भी देखने को मिलते हैं। मनुष्य अपने पर्यावरण से बहुत प्रभावित होता है और वह उससे एक सामंजस्य बिठाए रखने का आकांक्षी होता है। यह भी एक कारण है कि वह प्रकृति से जुड़े हुए विभिन्न तत्वों के साथ एक दैवीय संबंध निर्मित करता है। ये कहानियां यह बताती हैं कि मनुष्य को स्वयं पर विश्वास होने के साथ-साथ दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए। ये कहानियां संदेश देती हैं कि यदि आप अपने आस-पास के लोगों से अच्छा और निःस्वार्थ व्यवहार करते हैं तो इसका सकारात्मक परिणाम आपके जीवन में दिखाई देगा। मनुष्य केवल स्वयं के बारे में न सोचे बल्कि वह अपने साथ उपस्थित अन्य चीजों से भी संपृक्तता महसूस करे और उसका उचित निर्वाह करे, इसका संदेश ये सभी लोककथाएं देती हैं। मोन्या समाज के लिए ये लोककथाएं जीवन, समाज और संस्कृति के क्षेत्र में दिग्दर्शक का कार्य करती हैं।

संदर्भ:

1. 'मदद मांगती है ये दोन्यी की बेटी', (आलेख), डॉ. अभिषेक कुमार यादव, सत्राची, अंक 44 एवं 45, अप्रैल-सितम्बर, 2025, सत्राची फाउंडेशन, पटना, पृ. 116
2. 'मदद मांगती है ये दोन्यी की बेटी', (आलेख), डॉ. अभिषेक कुमार यादव, सत्राची, अंक 44 एवं 45, अप्रैल-सितम्बर, 2025, सत्राची फाउंडेशन, पटना, पृ. 117
3. 'मदद मांगती है ये दोन्यी की बेटी', (आलेख), डॉ. अभिषेक कुमार यादव, सत्राची, अंक 44 एवं 45,

अप्रैल-सितम्बर, 2025, सत्राची फाउंडेशन, पटना, पृ. 115

4. 'मदद मांगती है ये दोन्यी की बेटी', (आलेख), डॉ. अभिषेक कुमार यादव, सत्राची, अंक 44 एवं 45, अप्रैल-सितम्बर, 2025, सत्राची फाउंडेशन, पटना पृ. 115
5. शोधार्थी द्वारा संकलित लोककथा 'थांगशिग योन्तन' [श्रीमती देछिन पेमा, गाँव- डेमाचांग (कलकतांग)], शुक्रवार, 09/05/2025, 7:19pm
6. शोधार्थी द्वारा संकलित लोककथा 'छालूम बुमो' [श्रीमती देछिन पेमा, गाँव- डेमाचांग (कलकतांग)], वृहस्पतिवार, 15/05/2025, 7:00pm
7. शोधार्थी द्वारा संकलित लोककथा 'केपा द्रूल' [श्रीमती उर्जेन वांगजोम, गाँव- डेमाचांग (कलकतांग)], सोमवार, 19/05/2025, 5:00pm



अरुणाचल प्रदेश की तागिन जनजाति में वैश्वीकरण और सांस्कृतिक संक्रमण

○ कंचन दुई* ○ आशन रिद्धि**

अनुवाद : डॉ. अरविंद***

संक्षिप्ति :

वैश्वीकरण समकालीन विश्व की एक सर्वव्यापी प्रक्रिया बन चुका है और आधुनिक सभ्यता में यह एक चर्चित अवधारणा के रूप में उभरा है। धन, विचारों, संस्कृति तथा वस्तुओं और लोगों की गतिशीलता में वृद्धि के कारण विश्व के विभिन्न समाज, सरकारें और राष्ट्र परस्पर अधिक निकट संपर्क में आ रहे हैं। वैश्वीकरण की यह प्रक्रिया भारत के उत्तर-पूर्वी राज्य अरुणाचल प्रदेश तक भी पहुँच चुकी है, जो अपनी सांस्कृतिक विविधता और विभिन्न जनजातियों की परंपराओं के लिए जाना जाता है।

ऊपरी सुबनसिरी जिले के पर्वतीय भू-भाग में निवास करने वाली तागिन जनजाति अरुणाचल प्रदेश की उन अनेक जनजातियों में से एक है, जिन्होंने वैश्वीकरण के प्रभाव में अपनी संस्कृति में तीव्र परिवर्तन का अनुभव किया है। इस अध्ययन के निष्कर्ष यह दर्शाते हैं कि वैश्वीकरण का तागिन समाज और संस्कृति पर दूरगामी प्रभाव पड़ा है, जिसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के परिणाम सामने आए हैं। अतः यह शोध-पत्र वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप अरुणाचल प्रदेश की तागिन जनजाति में आए सांस्कृतिक परिवर्तनों का अध्ययन करने का प्रयास करता है।

बीज शब्द : वैश्वीकरण, संस्कृति, तागिन, अरुणाचल प्रदेश, परंपराएँ और सांस्कृतिक मूल्य।

‘उदीयमान पर्वतों की भूमि’ के नाम से प्रसिद्ध अरुणाचल प्रदेश भारत के उत्तर-पूर्वी छोर पर स्थित एक पर्वतीय राज्य है, जो विशाल हिमालयी पर्वत शृंखलाओं की गोद में बसा हुआ है। 2011 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार, अरुणाचल प्रदेश की लगभग 68.79 प्रतिशत जनसंख्या अनुसूचित जनजातियों की है। इस कारण यह राज्य मुख्यतः एक जनजातीय राज्य के रूप में जाना जाता है, जहाँ 26 प्रमुख जनजातियाँ और लगभग 100 उप-जनजातियाँ निवास करती हैं, जो राज्य के 26 जिलों में फैली हुई हैं।

☆ शोधार्थी, इतिहास विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोना हिल्स, दाईमुख, अरुणाचल प्रदेश।

☆☆ प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय (एक केंद्रीय विश्वविद्यालय), रोना हिल्स, दाई मुख, अरुणाचल प्रदेश- 791112

☆☆☆ सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय (एक केंद्रीय विश्वविद्यालय)

माना जाता है कि अरुणाचल प्रदेश की सभी जनजातियाँ एक ही मूल वंश से संबंधित हैं, जिनकी नस्लीय उत्पत्ति तिब्बती और बर्मी मंगोलॉयड समूह से जुड़ी हुई है। प्रवासन की प्रक्रिया के दौरान विभिन्न समूह अलग-अलग दिशाओं में चले गए और इस प्रकार उन्होंने अपनी विशिष्ट संस्कृति का विकास किया।

तागिन जनजाति अरुणाचल प्रदेश के ऊपरी सुबनसिरी जिले में निवास करने वाली ऐसी ही एक जनजाति है, जिसकी जीवन-पद्धति और संस्कृति पीढ़ियों से चली आ रही है। यह जनजाति 1947 में भारतीय स्वतंत्रता के बाद भी लंबे समय तक ऐतिहासिक अभिलेखों से लगभग अनुपस्थित रही। वर्ष 1953 की अचिंगमोरी घटना के बाद ही तागिन जनजाति ने व्यापक भारतीय इतिहास में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई।

1950 के दशक के पश्चात् तागिन समाज में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा प्रशासनिक स्तर पर महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिले। इन परिवर्तनों का सबसे स्पष्ट प्रभाव सांस्कृतिक क्षेत्र में दिखाई देता है, जहाँ प्राचीन परंपराएँ और सांस्कृतिक मूल्य वैश्वीकरण के प्रभाव में संक्रमण के दौर से गुजर रहे हैं। अतः यह शोध-पत्र अरुणाचल प्रदेश की तागिन जनजाति में वैश्वीकरण के सांस्कृतिक प्रभावों और उनके परिणामों का विश्लेषण करने का प्रयास करता है।

संस्कृति की अवधारणा को समझने के लिए प्रारंभिक नृवंशशास्त्रीय अध्ययन अत्यंत सहायक सिद्ध होते हैं। प्रारंभिक काल में संस्कृति से संबंधित अध्ययन मानव समाज के विकास, जीवन-शैली और व्यवहार प्रतिरूपों को समझने में सहायक सिद्ध हुए हैं। इस संदर्भ में एडवर्ड बी. टायलर की प्रसिद्ध पुस्तक प्रिमिटिव कल्चर (1871) का उल्लेख किया जा सकता है, जो संस्कृति की अवधारणा को समझने के लिए एक आधारभूत ग्रंथ मानी जाती है।

टायलर ने संस्कृति को मानव द्वारा अर्जित व्यवहार-प्रणालियों के समग्र रूप में परिभाषित किया और इसे सीखी गई टायलर ने अपनी पुस्तक में संस्कृति की एक व्यापक परिभाषा प्रस्तुत करते हुए एकरेखीय विकास मॉडल का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार समस्त मानव समाज एक ही आदिम अवस्था से विकसित होकर विभिन्न स्तरों तक पहुँचे हैं। उन्होंने विश्व की विभिन्न सभ्यताओं की भाषाओं, धार्मिक अनुष्ठानों और विश्वास प्रणालियों का अध्ययन करते हुए सांख्यिकीय आँकड़ों का प्रयोग किया तथा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सभी संस्कृतियों में विकास का एक सार्वभौमिक प्रतिरूप विद्यमान है। प्रिमिटिव कल्चर का प्रथम खंड सामाजिक विकास, भाषा और मिथकों पर केंद्रित है, जबकि द्वितीय खंड में समाज में आत्मा, आत्मिक शक्तियों और देवताओं से संबंधित विविध विश्वासों अर्थात् ऐनिमिज्म की व्याख्या की गई है।

टैरी ईगलटन की पुस्तक द आइडिया ऑफ कल्चर (2000) संस्कृति की विभिन्न अवधारणाओं का विश्लेषण करती है और समकालीन सांस्कृतिक विमर्शों को समझने में सहायता प्रदान करती है। इस कृति में लेखक ने संस्कृति के विभिन्न अर्थों और व्याख्याओं का विश्लेषण करते हुए आधुनिक काल में संस्कृति के बढ़ते महत्व के कारणों की समीक्षा की है। ईगलटन ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि क्यों वर्तमान समय में संस्कृति एक केंद्रीय विमर्श बन गई है और साथ ही यह भी प्रस्तावित किया है कि संस्कृति को उसकी वास्तविक भूमिका और सीमाओं के भीतर समझा जाना चाहिए। यह पुस्तक संस्कृति से जुड़े समकालीन बौद्धिक विमर्शों को सामान्य पाठकों के लिए सरल रूप में प्रस्तुत करती है।

अल्फ्रेड लुई क्रोएबर और क्लाइड क्लकहोहन की पुस्तक कल्चर: ए क्रिटिकल रिव्यू ऑफ कॉन्सेप्ट्स एंड डेफिनिशन्स (1985) संस्कृति की उत्पत्ति, उसके विकास और सामाजिक परिवर्तन में उसकी भूमिका पर प्रकाश डालती है। क्रोएबर ने संस्कृति की व्यापकता को रेखांकित करते हुए यह स्पष्ट किया है कि इसका प्रभाव मनोविज्ञान, इतिहास, भाषाविज्ञान, चिकित्सा और समाजशास्त्र जैसे विविध विषयों तक फैला हुआ है। यह

कृति मानव संस्कृति की एक समग्र व्याख्या प्रस्तुत करती है और सामाजिक विज्ञानों की आधारशिला के रूप में संस्कृति की भूमिका को रेखांकित करती है।

वैश्वीकरण और संस्कृति के संबंध को समझने हेतु अर्जुन अप्पादुराई की कृति मॉडर्निटी ऐट लार्ज (1996) एक महत्वपूर्ण संदर्भ है, जो वैश्वीकरण के सांस्कृतिक आयामों और कल्पना की सामाजिक शक्ति को रेखांकित करती है। इस पुस्तक में लेखक ने वैश्वीकरण के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए एक नवीन सैद्धांतिक ढाँचा प्रस्तुत किया है। अप्पादुराई के अनुसार, आधुनिक विश्व में कल्पना एक सामाजिक शक्ति के रूप में कार्य करती है, जो नई पहचान निर्मित करने और राष्ट्र-राज्य की सीमाओं से परे वैकल्पिक सामाजिक संरचनाओं के निर्माण में सहायक होती है।

अप्पादुराई ने वैश्वीकरण के वर्तमान युग को जनसंख्या के व्यापक प्रवासन और इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों की तीव्रता से संचालित युग के रूप में परिभाषित किया है। उन्होंने लोकप्रिय उपभोग की प्रवृत्तियों, बहुसंस्कृतिवाद से जुड़े विमर्शों तथा जातीय संघर्षों को वैश्विक संदर्भ में समझने के नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। इस पुस्तक में यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार जीवन-शैली, लोकप्रिय संस्कृति और आत्म-प्रतिनिधित्व की छवियाँ मीडिया के माध्यम से वैश्विक स्तर पर प्रसारित होती हैं और विभिन्न समाजों द्वारा उन्हें स्थानीय संदर्भों में अपनाया और पुनः रूपांतरित किया जाता है। यह कृति संस्कृति और सत्ता, परंपरा और आधुनिकता, वैश्विक और स्थानीय जैसे पारंपरिक द्वंद्वों से आगे बढ़कर समकालीन समाज को समझने का मार्ग प्रशस्त करती है।

उत्तर-पूर्व भारत के संदर्भ में वैश्वीकरण और संस्कृति पर के.सी. बराल का लेख 'ग्लोबलाइजेशन एंड फोक कल्चर इन नॉर्थईस्ट इंडिया' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस लेख में लेखक ने वैश्वीकरण के सांस्कृतिक आयामों और उत्तर-पूर्व भारत की जनजातीय लोक-संस्कृतियों पर उसके प्रभावों का विश्लेषण किया है। इसी प्रकार पी.के. नायक का लेख 'द डायलेक्टिक्स ऑफ ग्लोबलाइजेशन इन अरुणाचल प्रदेश' अरुणाचल प्रदेश के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन पर वैश्वीकरण के प्रभावों की पड़ताल करता है। इस लेख में यह दर्शाया गया है कि वैश्वीकरण एक ओर विश्व को एकीकृत अर्थव्यवस्था और संस्कृति की ओर ले जाने का दावा करता है।

तागिन जनजाति से संबंधित उपलब्ध साहित्य इस समुदाय की संस्कृति और सामाजिक संरचना को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अशान रिड्डी की पुस्तक 'द तागिन्स ऑफ अरुणाचल प्रदेश : ए स्टडी ऑफ कंटिन्युइटी एंड चेंज' (2006) तागिन समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करती है तथा आधुनिक काल में आए परिवर्तनों को रेखांकित करती है।

एस. दत्ता चौधरी द्वारा लिखित 'गजेटियर ऑफ इंडिया: अरुणाचल प्रदेश - सुबनसिरी डिस्ट्रिक्ट' (1981) तागिन जनजाति और उसकी सांस्कृतिक प्रथाओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। वहीं एन. सरकार की पुस्तक 'द तागिन्स' (1999) तागिन जनजाति के पारंपरिक जीवन की एक झलक प्रदान करती है।

इस प्रकार उपलब्ध साहित्य न केवल संस्कृति और वैश्वीकरण की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करता है, बल्कि तागिन जनजाति के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को समझने के लिए एक सुदृढ़ आधार भी प्रदान करता है, जिसके आधार पर प्रस्तुत अध्ययन को आगे बढ़ाया गया है।

प्रस्तुत शोध-पत्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

1. वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप अरुणाचल प्रदेश की तागिन जनजाति में आए सांस्कृतिक परिवर्तनों का अध्ययन।
2. इन सांस्कृतिक परिवर्तनों का तागिन समाज के समग्र जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण।

यह शोध-पत्र नृ-ऐतिहासिक तथा अनुभवजन्य प्रकृति का है। इस शोध के लिए प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक आँकड़े अरुणाचल प्रदेश के ऊपरी सुबनसिरी जिले के तागिन बहुल क्षेत्रों में किए गए विस्तृत क्षेत्रीय अध्ययन के माध्यम से एकत्र किए गए।

क्षेत्रीय कार्य के दौरान अनौपचारिक चर्चाएँ, व्यक्तिगत साक्षात्कार, प्रश्नावली, नियोजित एवं अनियोजित साक्षात्कार जैसी विधियों का प्रयोग किया गया। आँकड़ों की प्रामाणिकता सुनिश्चित करने हेतु ऑडियो-वीडियो रिकॉर्डिंग की गई तथा सहमति-पत्र एकत्र किए गए।

वेबस्टर के थर्ड न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी के अनुसार, “संस्कृति मानव व्यवहार और उसके उत्पादों का समग्र प्रतिमान है, जो भाषा, क्रिया और भौतिक वस्तुओं में निहित होता है तथा जिसे सीखने और अगली पीढ़ियों तक ज्ञान के संचरण की मानवीय क्षमता पर आधारित माना जाता है।” वहीं ई. बी. टायलर ने संस्कृति को इस प्रकार परिभाषित किया है- “संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, परंपरा तथा समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य द्वारा अर्जित अन्य क्षमताएँ और आदतें सम्मिलित होती हैं।” इस प्रकार, संस्कृति में मानव द्वारा अर्जित सभी व्यवहार प्रतिरूप सम्मिलित होते हैं; जैसे- भाषा, विश्वास, अनुष्ठान, परंपराएँ, सामाजिक संस्थाएँ, ज्ञान और कौशल, जो किसी समाज की ‘जीवन-शैली’ का निर्माण करते हैं। दूसरी ओर, ‘वैश्वीकरण’ शब्द सामान्यतः विश्व के विभिन्न देशों की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक-सांस्कृतिक प्रणालियों के आपसी एकीकरण को दर्शाता है। यह वस्तुओं और सेवाओं, पूँजी और प्रौद्योगिकी के आदान-प्रदान के साथ-साथ लोगों और संस्कृतियों की बढ़ती अंतःक्रियाओं के माध्यम से वैश्विक सामाजिक-आर्थिक परस्पर निर्भरता की प्रक्रिया है।

अन्य शब्दों में, वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से विविधतापूर्ण विश्व एक एकीकृत समाज में रूपांतरित होता जा रहा है। वैश्वीकरण और तकनीकी परिवर्तन के इस युग में न केवल अर्थव्यवस्थाएँ, बल्कि व्यक्ति और संस्कृतियाँ भी निरंतर वैश्विक स्तर पर संपर्क और अंतःक्रिया में संलग्न हैं।

अरुणाचल प्रदेश अपनी अपार मानवशास्त्रीय समृद्धि के लिए जाना जाता है। यहाँ अनेक जातीय समुदाय और जनजातियाँ निवास करती हैं, जिनमें से प्रत्येक की अपनी विशिष्ट पारंपरिक संस्कृति और विरासत है। लंबे समय तक भौगोलिक अलगाव के कारण अरुणाचल प्रदेश की जनजातियाँ अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परंपराओं को सुरक्षित रखने में सफल रहीं। किंतु भारतीय स्वतंत्रता के कुछ दशकों बाद राज्य में व्यापक परिवर्तन देखने को मिले। तागिन जनजाति भी इस परिवर्तन से अछूती नहीं रही। विशेष रूप से 1962 के भारत-चीन युद्ध के पश्चात्, सरकार द्वारा बड़े पैमाने पर विकास कार्यक्रम प्रारंभ किए गए, जिनका तागिन समाज के सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। तागिन संस्कृति में आए परिवर्तनों को निम्नलिखित सांस्कृतिक घटकों के संदर्भ में समझा जा सकता है:

धार्मिक विश्वास एवं आचार-प्रथाएँ : किसी भी समाज में धर्म और संस्कृति एक-दूसरे के साथ सहअस्तित्व में रहते हैं। जहाँ संस्कृति संपूर्ण सामाजिक जीवन-पद्धति है, वहीं धर्म संस्कृति का ही एक उत्पाद है। धार्मिक विश्वास, अनुष्ठान, वर्जनाएँ, मिथक, पूजा-पद्धति और प्रतीक अपने आसपास की संस्कृति से ही उत्पन्न होते हैं। तागिन जनजाति अपने पारंपरिक धर्म में सी (पृथ्वी), दोनि और पोलो (सूर्य और चंद्रमा) की आध्यात्मिक त्रिमूर्ति में विश्वास करती है। इन्हें सर्वोच्च दैवी शक्तियों के रूप में माना जाता है, जो ब्रह्मांड और जीवन-मरण के चक्र को नियंत्रित करती हैं। इसके अतिरिक्त तागिन लोग अनेक उयू (अंतर्निहित शक्ति) में भी विश्वास करते हैं, जिनका मानव जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव माना जाता है। इन शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए समय-समय पर बलि दी जाती है, जिसमें न्यिबू (पुरोहित) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। पुरोहित

आध्यात्मिक और सांसारिक जगत के मध्य माध्यम के रूप में कार्य करता है। तागिन धर्म में वर्जनाओं का भी अत्यधिक महत्व है, जिनका पालन गर्भावस्था, जन्म, शिकार, विवाह, मृत्यु और अन्य जीवन-चक्र संबंधी क्रियाओं में किया जाता है।

हालाँकि, वैश्वीकरण के प्रभाव से तागिन समाज में धार्मिक विश्वासों और आचार-प्रथाओं में धीरे-धीरे परिवर्तन देखने को मिल रहा है। ईसाई और हिंदू धर्म के प्रभाव से पारंपरिक धार्मिक अनुष्ठानों, पर्वों और विश्वास प्रणालियों में कमी आई है। युवा पीढ़ी में पारंपरिक धर्म के प्रति रुचि घट रही है और कई लोग सामुदायिक अनुष्ठानों में भाग लेने से परहेज करने लगे हैं। इसके परिणामस्वरूप तागिन समाज में पुरोहितों की संख्या में भी गिरावट आई है। साथ ही, पारंपरिक विश्वासों की रक्षा हेतु दोनि-पोलो आंदोलन जैसे प्रयास भी सामने आए हैं, जिनका उद्देश्य स्वदेशी धार्मिक परंपराओं का संरक्षण और पुनरुत्थान करना है।

पर्व-त्योहार : पर्व-त्योहार तागिन समुदाय के सांस्कृतिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। सी-दोनि तागिन जनजाति का प्रमुख पर्व है, जिसे प्रत्येक वर्ष जनवरी के प्रथम सप्ताह में मनाया जाता है। यह पर्व पृथ्वी और सूर्य के प्रति कृतज्ञता का प्रतीक है। सी-दोनि पर्व के दौरान अनुष्ठान, प्रार्थनाएँ, पारंपरिक नृत्य-गीत और सामुदायिक भोज का आयोजन किया जाता है। यह केवल धार्मिक पर्व ही नहीं, बल्कि सामाजिक एकता और सांस्कृतिक पहचान का भी उत्सव है।

समय के साथ-साथ इस पर्व में आधुनिक तत्व भी सम्मिलित हो गए हैं। राजनीतिक नेताओं या प्रसिद्ध हस्तियों को आमंत्रित करना, आधुनिक मनोरंजन कार्यक्रमों और सौंदर्य प्रतियोगिताओं का आयोजन, तथा पारंपरिक गीत-नृत्यों के स्थान पर आधुनिक संगीत का प्रयोग, आज आम हो गया है। इसके अतिरिक्त, दिवाली, होली, क्रिसमस और दुर्गा पूजा जैसे अन्य पर्व भी तागिन समाज में मनाए जाने लगे हैं, जो बढ़ती सांस्कृतिक अंतःक्रिया का परिणाम है।

भाषा (बोली) : पूर्वकाल में तागिन समाज के अधिकांश लोग, चाहे उनका सामाजिक स्तर, लिंग अथवा आयु कुछ भी हो, अपनी तागिन बोली में दक्ष हुआ करते थे। पारंपरिक समाज में छोटे-छोटे बच्चे भी अपने बुजुर्गों से सीखी गई जटिल लोककथाएँ, कहावतें और कथाएँ सहज रूप से सुना सकते हैं। किंतु वर्तमान तागिन समाज में स्थिति काफी भिन्न और दुर्भाग्यपूर्ण हो गई है।

अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि तागिन समाज की वर्तमान पीढ़ी के अनेक लोग अपनी ही मातृभाषा के मूलभूत शब्दों तक का उच्चारण करने में असमर्थ हैं। जिला मुख्यालय दापोरिजो में किए गए सर्वेक्षण के अनुसार, लगभग 85 प्रतिशत उत्तरदाता तागिन बोली के साथ-साथ हिंदी बोलने में सक्षम पाए गए, जबकि लगभग 10 प्रतिशत उत्तरदाता -जिनमें मुख्यतः छोटे बच्चे और किशोर शामिल थे- स्थानीय बोली नहीं बोल पाते थे और हिंदी को ही अपनी संपर्क भाषा मानते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी पाया गया कि समुदाय के कुछ युवा कोरियाई और जापानी जैसी विदेशी भाषाएँ बोलने में सक्षम हैं। इसका प्रमुख कारण वैश्वीकरण के प्रभावकारी माध्यमों- जैसे जनसंचार माध्यम, औपचारिक शिक्षा व्यवस्था और बाजार अर्थव्यवस्था की निरंतर बढ़ती भूमिका मानी जा सकती है, जिसने तागिन समाज में अंतर-सांस्कृतिक संपर्क और भाषायी परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज कर दिया है।

वेशभूषा एवं आभूषण : वैश्वीकरण के प्रभाव से तागिन जनजाति की पारंपरिक वेशभूषा और आभूषणों में उल्लेखनीय परिवर्तन देखने को मिलता है। प्राचीन काल में तागिन लोगों को वस्त्र बुनने की तकनीक का ज्ञान नहीं था, इसलिए वे तिब्बत से व्यापार (न्यीमे) के माध्यम से प्राप्त वस्त्रों पर निर्भर थे, और जिनका रंग प्रायः गहरा लाल या मटमैला होता था।

महिलाएँ इन वस्त्रों को एक कंधे से लपेटकर घुटनों तक धारण करती थीं, जबकि पुरुष नामु नामक तिब्बती कंबल का प्रयोग करते थे। कालांतर में जब तागिन समाज ने बुनाई की कला सीखी, तब महिलाओं ने गाले (एक प्रकार की स्कर्ट या ओढ़नी) और पुरुषों के लिए तंगो/गलुक (कोट) जैसे वस्त्र बुनने शुरू किए, जो दैनिक जीवन में प्रचलित हो गए।

समय के साथ-साथ आधुनिक परिधानों- जैसे पैंट, टी-शर्ट, स्कर्ट, टॉप, कुर्ता और कुर्ती- ने पारंपरिक वस्त्रों का स्थान ले लिया है। आज गाले और गलुक केवल विशेष अवसरों और अनुष्ठानों में ही पहने जाते हैं। साथ ही, पारंपरिक परिधानों के रंग, डिजाइन और शिल्प में भी आधुनिक फैशन के प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

जहाँ तक आभूषणों का प्रश्न है, आज केवल वृद्ध पुरुष और महिलाएँ ही नियमित रूप से पारंपरिक आभूषण पहनते हैं। ये आभूषण सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत मूल्यवान और महंगे माने जाते हैं, इसलिए अब इन्हें मुख्यतः पर्व-त्योहारों, विवाह और धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर ही धारण किया जाता है।

विवाह संस्था : तागिन जनजाति की पारंपरिक विवाह व्यवस्था में वर्तमान समय में गहन परिवर्तन देखने को मिलते हैं। परंपरागत रूप से तागिन समाज में बाल-विवाह, विनिमय विवाह, बलपूर्वक विवाह, लेविराट विवाह और बहुविवाह जैसी प्रथाएँ प्रचलित थीं। किंतु आधुनिक प्रभावों के कारण बाल-विवाह और बहुविवाह की प्रथा में उल्लेखनीय गिरावट आई है।

आज तागिन पुरुष और महिलाएँ न केवल अपने समुदाय के भीतर, बल्कि अरुणाचल प्रदेश के भीतर और बाहर अन्य समुदायों के साथ भी विवाह करने लगे हैं। पूर्व में न्यीदा अनुष्ठान विवाह से पूर्व किया जाता था, जबकि वर्तमान समय में यह अनुष्ठान प्रायः विवाह के पश्चात् संपन्न किया जाता है। वर्तमान तागिन समाज में विवाह सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था की अपेक्षा आर्थिक स्थिति और सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रदर्शन का माध्यम बनता जा रहा है। पारंपरिक वैवाहिक प्रथाएँ धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही हैं। प्रेम-विवाह और पलायन द्वारा विवाह आज सामान्य हो गए हैं। विवाह-पूर्व यौन संबंध, जो पारंपरिक समाज में अत्यंत दुर्लभ थे, अब अधिक प्रचलित हो रहे हैं।

आज विवाह समारोह चर्चों, मंदिरों, न्यायालयों, रेस्तराँ और खुले सार्वजनिक स्थलों पर आधुनिक और पश्चिमी शैली में आयोजित किए जाते हैं। तलाक की घटनाएँ भी बढ़ी हैं, जो परंपरागत तागिन समाज में असामान्य थीं। गर्भपात और परिवार नियोजन जैसी अवधारणाएँ भी अब देखी जाने लगी हैं, जिन्हें पहले अपराध माना जाता था। यद्यपि वधू-मूल्य की परंपरा में परिवर्तन आया है, फिर भी पशु-बलि और विवाह उपहारों के आदान-प्रदान की प्रथा अभी भी जारी है।

खान-पान की आदतें : परंपरागत रूप से तागिन जनजाति झूम कृषि पर निर्भर थी और बाजरा, मक्का, धान, रतालू, कसावा तथा हरी सब्जियों का उत्पादन करती थी। उनके आहार में शिकार का विशेष महत्व था, जिसमें हिरण, जंगली सूअर और पक्षियों का मांस शामिल था। साथ ही वे जंगली फल, मशरूम और जड़ी-बूटियाँ भी एकत्र करते थे। भोजन संरक्षण के लिए मांस, मछली और बाँस की कोपलों को सुखाने और किण्वित करने की पद्धतियाँ अपनाई जाती थीं। चावल, उबली सब्जियाँ, किण्वित बाँस, मांस और जंगली साग-पात तागिन आहार का मुख्य आधार थे।

सड़कों और बाजारों की पहुँच बढ़ने के साथ तागिन समाज में प्रसंस्कृत और पैकेज्ड खाद्य पदार्थों- जैसे नूडल्स, बिस्कुट और अन्य स्नैक्स का उपभोग बढ़ा है। युवा पीढ़ी पारंपरिक कृषि से दूर होती जा रही है और बाजार से खरीदे गए अनाज और सब्जियों पर अधिक निर्भर हो रही है। शिकार, जो कभी आहार का अभिन्न

अंग था, अब वन्यजीव संरक्षण कानूनों और बदलती जीवन-शैली के कारण कम हो गया है। इसके स्थान पर बाजार से मांस खरीदने की प्रवृत्ति बढ़ी है। पिज्जा, बर्गर, ब्रेड, चाय, केक और शीतल पेय जैसे खाद्य पदार्थ विशेष रूप से युवाओं में लोकप्रिय हो गए हैं। इससे पारंपरिक आहार की पोषण-संतुलन व्यवस्था प्रभावित हुई है और स्वास्थ्य संबंधी चिंताएँ उभरने लगी हैं। फिर भी, पारंपरिक खाद्य संस्कृति को संरक्षित रखने के प्रति जागरूकता भी धीरे-धीरे बढ़ रही है।

कला-शिल्प एवं पारंपरिक ज्ञान प्रणाली : कला-शिल्प और पारंपरिक ज्ञान प्रणाली तागिन समाज की सांस्कृतिक रीढ़ मानी जाती है। ये केवल सौंदर्यात्मक प्रयोजनों तक सीमित नहीं थीं, बल्कि सामाजिक पहचान, आध्यात्मिक विश्वास और सतत जीवन-पद्धति का प्रतिनिधित्व करती थीं। यद्यपि प्रारंभिक काल में बुनाई का ज्ञान नहीं था, किंतु समय के साथ महिलाओं ने बाँस से बने करघों पर वस्त्र बुनने की तकनीक विकसित की और वे कुशल बुनकर बन गईं। बाँस और बेंत से टोकरियाँ, चटाईयाँ, पात्र और फर्नीचर तैयार किए जाते थे, जो दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

तागिन समाज की मौखिक परंपराएँ, कृषि संबंधी ज्ञान और जातीय-वनस्पति ज्ञान भी अत्यंत समृद्ध थे। किंतु टेलीविजन, इंटरनेट और सोशल मीडिया जैसे आधुनिक माध्यमों के प्रभाव से युवा पीढ़ी इन मौखिक परंपराओं से दूर होती जा रही है। पारंपरिक कृषि पद्धतियों, मिट्टी की उर्वरता, फसल चक्र और प्राकृतिक कीट-नियंत्रण से संबंधित ज्ञान भी आधुनिक रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के उपयोग के कारण क्षीण हो रहा है। इसके अतिरिक्त, आधुनिक स्वास्थ्य सुविधाओं के विस्तार के साथ पारंपरिक औषधीय ज्ञान के लुप्त होने का भी खतरा उत्पन्न हो गया है।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने तागिन समाज की कला-शिल्प और पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों को हाशिए पर धकेल दिया है, और यदि इनके संरक्षण हेतु ठोस प्रयास नहीं किए गए, तो यह अमूल्य सांस्कृतिक विरासत नष्ट हो सकती है।

और इस प्रकार में हम देखते हैं कि वैश्वीकरण के प्रभाव में अरुणाचल प्रदेश की तागिन जनजाति का सांस्कृतिक परिदृश्य तीव्र परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। एक ओर संचार के साधनों, आधारभूत संरचना और शिक्षा के विकास ने तागिन समुदाय को बेहतर आजीविका के अवसर, स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुँच तथा बाहरी विश्व के प्रति व्यापक जागरूकता प्रदान की है; वहीं दूसरी ओर, इस प्रक्रिया ने पारंपरिक सांस्कृतिक प्रथाओं और विश्वास प्रणालियों के क्षरण को भी जन्म दिया है, साथ ही नए सामाजिक-आर्थिक संबंधों को भी स्थापित किया है।

यह अध्ययन तागिन समाज पर वैश्वीकरण के गहन प्रभावों को रेखांकित करता है और यह स्पष्ट करता है कि इन परिवर्तनों के बीच सांस्कृतिक पहचान से जुड़े प्रश्नों को समझना और उनका समाधान करना अत्यंत आवश्यक है। तागिन जनजाति आज एक ऐसे मोड़ पर खड़ी है, जहाँ उसकी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को वैश्वीकरण की शक्तियों से गंभीर चुनौतियाँ मिल रही हैं। इस शोध से यह भी स्पष्ट होता है कि तागिन समाज में धार्मिक विश्वासों, पर्व-त्योहारों, बोली, पारंपरिक वेशभूषा, विवाह प्रथाओं, खान-पान की आदतों तथा कला-शिल्प और पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। आधुनिक प्रभावों के प्रसार ने न केवल दैनिक जीवन को परिवर्तित किया है, बल्कि पीढ़ियों के बीच दूरी भी उत्पन्न की है, जिससे परंपरागत ज्ञान और सांस्कृतिक मूल्यों के अंतरण की प्रक्रिया बाधित हो रही है।

इसके बावजूद, तागिन समाज में अपनी सांस्कृतिक पहचान के प्रति निहित चेतना और गर्व पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। स्वदेशी धार्मिक विश्वासों और परंपराओं के संरक्षण हेतु किए जा रहे प्रयास इस सांस्कृतिक दृढ़ता

के प्रमाण हैं। बदलते परिदृश्य में यह अत्यंत आवश्यक है कि स्थानीय समुदायों के साथ-साथ व्यापक समाज भी सांस्कृतिक संरक्षण के महत्व को स्वीकार करे। परंपरा और आधुनिकता के बीच सामंजस्यपूर्ण सहअस्तित्व को अपनाना भविष्य की पीढ़ियों के लिए निर्णायक सिद्ध होगा, जिससे तागिन जनजाति वैश्वीकृत विश्व में अपनी विशिष्ट पहचान बनाए रखते हुए आगे बढ़ सके। ऐसे प्रयास न केवल तागिन समाज के लिए लाभकारी होंगे, बल्कि मानव सभ्यता की व्यापक सांस्कृतिक विविधता को समृद्ध करने में भी सहायक सिद्ध होंगे।

नोट : इस शोध-पत्र के संकलन के लिए प्राथमिक तथा द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक आँकड़े अध्ययन क्षेत्र में किए गए क्षेत्रीय कार्य (फील्डवर्क) के माध्यम से एकत्र किए गए हैं, जबकि द्वितीयक स्रोतों में विभिन्न पुस्तकों, शोध-लेखों और पत्रिकाओं का सहारा लिया गया है।

Works Cited:

1. अप्पादुराई, अर्जुन, मॉडर्निटी ऐट लार्ज: कल्चरल डाइमेंशन्स ऑफ ग्लोबलाइजेशन, यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस, 1996
2. बराल, के.सी., 'ग्लोबलाइजेशन एंड फोक कल्चर इन नॉर्थईस्ट इंडिया', इंडियन फोकलाइफ, 2006
3. बोरो, ए., 'ग्लोबलाइजेशन एंड लोकल कल्चर्स: द ट्राइब्स ऑफ नॉर्थ ईस्ट इंडिया', इंडियन फोकलाइफ, 2006,
4. बोस, एम.एल., हिस्ट्री ऑफ अरुणाचल प्रदेश, कॉन्सेप्ट पब्लिकेशन हाउस, 2009
5. दावर, जगदीश लाल, कल्चरल आइडेंटिटी ऑफ ट्राइब्स ऑफ नॉर्थईस्ट इंडिया, कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स, 2003
6. ईगलटन, टेरी, द आइडिया ऑफ कल्चर, ब्लैकवेल, 2000
7. एज़िलारसु, ई., 'इम्पैक्ट ऑफ ग्लोबलाइजेशन ऑन ट्राइबल्स इन इंडिया', इंडियन जर्नल ऑफ एप्लाइड रिसर्च, खंड 4, अंक 10, 2014, पृ. 176-178
8. जेराम, टेपे, व्यक्तिगत साक्षात्कार, 17 जुलाई 2024
9. कारे, लार्दिक, व्यक्तिगत साक्षात्कार, 15 फरवरी 2024
10. मोहापात्रा, गदाधर, 'ग्लोबलाइजेशन एंड चेंजिंग ट्राइबल आइडेंटिटी इन नॉर्थ ईस्ट इंडिया: इमर्जिंग इश्यूज', द ट्राइबल ट्रिब्यून, खंड 5, 2012
11. नेबा (सिगा), गांधी, कस्टमरी लॉज ऑफ द टैगिन ट्राइब ऑफ अरुणाचल प्रदेश, अभिजीत पब्लिकेशन्स, 2019
12. पांडेय, दीपक, हिस्ट्री ऑफ अरुणाचल प्रदेश (अर्लीएस्ट टाइम्स टू 1972 ए.डी.), बानी मंदिर पब्लिकेशन, 2012
13. पांडेय, बी. बी., फेस्टिवल्स ऑफ सुबनसिरी, हिमालयन पब्लिकेशन, 1998
14. रिबा, टी., द ट्राइबल्स एंड देयर चेंजिंग एनवायरनमेंट, हिमालयन पब्लिशर्स, 2003
15. रिड्डी, अशान, द टैगिन्स ऑफ अरुणाचल प्रदेश: ए स्टडी ऑफ कंटिन्युइटी एंड चेंज, अभिजीत पब्लिकेशन्स, 2000
16. रिकाम, एन. टी., इमर्जिंग रिलिजस आइडेंटिटीज ऑफ अरुणाचल प्रदेश: ए स्टडी ऑफ न्यूशी ट्राइब, मित्तल पब्लिकेशन्स, 2005
17. टायलर, ई. बी., प्रिमिटिव कल्चर: रिसर्चिंग इंटू द डेवलपमेंट ऑफ मिथोलॉजी, फिलॉसफी, रिलिजन, आर्ट एंड कस्टम, गॉर्डन प्रेस, 1871



बुन्देलखंड की गीत-परंपरा में पर्यावरण

○ पंकज मिश्रा*

संक्षिप्त :

“सा हितेन चा साहित्य”, अर्थात् सबका हित चाहने वाला साहित्य होता है। साहित्य में चर-अचर, जड़-चेतन सबके मंगल की कामना होती है। आदिकाल से ही मनुष्य अपने परिवेश के प्रति सबसे अधिक संवेदनशील रहा, जिसका प्रमाण हमें वैदिक साहित्य में मिलता है; किन्तु वर्तमान में आधुनिक समाज अपने उपभोक्तावादी दृष्टिकोण के चलते प्रकृति से कटता जा रहा है और प्रकृति का बेरहमी से अपनी लिप्सा के वशीभूत दोहन कर रहा है। मानव की इस लिप्सा से प्राणी जगत् में असंतुलन की स्थिति पैदा हो रही है। इस समस्या के प्रति साहित्यिक योगदान की इस शोध पत्र में चर्चा की गई है।

बीज शब्द : गीत, बुन्देलखण्ड, पर्यावरण, प्रकृति, विरासत, संस्कृति।

बुन्देलखण्ड, मध्य-भारत में उत्तर-प्रदेश और मध्य-प्रदेश के बीच विस्तृत एक ऐतिहासिक भौगोलिक क्षेत्र है, जो अपनी प्राचीन बुन्देली लोक-संस्कृति की विरासत को संभाले हुए है। बुन्देलखण्ड की प्राकृतिक सीमाएँ उत्तर में यमुना नदी, दक्षिण में विन्ध्य पर्वत शृंखला, उत्तर-पश्चिम में चम्बल नदी और दक्षिण-पूर्व में पन्ना-अजयगढ़ की श्रेणियों से निर्धारित होती है। वर्तमान बुन्देलखण्ड में उत्तर-प्रदेश के 7 जिले क्रमशः झाँसी, ललितपुर, जालौन, बांदा, हमीरपुर, महोबा, और चित्रकूट तथा मध्य-प्रदेश के 7 जिले क्रमशः सागर, दामोह, टीकमगढ़, छतरपुर, पन्ना, निवाड़ी और दतिया शामिल हैं। बुन्देलखण्ड उत्सवधर्मी क्षेत्र है। यहाँ हर तीज-त्योहार लोक-संगीत और नृत्य के साथ बड़े ही हर्ष से मनाया जाता है।

शौर्य और श्रृंगार की यह भूमि विपुल वन्य-सम्पदा से आच्छादित होने के चलते भारत वर्ष की प्राचीन ‘अरण्य-संस्कृति’ को आज भी समेटे हुए है, जिसमें मनुष्य और प्रकृति के बीच की घनिष्ठता प्रतिबिम्बित होती है। पर्यावरण के अंतर्गत समस्त जैविक-अजैविक घटक शामिल हैं, जिसमें मनुष्य सहित समस्त प्राणी जगत आता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों यथा-शीशम, नीम, सागौन, अश्वगंधा, शतावरी, महुआ, बबूल और आंवला आदि के साथ विभिन्न जंतुओं, जैसे- नीलगाय, बाघ, तेंदुआ, सांभर और घड़ियाल आदि

☆ शोधार्थी, हिंदी-विभाग, महाराजा छत्रसाल बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, छतरपुर (म.प्र.)

Pankumishra92@gmail.com

की आश्रय-स्थली है। पञ्च-प्राकृतिक तत्वों (पृथ्वी, आकाश, अग्नि, वायु और जल) से जन्मा मनुष्य, जीवन भर अपनी आवश्यकताओं के निमित्त प्रकृति का दोहन कर, जीवनानुभवों का गायन करता, अंततः इन्हीं तत्वों में विलीन हो जाता है। मनुष्य के सुख-दुःख में प्रकृति उसकी सहचरी रही। “साहित्य का समाज-शास्त्र बताता है कि गेयता आदिम मनुष्य की प्रकृति की देन है।” इस प्रकार मनुष्य अपने आदिम युग से ही गायन करता आ रहा है, जिसकी लिखित परंपरा परवर्ती वैदिक साहित्य से होते हुए आधुनिक-साहित्य में भी निरंतर जारी है। ‘गीत’ मानवीय अभिव्यक्ति की प्राचीनतम साहित्यिक विधा है। चेतना सम्पन्न मानव के आरंभिक काल से ही गीत ने किसी न किसी रूप में मानव की सामूहिक श्रमशीलता, हर्ष, विषाद, अनुराग और आपसी संबंधों को प्रमुखता से अभिव्यक्त किया। साहित्यिक गीतों का प्रारंभ लोकगीतों से हुआ है। लोक, जिसमें मानव का प्रत्येक कर्म उसके अपने परिवेश और प्रकृति के स्वभावानुकूल होता है, इसीलिए लोक की देवोपासना पद्धति भी प्रकृति के परितः घूमती है।

भारतीय संस्कृति कर्मनिष्ठ संस्कृति है, जहाँ प्रत्येक मनुष्य के लिए शास्त्रों में कुछ नियत कर्म निर्धारित है। पर्यावरण-संरक्षण भी उनमें से एक महत्वपूर्ण कर्म है। मनुष्य का प्रकृति के साथ यथोचित संवेगात्मक एवं सामंजस्यपूर्ण संबंध स्थापित करना ही उसका वास्तविक धर्म माना गया है। भारत में हिन्दू धर्म केवल विशेष पूजा-पद्धति मात्र नहीं वरन् जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 1995 में घोषित है कि, “हिन्दू धर्म एक जीवन शैली है”; तब इस जीवन शैली के अंतर्गत धर्म और पर्यावरण दोनों का सम्मिलित रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। इस स्वरूप में आस्था के केन्द्र में सूर्य, चंद्र, वायु, वृक्ष एवं जीव-जंतुओं को रखकर मनीषियों ने प्राणी-जगत में संतुलन कायम करने का कार्य किया है।

पाश्चात्य-सभ्यता की उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव में आधुनिक भारत पर्यावरण संबंधी विभिन्न परेशानियाँ झेल रहा है। निरंतर होती वन्य-सम्पदा की हानि से न सिर्फ मौसम-चक्र प्रभावित हो रहा, वरन् कृषि प्रधान भारत की अर्थव्यवस्था भी प्रभावित हो रही है। अतिवृष्टि-अनावृष्टि जैसी प्राकृतिक आपदाओं से भारतीय किसान हर दिन जूझ रहा है और सिवाय लाचारी के उसके हाथ कुछ नहीं लग रहा है। वहीं दूसरी ओर ग्लोबल-वार्मिंग का संकट भी विश्व पर मंडरा रहा है। यह सब मानव की उस लिप्सा का परिणाम है, जिसकी पूर्ति हेतु वह पर्यावरण का निरंतर दोहन कर रहा है। आज का मानव यजुर्वेद की सूक्ति “पृथिवीं द्वं पृथिवीं मा हिंसीः” को भूल गया, जिसमें पृथ्वी के प्रति अहिंसा में ही मानवीय कल्याण की बात कही गई है। यद्यपि स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार से आज मनुष्य की औसत उम्र बढ़ रही है, तथापि पर्यावरण प्रदूषण के चलते इस बढ़ती उम्र में भी वह विभिन्न प्रकार की बीमारियों से जूझता रहता है। इन सभी पहलुओं पर हमारे मनीषियों ने पूर्व में ही विचार करते हुए साहित्य के माध्यम से समाज में पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागृति लाने का कार्य किया। बुन्देलखण्ड की गौरवशाली साहित्य-परंपरा में विभिन्न साहित्यकारों ने विभिन्न कालखण्डों में समाज को पर्यावरण के प्रति अनुकूल व्यवहार रखने की प्रेरणा दी और प्रकृति की विशेष कृपा-पात्र इस भूमि को स्वर्ग के सदृश माना-

“ढारे जाके शीश सदा जल जमुना मइया आप,
पांव पखारे रात दिना रेवा जाके परताप।
सोन, केन के जाके अंगना सुनियत सुखद अलाप,
जाके बन, बन नगरन लखियत वेत्रवती की छापा।
सुरग को सो कोउ खंड अखण्ड हमाओ धन बुन्देलखण्ड।”²

आज प्रकृति के जिस भयावह रूप को हम देखते हैं, वह दरअसल मनुष्य की भोक्ता प्रवृत्ति का ही नतीजा

है। 'मुद्रा' कमाने के चक्कर में हमने पर्यावरण को 'मुर्दा' बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।³ हाल-फिलहाल के दिनों में विश्व जिस वैश्विक महामारी के दौर से गुजरा है, उसने विश्व को पर्यावरण के प्रति अपने अति-उपभोगवादी दृष्टिकोण को बदलने के लिए मजबूर कर दिया है। भारतीय मानस का स्वभाव है कि वह आधुनिक कहलाने की अंधी दौड़ में भले ही मार्बल की ऊँची इमारतों में क्षणिक सुख पा जाए, परन्तु कवि ईसुरी की पंक्ति "ईसुर ओई नीम में मानत, ओई नीम कौ कीरा।"⁴ के अनुसार उसे सच्चा सुख अपने वास्तविक परिवेश में ही प्राप्त होता है। व्यक्ति जीवन के मरुस्थल में विलासिता की मृगमरीचिका के वशीभूत यत्र-तत्र भागता रहता है, परन्तु वास्तविक सुखानुभूति उसे प्रकृति की छाँव में ही मिलती है। यही कारण है कि जब राम को वन जाने का आदेश दिया गया तो वे दुःखी न होकर प्रसन्न हुए कि वन्य-प्रांतर में उनको ऋषिगणों के साथ न केवल सत्संग का लाभ मिलेगा, बल्कि वन्य-क्षेत्र का आनंद भी प्राप्त होगा :

“मुनिगन मिलनु बिसेषि बन,
सबहि भाँति हित मोर।”⁵

राम अपने वन्य-जीवनकाल में पत्नी सीता और अनुज लक्ष्मण के साथ अनेक प्रकार के वृक्षों का रोपण करते हैं, जो यह दर्शाता है कि ब्रह्म भी मनुज अवतार में मानव-धर्म के चलते मानवोचित कर्तव्यों का निर्वहन करता है :

“तुलसी तरुवर विविध सुहाए,
कहुँ-कहुँ सिउँ, कहुँ लखन लगाए।”⁶

भारतीय संस्कृति में विभिन्न देवी-देवताओं के वाहनों व आभूषणों के रूप में पशु-पक्षियों को दर्शाया गया है, जो हिन्दू-धर्म में प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता को दर्शाता है। भगवान् भूतेश्वर महादेव स्वयं अपने गले में सर्प, शीश पर गंगा और चंद्र को धारण कर पर्यावरणवादी स्वरूप में शोभायमान हैं -

“कुंडल कंकन पहिरे ब्याला,
तन बिभूति पट केहरि छाला।
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा,
नयन तीनि उपबीत भुजंगा।”⁷

बुंदेलखण्ड की लोक-परंपराओं में किसी न किसी रूप में प्रकृति के संरक्षण और संवर्द्धन का भाव निहित होता है। यहाँ के आम-जन में प्रकृति के प्रति लगाव को इस बात से समझा जा सकता है कि महुआ के वृक्षों की कटाई से व्यथित लोककवि ईसुरी अँग्रेजों के आदेश के विरोध में फाग लिखते हैं,

“इन पे लगे कुरियाँ घालन
महुआ मानस पालन।”⁸

यह तत्कालीन समय में पर्यावरण के प्रति प्रगतिवादी और जाग्रत लोक की आवाज थी। जिस समय अँग्रेजी शासन के दमन के विरुद्ध बोलना भी अपराध समझा जाता था, ऐसे समय में लोक, प्रकृति को बचाने के लिए आवाज उठाता है। बुंदेलखण्ड के ख्यातिलब्ध कवि और आलोचक डॉ. राम कुमार वर्मा ने तो प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करते हुए प्रकृति में ही ईश्वर की विराट-सत्ता को सर्वत्र निहित माना। अपने काव्य सृजन में अनुभव के प्रत्येक क्षण में प्रकृति उनकी सहचरी के सदृश अनुगमन करती है। वे जड़वत् प्रकृति में ईश्वर के स्वरूप का अनुभव करते हैं,

“वन-वन, घाटी, नदियाँ, पर्वत,
इनमें ही छुपा है प्रभु का स्वरूप।”⁹

यह भारत के सनातन धर्म की ही संस्कृति है, जहाँ शास्वत रहने वाली प्रकृति का इतना सम्मान किया जाता है, इसलिए प्रख्यात दार्शनिक और इतिहासविद् रामेश्वर मिश्र ‘पंकज’ सनातन धर्म का अर्थ मानव धर्म स्वीकारते हैं। मनुस्मृति में सदाचार आधारित मानव धर्म के विषय में स्पष्ट उल्लेखित है,

“वेदो अखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।

आचारश्चौव साधूनामात्मन स्तुष्टिरेव च।”¹⁰

“धारयति इति धर्मः”, अर्थात् जो धारण करने योग्य है, वही धर्म है, और हिन्दू धर्म में सार्वभौमिक मानव-धर्म की उपरोक्त समस्त विशेषताओं को देखकर ही मैथिलीशरण गुप्त ने इसे सनातन और सच्चा धर्म स्वीकार किया है-

“विख्यात हिन्दू धर्म ही सच्चा सनातन धर्म है,

वह धर्म ही धारण क्रिया का नित्य कर्ता-कर्म है।”¹¹

21वीं सदी में जिस तेजी से विज्ञान का प्रचार-प्रसार हो रहा है और विभिन्न औद्योगिक संस्थान खुल रहे हैं। यह विकास की दृष्टि से जितना हर्ष का विषय है, पर्यावरण के लिहाज से उतना ही चिंताजनक भी है। “भारत औद्योगिकीकरण के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है और इस स्थिति की वजह से हमें इस बात की छूट और सुविधा है कि हम उन गलतियों से बच सकते हैं, जो यूरोप ने अपने विकास के दौरान की हैं।”¹² वर्तमान में मानव की निर्भरता यंत्रों पर बढ़ती जा रही है और वह प्रकृति से निरंतर दूर होता जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप प्रकृति के स्वभाव में परिवर्तन नजर आ रहे हैं। इसलिए मनुष्य के लिए प्रकृति और यंत्र दोनों के साथ निश्चित अनुपात में संबंध रखना ही श्रेयस्कर है। यह बड़ी बिडम्बना है कि आलीशान इमारत की सातवीं-आठवीं मंजिल पर अपने टेरिश-गार्डन को देखकर 21वीं सदी का बिल्डर भी पर्यावरण संरक्षण और दुनिया को सुंदर बनाने के विषय में सोचता है, जिसे रामकुमार तिवारी कुछ इस तरह दर्शाते हैं,

“चाहता हूँ

मेरी वजह से सुंदर हो यह दुनिया

कैसी चाहत है हमारी

जिसे चाहते हैं उसे

धीरे-धीरे नष्ट करते हैं।”¹³

यह 21वीं सदी का मानव है, जो यह जनता है कि कुछ बहुत गलत हो रहा है। धीरे-धीरे उसे अपने अस्तित्व पर ही खतरे का आभास होने लगा है, जिसे रामकुमार तिवारी, “मैं विलुप्त तो नहीं हो रहा हूँ”¹⁴ कह कर उसकी मनोदशा को चित्रित करते हैं। मनुष्य के भोग की चौतरफा मार ने प्रकृति को असंतुलित कर दिया है, जिसके भयावह परिणाम आने प्रारंभ हो चुके हैं। यह अभी प्रकृति का मात्र अल्टिमेटम है, जिसके चलते बिन-मौसम बारिश, अतिवृष्टि-अनावृष्टि, बाढ़ और अकाल आदि व्याधियों से प्राणी जगत परेशान हो रहा है और अपार जन-धन का व्यय हो रहा है :

“जल पांखी जले, और सुलगे पहाड़ ,

ऐसे तो नहीं थे जैसे अब हुए झाड़।”¹⁵

“भारत ऐसा व्यक्तित्व-सम्पन्न राष्ट्र है, जिसके प्राकृतिक परिवेश में मानव-जीवन की विशिष्ट संस्कार पद्धति रही है।”¹⁶ भारतीय संस्कृति ने मानव को जिस “परहित सरिस धर्म नहिं भाई” के अहिंसावादी संस्कार से पाला है, उस संस्कृति की अमूल्य प्राकृतिक धरोहर का संरक्षण और संवर्धन प्रत्येक भारतीय का न सिर्फ दायित्व है, वरन् कर्तव्य भी है। धरती अभी भी “पुत्रों अहं प्रथिव्याः” कहने वाली मानव-जाति के प्रति माता

के सदृश “पुत्रात् इच्छेत् पराजयम्” को चरितार्थ कर रही है, परंतु मनुष्य यदि अभी भी नहीं संभला, तो “कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता भवति”, कहने तक के लिए यह विश्व नहीं बचेगा।

निष्कर्षतः बुंदेलखण्ड की जन-चेतना में पर्यावरण सुरक्षा के प्रति जो भाव है, वह बुंदेलखण्ड के साहित्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र देखा जा सकता है। इसमें जहाँ एक तरफ पर्यावरण की आवश्यकतानुरूप कृतज्ञतापूर्वक दोहन की न्यायोचित शिक्षा है, तो वहीं दूसरी ओर पर्यावरण-संरक्षण का संस्कार भी। वर्तमान में उपभोक्तावादी-औद्योगिक दुनिया की अत्योपभोगी जीवनचर्या की लिप्सा को रोकने और पर्यावरण-संरक्षण के प्रति मानवीय दायित्व-बोध को जगाने में, बुंदेलखण्ड के गीत आज भी प्रासंगिक हैं।

संदर्भ:

1. डॉ. उमाशंकर तिवारी, आधुनिक गीतिकाव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997 (आवृत्ति-2000), पृ. 7
2. दुर्गाप्रसाद शास्त्री ‘अनिरुद्ध’, बुंदेलखण्ड : एक सांस्कृतिक परिचय, बुंदेली काव्य का ऐतिहासिक परिचय, बुंदेलखण्ड रिसर्च पोर्टल।
3. मनोज श्रीवास्तव (सं.), अक्षरा : साहित्य की मासिकी, भोपाल, अंक-216, मार्च-2023, पृ. 37
4. घनश्याम कश्यप (सं.), ईसुरी की फागें, शब्दपीठ प्रकाशन, 1995, पृ. 276
5. हनुमानप्रसाद पोद्दार, श्रीरामचरितमानस, गीता प्रेस, गोरखपुर, दोहा सं. 41, पृ. 362
6. वही, चौपाई सं. 4 पृ. 525
7. वही, चौपाई सं. 1-2, पृ. 90
8. डॉ. राजेन्द्र यादव (सं.), ईसुरी-23, बुंदेली पीठ, हिंदी-विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म. प्र.) पृ. 9
9. अर्चना मिश्र, आधुनिक हिंदी कविता में दिव्यता बोध, भारतीय साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012, पृ. 115
10. पण्डित गिरिजाप्रसाद द्विवेदी (अनु.), मनुस्मृति अर्थात् मानव-धर्मशास्त्र, 1917, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, श्लोक सं. 6, पृ. 24
11. श्री मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती (वर्तमान खण्ड-189), साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), 1984, पृ. 127
12. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2022 पृ. 195
13. रामकुमार तिवारी, कोई मेरी फोटो ले रहा है, सूर्य प्रकाशन मंदिर, 2008, पृ. 12
14. रामकुमार तिवारी, अपनी परिछाई में लौटता हूँ चुपचाप, आईसेक्ट पब्लिकेशन, 2020, पृ. 29
15. डॉ. श्यामसुंदर दुबे, सुख दुख की कमीज, 2017, पृ.सं.-31
16. दूधनाथ सिंह (संपादक), सात भूमिकाएँ : महादेवी वर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 2013 (आवृत्ति-2018), पृ. 167



आर्य समाज और हिंदी भाषा

○ आकाश शंकर*

संक्षिप्त :

स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं आर्य समाज ने हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया। आर्य-समाजी साहित्य एवं पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी भाषा के स्वरूप को स्थिर करने का प्रयत्न किया तथा हिन्दी को हर प्रकार के साहित्य रचना के योग्य बनाया। आर्य समाज के संघर्ष के कारण पराधीन भारत में हिन्दी न्यायालय, सरकारी कामकाज एवं शैक्षणिक गतिविधियों की भाषा बन सकी। आर्य समाज ने हिन्दी भाषा को बुद्धिजीवियों एवं सामान्य जनमानस के मध्य सम्यक् रूप से प्रचलित किया। आर्य समाज ने विविध सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उपक्रमों के माध्यम से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रचारात्मक अभियान चलाया। इस संस्था ने हिन्दी के आरंभिक स्वरूप को सुदृढ़ करने के साथ-साथ पत्रकारिता एवं साहित्य जगत में व्याप्त उर्दू-फारसी के वर्चस्व को चुनौती दी। आर्य समाज ने हिन्दी की वैज्ञानिकता से विश्व को परिचित करवाया।

बीज शब्द : अभियान, अभिषिक्त, राष्ट्रभाषा, प्रचार-प्रसार, आर्य समाज, वैज्ञानिक।

आर्य समाज साहित्यिक-सांस्कृतिक चिंतक महर्षि दयानन्द सरस्वती की अथक साधना का प्रतिफल है। विदित है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती महान शिक्षाविद, समाज सुधारक, स्वतंत्रता सेनानी एवं सक्रिय राजनेता थे। उन्होंने अपनी क्रांतिकारी चेतना का प्रचार-प्रसार आर्य समाज के माध्यम से किया। इस संस्था के माध्यम से उन्होंने भारतीय धर्म, दर्शन, शिक्षा आदि की पुनर्व्याख्या की। स्वामी जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश', 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' आदि ग्रंथों में अपने चिंतन का संपूर्ण सारतत्त्व प्रस्तुत कर, पराधीन भारत का दिग्दर्शन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'आर्य पत्रिका' का भी संपादन किया, जिसने आर्यसमाज के चिंतन को जन-जन तक पहुँचाया। आधुनिक भारत के इतिहास में आर्य समाज द्वारा प्रचारित सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा भाषाई आंदोलनों का अपना ऐतिहासिक महत्व है। यह संस्था पाश्चात्य सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना व राजनीतिक वर्चस्व की घोर विरोधी तथा भारतीय आर्य संस्कृति की संरक्षिका थी। वैदिक-हिन्दू-आर्य संस्कृति का संरक्षण करते हुए, आर्यसमाज ने इस्लाम व ईसाई संस्कृति का विरोध किया।

☆ शोधार्थी, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
मो. : 9534648742; ई-मेल : mrakashshankar@gmail.com

आर्य समाज ने वैदिक-हिन्दू-आर्य संस्कृति के साथ-साथ 'आर्य भाषा' के महत्व को रेखांकित किया। उन्होंने ने 'आर्य भाषा' अर्थात् हिन्दी भाषा को राष्ट्र में प्रतिष्ठित करने के लिए युद्ध स्तर पर अभियान चलाया। आर्यसमाज ने समाज सुधार एवं राष्ट्रीय पुनर्जागरण आन्दोलन के साथ-साथ हिन्दी भाषा और पत्रकारिता के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए औपचारिक रूप से आंदोलन किया। इस समाज की नियमावली के अनुसार प्रत्येक आर्य-समाजी के लिए यह आवश्यक था कि वह आर्य भाषा का ज्ञान रखे तथा उनका व्यवहार करे। आज भी वैश्विक स्तर पर आर्य-समाजी, इस आत्मिक नियम का अनुपालन कर रहे हैं। इस संस्था के विचारों ने तत्कालीन साहित्यिक परिवेश को अत्यंत प्रभावित किया। आर्य-समाजी चिंतन ने साहित्यिक बुद्धिवाद का प्रतिपादन कर, सामन्तवादी मूल्यों का विरोध किया। परवर्ती काल में यही चिंतन हिन्दी भाषा और साहित्य में व्यक्त हुआ। स्वामी जी तथा आर्य समाज के इस योगदान को रेखांकित करते हुए, आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' लिखते हैं- "...वास्तव में यदि हिन्दी साहित्य के सारे ही क्रियाकलाप पर दृष्टि डालें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आधुनिक काल की सारी राष्ट्रीयता तथा सामाजिकता का मेरुदंड आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा उनके द्वारा चलाये गये आन्दोलन हैं। आधुनिक काल के जितने भी प्रमुख साहित्यकार हुए हैं, वे सब आर्य समाज से प्रभावित विचारधारा के ही पोषक थे।"¹

आर्य भाषा को बढ़ावा देने के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों का भाष्य हिन्दी भाषा में किया। उनके इस कार्य से प्रभावित होकर, देश के अनेक लेखकों ने वैदिक साहित्य की व्याख्या हिन्दी भाषा में की। परतंत्र भारत में आर्य भाषा एवं आर्य संस्कृति को मजबूत करने के उद्देश्य से दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के अतिरिक्त डी.ए.वी. जैसे संस्थानों की नींव रखी। इस ऐतिहासिक कार्य को लक्ष्य करते हुए, इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है- "जब 'दयानन्द एंग्लो वैदिक' कॉलेज की स्थापना हुई तब पंजाब में अंग्रेजी और उर्दू का बोलबाला था। राजभाषा अंग्रेजी को और लोकभाषा उर्दू को माना जाता था। पंजाब में डी.ए.वी. हाईस्कूल पहली ऐसी संस्था थी, जिसने हिन्दी और संस्कृत की शिक्षा देनी आरम्भ की। आज यह बात साधारण मालूम होती है, परन्तु सं. 1886 ई. में वह सर्वथा नई और असंभव बात थी।"² आधुनिक खड़ीबोली हिन्दी के गद्य-पद्य के लेखन को दयानन्द सरस्वती व आर्य-समाजी लेखकों ने राष्ट्रीयता तथा समाज सुधार की भावना से संपृक्त किया। उनके इस प्रयास ने तत्कालीन साहित्यकारों के साथ-साथ परवर्ती पीढ़ी के साहित्यकारों को भी प्रभावित किया। क्षेमचन्द्र 'सुमन' के शब्दों में- "आर्य समाज ने अपने पक्ष और विपक्ष में जो लेखकीय जागरण पैदा किया, उसने खड़ी बोली गद्य को प्रचारित करने में अभूतपूर्व योगदान दिया।"³ आर्य समाज के लेखकों ने राष्ट्र में वैज्ञानिक चेतना और ज्ञानात्मक संवेदना को प्रसारित करने के लिए विविध भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान के स्रोतों का हिन्दी भाषा में अनुवाद करके, उसे जनसामान्य तक पहुंचाया।

दयानन्द सरस्वती, हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने कई सिद्धान्तों का प्रणयन किया। उनकी इच्छा के अनुगत होकर आर्य-समाजियों ने भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए अनेक नियम व सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इस संस्था ने 'राष्ट्रभाषा हिन्दी सम्मेलन' नामक वार्षिकोत्सव की शुरुआत की। जिसमें यह निर्णय लिया गया कि आर्यसमाजी सभाओं, उपसभाओं, अधिवेशनों में कार्यवाही की भाषा हिन्दी होगी। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के उद्देश्य से आर्य-समाजी बन्धुओं ने पंजाब में 'हिन्दी सत्याग्रह' नामक आंदोलन की शुरुआत की, जो बहुत ही कम समय में 'अखिल भारतीय हिन्दी सत्याग्रह' में परिवर्तित हो गया। 10 दिसम्बर 1946 ई. में आयोजित संविधान सभा के अधिवेशन में आर्य-समाजी नेता श्री धुलेकर जी ने हिन्दी विरोधी मानसिकता की तीव्र भर्त्सना की थी तथा राष्ट्र निर्माण में हिन्दी और हिन्दी भाषा के महत्व को रेखांकित किया- "मैं अंग्रेजी जानता हूँ...जो लोग यहाँ भारत के संविधान का निर्माण करने के लिए आये हैं, यदि वे हिन्दी नहीं जानते, तो उनमें इस सदन का सदस्य बनने की योग्यता ही नहीं है... मैं

चाहूँगा कि संविधान का प्रारूप हिन्दी में तैयार किया जाय।...मैं एक भारतीय होने के नाते आपसे अपील करता हूँ कि हम लोगों को जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया है और उन सबको जो देश की स्वतन्त्रता के लिए कटिबद्ध हैं, अपनी भाषा में ही बोलना और सोचना चाहिए।”⁴ आर्य समाजियों के अतिरिक्त अन्य कई संगठनों एवं नेताओं ने भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर अभिषिक्त करने का भागीरथ प्रयास किया, किन्तु भारत की भाषिक विविधता के कारण हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सका। फिर भी भारतीय संविधान ने देवनागरी लिपि में हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकृत करके, इसका मान बढ़ाया है। निश्चित ही यह आर्य समाज और अन्य हिन्दी प्रेमी नेताओं व संगठनों के अथक प्रयास का प्रतिफल है।

अंग्रेजी शासन काल में उर्दू-फारसी सरकारी कामकाज की भाषा थी। पराधीन भारत में हिन्दी को सर्वथा अयोग्य भाषा समझा जाता था। इसलिए देश के न्यायालयों में हिन्दी के स्थान पर उर्दू-फारसी का प्रयोग होता था। आर्य भाषा की संरक्षक संस्था आर्यसमाज को यह स्वीकार्य नहीं था। हिन्दी को न्यायालय की भाषा घोषित करने लिए, अनेक आर्यसमाजी नेताओं ने पंडित मदनमोहन मालवीय आदि के कुशल नेतृत्व में संघर्ष करके सफलता अर्जित की। इसके पश्चात् संयुक्त प्रांत में अदालती भाषा के तौर पर उर्दू-फारसी के साथ-साथ हिन्दी का भी प्रयोग आरंभ हुआ। महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से बाद में विख्यात हुए) ने ‘सद्धर्म प्रचारक’ पत्रिका में भूतपूर्व लाट सर एंटनी मैक्डानल्ड का स्मरण किया है, जिनके ऐतिहासिक निर्णय के कारण हिन्दी तथा देवनागरी अक्षरों का अदालतों में प्रवेश हुआ था। किन्तु यह स्थिति बरकरार नहीं रह पाई। गुलाम मानसिकता के हाकिमों ने हिन्दी के स्थान पर पुनः उर्दू-फारसी का प्रयोग शुरू कर दिया। जिससे क्षुब्ध होकर महात्मा मुंशीराम ने ‘सद्धर्म प्रचारक’ पत्रिका के विज्ञप्ति में लिखा था- “यदि संयुक्त प्रान्त के इस प्रकार के बहुत से पत्र मेरे पास पहुँच जाय, जिसमें आर्य भाषा और देवनागरी लिपि के साथ ऐसी निर्दयता का बर्ताव किया हो, तो मैं इस विषय को इस प्रान्त की कानूनी कौंसिल में पहुँचाने का प्रयत्न करूँगा। मुझे यह देखकर बड़ा शोक होता है कि बेचारी देवनागरी जिन भारत भूषणों को अपना एक मात्र सहारा समझती है, उनकी सहानुभूति मातृभाषा के साथ कथन मात्र ही प्रतीत होती है।”⁵

आर्य भाषा और आर्य संस्कृति को बढ़ावा देने के उद्देश्य से आर्यसमाज ने स्वयं के शिक्षण संस्थानों की स्थापना की। इनके द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थान आर्य-समाजी मानकों के अनुरूप हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति का प्रचार प्रसार कर रहे हैं। आज डी.ए.वी जैसे शिक्षण संस्थान ने शिक्षा के क्षेत्र में जो सफलता अर्जित की है, वह दयानन्द सरस्वती के सर्वस्व समर्पण और दूरदर्शिता का ही परिणाम है। स्वामी श्रद्धानन्द तथा ‘पंजाब प्रतिनिधि सभा’ के संकल्प का प्रतिफल हमें ‘गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार’ के रूप में दृष्टिगत होता है। इस संस्था के विद्यार्थी, शोधार्थी एवं अध्यापकगण अनेक पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों के प्रकाशन के माध्यम से अनवरत हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अंग को पुष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया है। सत्यदेव विद्यालंकार के अनुसार- “गुरुकुलों के स्नातकों द्वारा निर्मित हिन्दी साहित्य परिमाण और गुणवत्ता दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।”⁶ आर्यसमाज ने ‘कन्या गुरुकुल’ एवं ‘पुत्री पाठशाला’ की स्थापना करके, स्त्रियों को शिक्षित करने का प्रयास किया। इन शिक्षण संस्थाओं की सारी शैक्षणिक गतिविधियाँ हिन्दी भाषा में होती थी। यहाँ स्त्रियों को आर्य सभ्यता और संस्कृति की शिक्षा, धर्म शिक्षा के रूप में दी जाती थी। इन शिक्षण संस्थाओं ने नारी समाज को सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर जागृत किया। जिसके फलस्वरूप अनेक महिलोपयोगी साहित्य, पत्र-पत्रिका एवं पुस्तक प्रकाशित हुए। आर्य-समाजी क्रांति के परिणामस्वरूप नाना प्रकार के विघ्नों को झेलती हुई, महिलाओं ने शिक्षा जगत में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करवाई- “कन्या शिक्षा के क्षेत्र में नवीन क्रान्ति उपस्थित कर आर्य समाज ने यह स्पष्ट घोषित कर दिया कि समाज के अर्धांग नारी को अपने सर्वांगीण विकास के सभी साधन को प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है।”⁷ हिन्दी के साथ-साथ नारी

शिक्षा को समृद्ध करने में भी आर्य समाज का उल्लेखनीय योगदान है।

हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के अतिरिक्त अहिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में भी आर्य समाज ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार का अभियान चलाया। दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायियों ने पंजाब में व्याप्त उर्दू के वातावरण को ध्वस्त कर, वहाँ हिंदी को स्थापित किया। सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार एवं देवेश सिद्धान्तालंकार ने मद्रास में तथा भीमसेन विद्यालंकार व गोपालदत्त शास्त्री ने मैसूर में हिन्दी भाषा को जनजीवन से संपृक्त किया। केरल में एम.के. अयोदान अण्णी ने तथा अनन्तकृष्ण सिद्धान्तभूषण, मंजुनाथ जी आदि ने बेंगलुरु में आर्यभाषा व आर्यसंस्कृति का प्रचार किया। गोविन्द प्रसाद जी सिद्धान्तभूषण ने हुबली में हिन्दी का प्रचार किया। आन्ध्रप्रदेश में विनायक राव विद्यालंकार, मदनमोहन विद्यासागर, वंशीधर विद्यालंकार प्रभृति विद्वानों ने हिन्दी की अलख जगायी। केशवदेव विद्यालंकार और श्रीक्षेमानन्द राहत ने तमिलनाडु में तथा लक्ष्मण विद्यार्थी, श्रीराघवन्, बुद्ध सिंह, सुगंधी बाई आदि ने कालीकट में हिन्दी भाषा और वैदिक धर्म का प्रचार किया। 'आर्य प्रतिनिधि सभा' (पंजाब), 'आर्य विद्या सभा' (हरिद्वार), 'सर्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' (दिल्ली), 'परोपकारिणी सभा' (अजमेर), 'आर्य उपदेश मण्डली', 'आर्य कुमार सभा', 'दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज और स्कूल जैसी सामाजिक संस्थाओं ने संपूर्ण राष्ट्र में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने का उद्योग किया।

हिन्दी भाषा एवं वैदिक संस्कृति का प्रचार आर्य-समाजियों ने विदेशों में भी किया। सर्वप्रथम इन्होंने मॉरीशस को अपना केन्द्र बनाया। वहाँ काशीनाथ जी और उनकी पत्नी अवैतनिक हिन्दी प्राध्यापक के रूप में प्रसिद्ध थे। हिन्दी को बढ़ावा देने के लिए डॉ. मणिलाल ने 'हिन्दुस्तान प्रेस' की स्थापना की। मॉरीशस की धरती से प्रसिद्ध आर्य-समाजी पत्रिका 'आर्यवीर' व 'आर्योदय' प्रकाशित हुआ। हिन्दी को शैक्षणिक गतिविधि की भाषा बनाने के उद्देश्य से पोर्ट लुई में डी.ए.वी. कॉलेज और स्कूल की स्थापना हुई। हिन्दी को मॉरीशस के सरकारी पाठ्यक्रम की भाषा बनाने के लिए आर्य-समाजियों ने योजनाबद्ध अभियान चलाकर सफलता अर्जित की- "सरकारी पाठ्यक्रम में भी हिन्दी को सम्मिलित कराने के लिए आर्य समाज द्वारा प्रयत्न किया गया और इनमें उसे सफलता भी प्राप्त हुई।"⁸ दक्षिण अफ्रीका में भवानीलाल संन्यासी ने हिन्दी के प्रचार अभियान का श्रीगणेश किया। उन्होंने अनेक हिन्दी प्रचारिणी सभा एवं हिन्दी पाठशाला की स्थापना की। सत्यपाल जी सिद्धान्तालंकार ने पूर्वी अफ्रीका में आर्य भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए अनेक गुरुकुलों और पाठशालाओं का संचालन किया। आर्य-समाजियों ने वहाँ 'आर्य प्रतिनिधि सभा' के साथ-साथ 'आर्य स्त्री समाज' का भी गठन किया। नैरोबी का 'कन्या पाठशाला', 'आर्य वीरांगना सभा', 'वाग्वर्धिनी सभा' आदि की स्थापना से पूर्वी अफ्रीका में हिन्दी समृद्ध हुई। सन् 1916 ई. में स्वामी राममनोहरानन्द ने फिजी में 'फिजी आर्य प्रतिनिधि सभा' की स्थापना की। उनके जैसे समर्पित अन्य नेताओं के उद्योग से फिजी सरकार ने हिन्दी को वहाँ की राजभाषा के रूप में स्वीकार किया। श्री मेहता जैमिनी जी एवं पं. सत्याचरण शास्त्री के मार्गदर्शन में सूरीनाम के उत्साही आर्यसमाजियों ने 'भारतोदय' नामक संस्था का निर्माण करके, हिन्दी को प्रतिष्ठित किया। वहाँ के आर्य शिक्षणालयों में कोयविगने निकेरी, वसासमसाचिसे, सारमक्का, मोहनसिंह स्कूल आदि प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं उनके आर्य-समाजी आदर्श से पोषित पत्र-पत्रिकाओं का अमूल्य योगदान है। स्वामी जी धर्म, दर्शन, इतिहास, राजनीति आदि के साधिकार वक्ता थे। उनके उद्बोधन हिन्दी भाषा में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे। मराठी परिवार से संबद्ध होने के पश्चात् भी उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का अभियान चलाया। उन्हीं के आदर्शों के अनुरूप आर्य पत्र-पत्रिकाओं में धर्म, दर्शन, राजनीति, विज्ञान, भाषा, इतिहास, पुरातत्व आदि से संबंधित लेख आर्यभाषा हिन्दी में प्रकाशित होते थे। आर्य पत्र-पत्रिका एवं उनके संपादकों ने राष्ट्र में वैज्ञानिक चेतना एवं संवेदना उत्पन्न की। 'विजय', 'सद्धर्म प्रचारक', 'तेज', 'प्रकाश', 'अर्जुन', 'आर्य मुसाफिर', 'आर्यवीर', 'वैदिक आदर्श' आदि

पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने के साथ-साथ पत्रकारिता जगत में व्याप्त उर्दू के वर्चस्व को चुनौती दी- “उर्दू के मध्य में हिन्दी पत्रकारिता को दृढ़ता के साथ स्थापित करने वाली शक्ति आर्यसमाज ही थी।”⁹ आर्य समाज की वैज्ञानिकता के परिणामस्वरूप भारतेन्दुयुगीन, द्विवेदीयुगीन एवं छायावादी साहित्य में नवीन वैज्ञानिक चेतना विकसित हुई। इस युग का साहित्य केवल भावुकता प्रधान नहीं है, अपितु उसमें बौद्धिकता, तार्किकता व नैतिकता विद्यमान है। हिन्दी के अनेक साहित्यकारों ने दयानन्द सरस्वती की विवेकवाद एवं तार्किक व्याख्याओं के अनुरूप हिन्दी में गद्य-पद्य का लेखन किया। स्वामी जी का दर्शन संपूर्ण मानवता का दर्शन है। आर्य समाज की मानवतावादी दृष्टि ने महिलाओं, पतितों, अछूतों के भीतर आत्मगौरव की भावना जागृत करके, उन्हें मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। जिसे लक्ष्य करते हुए निराला लिखते हैं- “आर्य समाज की प्रतिष्ठा भारतीयों में एक नये जीवन की प्रतिष्ठा है... देश में महिलाओं, पतितों, जाति-पाति के भेदभाव मिटाने के लिए महर्षि और आर्यसमाज से बढ़कर इस नवीन विचारों के युग में किसी भी समाज ने कार्य नहीं किया...”¹⁰ आर्य समाज के साहित्यकारों ने नवजागरण के पुरोधा दयानन्द (भवानीलाल भारतीय), कल्याणमार्ग का पथिक (स्वामी श्रद्धानन्द), योगेश्वर कृष्ण (चमूपति), भक्तिदर्पण (महाशय राजपाल), दयानन्द चरित (देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय), दयानन्द दिग्विजय महाकाव्य (महाकवि मेघव्रताचार्य) आदि कृतियों का सृजन करके, हिन्दी साहित्य के अक्षयकोश को समृद्ध किया है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि आर्य समाज ने हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय पटल पर प्रतिष्ठित किया। स्वयं दयानन्द सरस्वती आर्य भाषा को राष्ट्रभाषा के पद पर अभिषिक्त करना चाहते थे। आर्य समाज के सद्प्रयासों के परिणामस्वरूप आधुनिक काल में जनता खड़ीबोली हिन्दी के निकट आई। इस संस्था के सदस्यों के अथक प्रयास से हिन्दी, अहिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में भी लोकप्रिय हुई। आर्य समाज के कुशल नेतृत्व ने हिन्दी को मॉरीशस, दक्षिण अफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका, फिजी, सूरीनाम जैसे देशों में प्रतिष्ठित किया। आर्य समाज ने पराधीन भारत के उर्दूमय वातावरण को हिन्दीमय बना दिया। आर्य-समाजी साहित्य एवं पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी भाषा व साहित्य के रूप को स्थिर करने में अमूल्य योगदान दिया। आर्य-समाजी अधिवेशनों, सभाओं एवं संस्थाओं ने हिन्दी को व्याकरणिक स्तर पर समृद्ध किया। दयानन्द सरस्वती एवं आर्य समाज के प्रचारात्मक अभियान ने हिन्दी को राष्ट्र में प्रतिष्ठित किया। वर्तमान समय में हिन्दी का जो रूप हमारे समक्ष है, उसके निर्माण में आर्यसमाजियों की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष निष्ठा सम्मिलित है। आज भी आर्य-समाजी बन्धु स्वामी दयानन्द सरस्वती के स्वप्न के अनुरूप हिन्दी की सेवा कर रहे हैं, जो हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य का संकेतक है।

संदर्भ:

1. क्षेमचन्द्र ‘सुमन’, दिवंगत हिन्दी सेवी (खण्ड-1), शकुन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1981, पृ. 248
2. इन्द्र विद्यावाचस्पति, आर्यसमाज का इतिहास(द्वितीय खण्ड), सार्वजनिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, संस्करण : 1957, पृ. 237
3. क्षेमचन्द्र ‘सुमन’, दयानन्द और हिन्दी पत्रकारिता-व्याख्यान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, संस्करण : 1985, पृ. 04
4. सत्यकेतु विद्यालंकार, भवानीलाल भारतीय, दत्तात्रेय तिवारी, आर्यसमाज का इतिहास(षष्ठ भाग), आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1987, पृ. 138
5. मुंशीराम, महात्मा, सद्धर्म प्रचारक(पत्रिका), विज्ञप्ति, 3 मई सन् 1913 ई.
6. चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे, आर्यसमाज और हिन्दी साहित्य, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1984, पृ. 119

7. क्षेमचन्द्र 'सुमन', हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन, मधुर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1970, पृ. 407
8. सत्यकेतु विद्यालंकार, भवानीलाल भारतीय, हरिदत्त वेदालंकार, आर्यसमाज का इतिहास(द्वितीय भाग), आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1984, पृ. 643
9. भवानीलाल भारतीय, आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, संस्करण : 1996, पृ. 08
10. लक्ष्मीनारायण दुबे, हिन्दी साहित्य में आर्यसमाज की अभिव्यक्ति, सत्येन्द्र प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : 1986, पृ. 09





सत्राची फाउंडेशन, पटना
शोध, शिक्षा एवं प्रकाशन की समाजसेवी संस्था

यह संस्था -

- साहित्यिक सम्मान देती है।
- शोध पत्रिकाएँ प्रकाशित करती है।
- पुस्तकें प्रकाशित करती है।
- सेमिनार आयोजित करती है।
- राजभाषा/राष्ट्रभाषा सेवियों को प्रोत्साहित करती है।
- शोधकर्ताओं को स्तरीय शोध के लिए प्रोत्साहित करती है।
- नेट/जेआर.एफ. के अभ्यर्थियों को निशुल्क मार्गदर्शन देती है।
- हिन्दी साहित्य के शिक्षार्थियों को प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करती है।